गीता - दर्शन

भगवान् श्री रजनीश के कुछ हिन्दी प्रवचन-संकलन

गीता-दर्शन गीता के अध्याय १ से १८ तक २२० प्रवचन/१२ खण्डों में
ताओ-उपनिषद् लाओत्से की ताओ-तेह-किंग पर १२७ प्रवचन/६ खण्डों में
महावीर-वाणी कुल ५४ प्रवचन/३ खण्डों में
जिन-सूत्र महावीर-वाणी पर ६२ प्रवचन/४ खण्डों में
एस धम्मो सनन्तनो धम्मपद पर १२३ प्रवचन/६ खण्डों में
महागीता अष्टावक्र-गीता पर ९१ प्रवचन/९ खण्डों में
भक्ति-सूत्र नारद-भक्ति-सूत्र पर २० प्रवचन/२ खण्डों में
एक ओंकार सतनाम नानक-वाणी (जपुजी) पर २१ प्रवचन
महावीर : मेरी दृष्टि में २७ प्रवचन
कृष्ण : मेरी दृष्टि में २० प्रवचन
दिया तले अंधेरा झेन और सूफी बोधकथाओं पर २१ प्रवचन
सहज समाधि भली कबीर-वाणी, झेन, सूफी व उपनिषद की कथाओं पर २१ प्रवचन
साधना-सूत्र मेबॅल कॉलिन्स की 'लाइट ऑन द पाथ' पर १७ प्रवचन
शिव-सूत्र १० प्रवचन
सुनो भाई साधो / गूंगे केरी सरकरा
कस्तूरी कुण्डल बसै / मेरा मुझमें कुछ नहीं } कबीर के पदों पर दस-दस प्रवचन
कहै कबीर दिवाना
पिव पिव लागी प्यास दादू-वाणी पर १० प्रवचन
सबै सयाने एक मत दादू-वाणी पर १० प्रवचन
अकथ कहानी प्रेम की फरीद-वाणी पर १० प्रवचन
बिन घन परत फुहार सहजोबाई के पदों पर १० प्रवचन
भज गोविन्दम् शंकराचार्य के पदों पर १० प्रवचन
जगत् तरैया भोर की दया-वाणी पर १० प्रवचन
कन थोरे कांकर घने मालूक-वाणी पर १० प्रवचन
तत्त्वमसि ५२० अमृत-पत्रों का संकलन
अध्यात्म उपनिषद् आबू-शिविर में १७ प्रवचन
बिन बाती बिन तेल १९ प्रवचन
नहिं राम बिन ठांव १६ प्रश्नोत्तर प्रवचन

भगवान् श्री रजनीश के
बारह प्रवचन

श्रीमद्भगवद्गीता
अध्याय—तीन : कर्मयोग

रजनीश फाउन्डेशन प्रकाशन, पूना
१९७७

प्रकाशक
मां योग लक्ष्मी
सचिव, रजनीश फाउन्डेशन
श्री रजनीश आश्रम, १७, कोरेगाँव पार्क, पूना–१, महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : गुरु पूर्णिमा, १ जुलाई, १९७७
प्रतियाँ : कुल तीन हजार

मूल्य
राज संस्करण : ५०.०० रुपये
सामान्य संस्करण : ३०.०० रुपये

मुद्रक
आर. मॉंटेरो
एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिन्टर्स,
५०५, आर्थर रोड, तारदेव
बम्बई–३४

गीता-दर्शन

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के तीसरे अध्याय 'कर्मयोग' पर
भगवान् श्री रजनीश द्वारा क्रॉस मैदान, बम्बई में
दिनांक २८ दिसम्बर, १९७० से ७ जनवरी, १९७१ तक
दिये गये बारह प्रवचनों का संकलन

संकलन
मां योग गीता

सम्पादन
स्वामी योग चिन्मय

सज्जा
स्वामी आनन्द अर्हत

आमुख

गीता मरेगी नहीं, क्योंकि हम किसी एक कृष्ण से बँधे नहीं हैं। हमारी धारणा में कृष्ण कोई व्यक्ति नहीं है--सतत आवर्तित होनेवाली चेतना की परम घटना है। इसलिए कृष्ण कह पाते हैं कि जब-जब होगा अँधेरा--होगी धर्म की ग्लानि, तब-तब मैं वापस आ जाऊँगा--संभवामि युगे युगे; हर युग में वापस आ जाऊँगा।

जब कृष्ण बार-बार लौटेंगे, तो हर बार नये होकर लौटेंगे। और हर बार कृष्ण अपनी नयी-नयी संभावनाओं में--उद्भावनाओं में गीता पर फिर से बोल देंगे। गीता फिर पुनरुज्जीवित हो जाएगी।

अगर बहुत कठिनाई न हो समझने में तो मैं कहना चाहूँगा कि कृष्ण ही बार-बार लौट कर अपनी गीता की पुनः पुनः व्याख्या करते रहे हैं; इसलिए गीता मर नहीं पायी है।

जो मैंने गीता पर इधर इन पाँच वर्षों में कहा है, उससे गीता अत्याधुनिक हो जाती है; बीसवीं सदी की घटना हो जाती है। अब पिछले पाँच हजार साल को हम भूल सकते हैं।

जो मैंने कहा है, उसमें गीता के पुराने पड़ते रूप को एकदम अत्याधुनिक कर दिया है। इन पाँच हजार सालों में जो भी घटा है, मनुष्य की चेतना ने जो नयी-नयी करवटें ली हैं--नयी-नयी विधाएँ खोजी हैं, मनुष्य की चेतना ने जो नये अनुभव किये हैं, उन सब को मैंने समाविष्ट कर दिया है।

अब गीता को नया खून मिल गया है।

विषय अनुक्रम

श्रीमद्भगवद्गीता

तीसरा अध्याय

कर्मयोग

(बारह प्रवचन)

प्रथम प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, दिनांक २८ दिसम्बर, १९७०
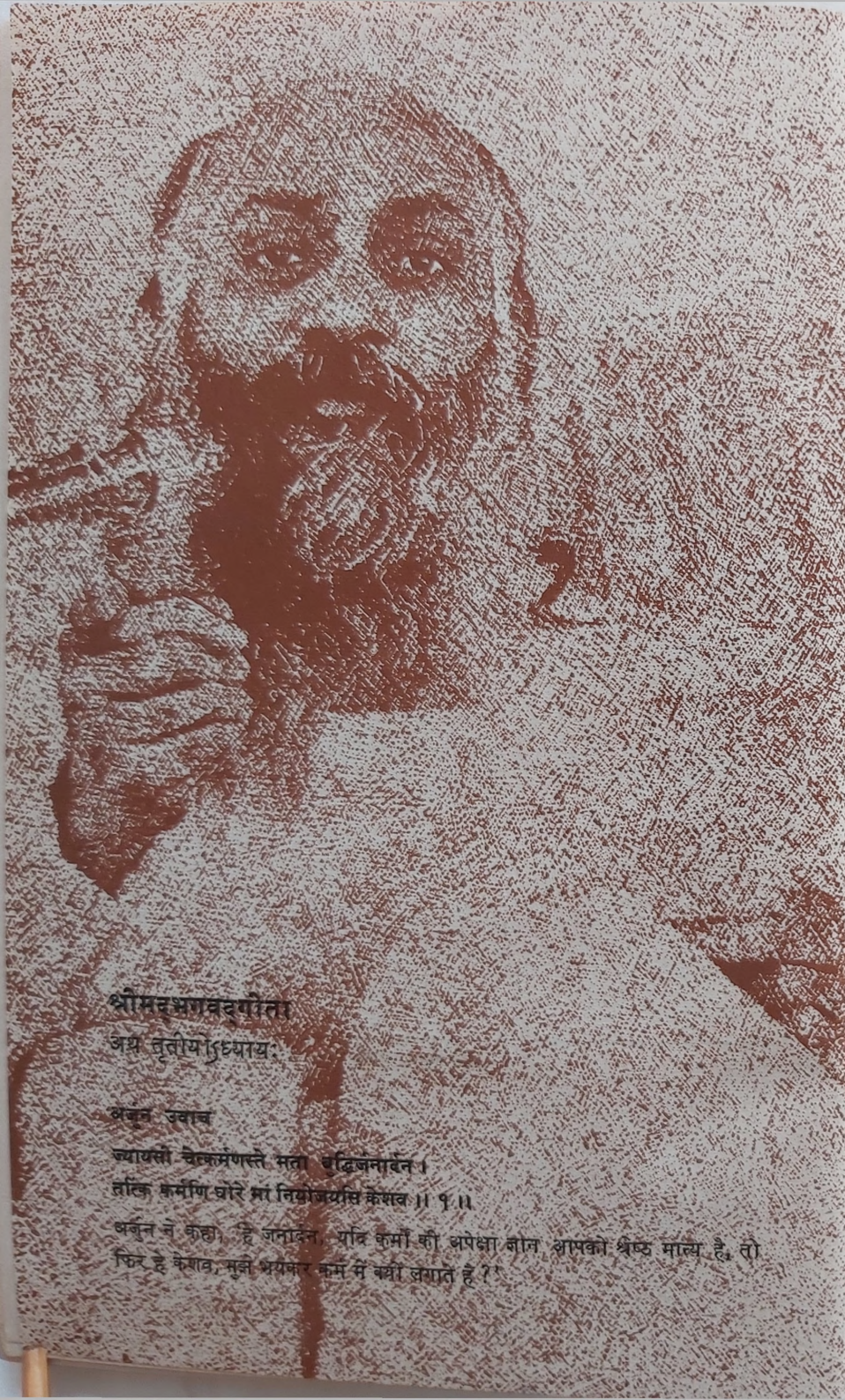
स्वधर्म की खोज

जीवन का सत्य कर्म से उपलब्ध है या ज्ञान से? यदि कर्म से उपलब्ध है, तो उसका अर्थ होगा कि वह हमें आज नहीं मिला हुआ है, श्रम करने से कल मिल सकता है। यदि कर्म से उपलब्ध होगा, तो उसका अर्थ है कि वह हमारा स्वभाव नहीं है, अर्जित वस्तु है। यदि कर्म से उपलब्ध होगा, तो उसका अर्थ है कि उसे विश्राम में खो देंगे; क्योंकि जिसे हम कर्म से पाते हैं, उसे निष्कर्म से खोया जा सकता है।

निश्चित ही जीवन का सत्य ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो कर्म करने से मिलेगा। जीवन का सत्य मिला ही हुआ है; उसे हमने कभी खोया नहीं है; उसे हम चाहें तो भी खो नहीं सकते हैं; हमारे प्राणों का प्राण वही है।

फिर हमने खोया क्या है? हमने सिर्फ उसकी स्मृति खोयी है, उसकी सुरति खोयी है। हमारे पास जो मौजूद है, उसे हम केवल जान नहीं पा रहे हैं। हमारी आँखें बंद हैं; रोशनी मौजूद है। हमारे द्वार बंद हैं; सूरज मौजूद है। सूरज को पाना नहीं है, द्वार खोलना है। सूरज मिला ही हुआ है।

कृष्ण ने अर्जुन को इस सूत्र के पहले सांख्य-योग की बात कही। कृष्ण ने कहा कि जो पाने जैसा है, वह मिला ही हुआ है। जो जानने जैसा है, वह निकट से भी निकट है। उसे हमने कभी खोया नहीं है। वह हमारा स्वरूप है। तो अर्जुन पूछ रहा है: 'यदि जो जानने योग्य है—जो पाने योग्य है, वह मिला ही हुआ है और यदि जीवन की मुक्ति और जीवन का आनन्द मात्र ज्ञान पर निर्भर है, तो मुझ गरीब को इस महाकर्म में क्यों धक्का दे रहे हैं!'

कृष्ण ने सांख्य की जो दृष्टि समझायी है, अर्जुन उस पर नया प्रश्न खड़ा कर रहा है। कुछ बातें सांख्य की दृष्टि को समझ लेने के लिये जरूरी हैं।

दुनिया में, सारे जगत् में मनुष्य जाति ने जितना चिंतन किया है, उसे दो धाराओं में बाँटा जा सकता है। सच तो यह है कि बस, दो ही प्रकार के चिंतन पृथ्वी पर हुए हैं, शेष सारे चिंतन कहीं न कहीं उन दो शृंखलाओं से बँध जाते हैं। एक चिंतन का नाम है—सांख्य; और दूसरे चिंतन का नाम है—योग। बस, दो ही सिस्टम (चिंतन-प्रणाली) थे सारे जगत् में। जिन्होंने सांख्य का और योग का नाम भी नहीं सुना है—चाहे अरस्तु, चाहे सुकरात, चाहे अब्राहीम, चाहे इजेकिअॅल, चाहे लाओत्से, चाहे कन्फ्यूसियस—जिन्हें सांख्य और योग के नाम का भी कोई पता नहीं है, वे भी इन दोनों में से किसी एक में ही खड़े होंगे। बस, दो ही तरह की निष्ठाएँ हो सकती हैं।

सांख्य की निष्ठा है कि सत्य सिर्फ ज्ञान से ही जाना जा सकता है; कुछ और करना जरूरी नहीं है—कृत्य की, कर्म की कोई भी आवश्यकता नहीं। प्रयास की, प्रयत्न की, श्रम की, साधना की कोई भी जरूरत नहीं। क्योंकि जो भी खोया है हमने, वह खोया नहीं, केवल स्मृति खो गयी है। इसलिये याद पर्याप्त है, रिमेम्बरिंग पर्याप्त है—करने का कोई भी सवाल नहीं।

योग की मान्यता है कि बिना किये कुछ भी नहीं हो सकेगा। साधन के बिना नहीं पहुँचा जा सकता है। क्योंकि योग का कहना है : अज्ञान को भी काटना पड़ेगा; उसके काटने में भी श्रम करना होगा।

अज्ञान कुछ ऐसा नहीं है—जैसा अँधेरा है—कि दिया जलाया और अज्ञान चला गया। अँधेरा कुछ ऐसा है, जैसे एक आदमी जंजीरों से बँधा पड़ा है। माना कि स्वतंत्रता उसका स्वभाव है, लेकिन जंजीरें काटे बिना स्वतंत्रता के स्मरण मात्र से वह मुक्त नहीं हो सकता है।

सांख्य मानता है : अज्ञान अँधेरे की भाँति है, जंजीरों की भाँति नहीं। इसलिये दिया जलाया कि अँधेरा गया। ज्ञान हुआ कि अज्ञान गया। योग कहता है : अज्ञान का भी अस्तित्व है, उसे भी काटना पड़ेगा।

दो तरह की निष्ठाएँ हैं जगत् में—सांख्य की और योग की।

कृष्ण ने दूसरे अध्याय में अर्जुन को सांख्य की निष्ठा के सम्बन्ध में बताया है। उन्होंने कहा है कि ज्ञान पर्याप्त है, ज्ञान परम है, अल्टिमेट है।

सॉक्रेटीज ने ठीक ऐसी ही बात यूनान में कही है। सॉक्रेटीज को हम पश्चिम में सांख्य का स्थापक कह सकते हैं। सॉक्रेटीज ने कहा है : 'ज्ञान ही चरित्र है।' कुछ और करना नहीं है, जान लेना काफी है। जो हम जान लेते हैं, उससे हम मुक्त हो जाते हैं।

कृष्णमूर्ति जो भी कहते हैं, वह सांख्य की निष्ठा है। वह निष्ठा यह है कि जानना काफी है। 'To know the false as false is enough.' गलत को गलत जान

लेना काफी है, फिर कुछ और करना नहीं पड़ेगा, वह तत्काल गिर जायगा।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समय-सार' में जो कहा है, वह सांख्य की निष्ठा है। ज्ञान अपने आप में पूर्ण है; किसी कर्म की कोई जरूरत नहीं है।

अर्जुन पूछता है कि 'यदि ऐसा है कि ज्ञान काफी है, तो मुझे इस भयंकर युद्ध के कर्म में उतरने के लिये आप क्यों कहते हैं! तो मैं जाऊँ, कर्म को छोड़ूँ और ज्ञान में लीन हो जाऊँ। यदि ज्ञान ही पाने जैसा है, तो फिर मुझे ज्ञान के मार्ग पर ही जाने दें।'

अर्जुन भागना चाहता है। और यह बात समझ लेना जरूरी है कि हम अपने प्रत्येक काम के लिये तर्क जुटा लेते हैं। अर्जुन को ज्ञान से कोई भी प्रयोजन नहीं। अर्जुन को सांख्य से कोई भी प्रयोजन नहीं है। अर्जुन को आत्मज्ञान की कोई जिज्ञासा अभी पैदा नहीं हो गयी है। बात इतनी ही है कि सामने जो युद्ध का विस्तार दिखायी पड़ रहा है, उससे अर्जुन भयभीत हो गया है, डर गया है। लेकिन वह यह स्वीकार करने को राजी नहीं कि मैं भय के कारण हटना चाहता हूँ।

हममें से कोई भी कभी स्वीकार नहीं करता कि हम भय के कारण हटते हैं। अगर हम भय के कारण भी हटते हैं, तो हम और कारण खोजकर रेशनॅलाइजेशन (बुद्धि-संगत-व्याख्या) कर लेते हैं। अगर हम भय के कारण भी भागते हैं, तो हम यह मानने को कभी राजी नहीं होते कि हम भय के कारण भाग रहे हैं; हम कुछ और कारण खोज लेते हैं।

अर्जुन कह रहा है कि 'यदि ज्ञान—बिना कर्म के मिलता है, तो मुझे कर्म में धक्का क्यों देते हो?' ज्ञान पाने के लिये अगर अर्जुन यह कहे, तो कृष्ण पहले आदमी होंगे, जो उससे राजी हो जाएँगे। लेकिन वह फॉल्स जस्टिफिकेशन, (झूठी तर्क-संगति) दे रहा है। अर्जुन एक झूठा तर्क खोज रहा है। गहरे में वह कह रहा है कि 'मुझे भागना है, मुझे निष्क्रिय होना है और आप कहते हैं कि ज्ञान ही काफी है, तो कृपा करके मुझे कर्म से भाग जाने दें।' उसका जोर कर्म से भागने में है। उसका जोर ज्ञान को पाने में नहीं है। यह फर्क समझ लेना एकदम जरूरी है, क्योंकि इससे ही कृष्ण जो आगे कहेंगे, उसे समझा जा सकता है।

अर्जुन का जोर इस बात पर नहीं है कि ज्ञान पा ले; अर्जुन का जोर इस बात पर है कि कर्म से कैसे बच जाय। अगर सांख्य कहता है कि कर्म बेकार है, तो अर्जुन कहता है कि सांख्य ठीक है—मुझे जाने दो। सांख्य ठीक है, इसलिए अर्जुन नहीं भागता है। अर्जुन को भागना है, इसलिए सांख्य ठीक मालूम पड़ता है। और इसे अपने मन में भी थोड़ा सोच लेना आवश्यक है।

हम भी जिंदगी भर यही करते हैं। जो हमें ठीक मालूम पड़ता है, वह ठीक होता है—इसलिए ठीक नहीं मालूम पड़ता है। सौ में से निन्यानबे मौके पर—जो हमें करना

है, हम उसे ठीक बता देते हैं। हमें हत्या करनी है, तो हम हत्या को भी ठीक बना लेते हैं। हमें चोरी करनी है, तो हम चोरी को भी ठीक बना लेते हैं। हमें बेईमानी करनी है, तो हम बेईमानी को भी ठीक बना लेते हैं। हमें जो करना है, वह पहले है और हमारे तर्क केवल हमारे करने के लिए सहारे बनते हैं।

फ्रायड ने भी इस सत्य को बहुत ही प्रगाढ़ रूप से स्पष्ट किया है। फ्रायड का कहना है कि आदमी में इच्छा पहले है और तर्क सदा पीछे; वासना पहले है, दर्शन पीछे। इसलिए वह जो करना चाहता है, उसके लिये तर्क खोज लेता है। अगर उसे शोषण करना है, तो वह उसके लिये तर्क खोज लेगा। अगर उसे स्वच्छंदता चाहिये, तो उसके लिये तर्क खोज लेगा। अगर अनैतिकता चाहिये, तो उसके लिये तर्क खोज लेगा।

आदमी की वासना पहले है और तर्क केवल वासना को मजबूत करने का सहारा है। स्वयं के लिये आदमी वासना को भी तर्क-युक्त सिद्ध करने का काम करता है। इसलिये फ्रायड ने कहा है कि आदमी रेशनल (बुद्धिसंगत) नहीं है। आदमी बुद्धिमान् है नहीं, सिर्फ दिखाई पड़ता है। आदमी उतना ही बुद्धिहीन है, जितने पशु—फर्क इतना ही है कि पशु अपनी बुद्धिहीनता के लिये किसी दर्शन (फिलॉसफी) का आवरण नहीं बनाते। पशु अपनी बुद्धिमानी को सिद्ध करने के लिये कोई प्रयास नहीं करते। वे अपनी बुद्धि-हीनता में जीते हैं और बुद्धिमानी का कोई तर्कयुक्त जाल खड़ा नहीं करते। आदमी ऐसा पशु है, जो अपनी पशुता के लिये परमात्मा तक का सहारा खोजने की कोशिश करता है।

अर्जुन यही कहता है। लेकिन कृष्ण की आँख से बचना मुश्किल है। अन्यथा अगर सांख्य की दृष्टि अर्जुन की समझ में आ जाय—कि ज्ञान ही काफी है—तो अर्जुन कृष्ण से एक भी सवाल नहीं पूछेगा। बात खत्म हो गयी; वह उठेगा, नमस्कार करेगा और कहेगा कि जाता हूँ।

झेन फकीरों की मॉनेस्ट्री में, आश्रम में एक छोटा-सा नियम है। जापान में जब भी कोई साधक किसी गुरु के पास ज्ञान सीखने आता है, तो गुरु उसे बैठने के लिये चटाई दे देता है और कहता है कि जिस दिन बात तुम्हारी समझ में आ जाय, उस दिन चटाई को गोल करके दरवाजे से बाहर निकल जाना। तो मैं समझ जाऊँगा कि बात समाप्त हो गयी। और जब तक समझ में न आये, तब तक तुम बाहर तो जाना, पर चटाई तुम्हारी यहीं पड़ी रहने देना। रोज लौट आना; उसी चटाई पर बैठना; पूछना, खोजना। जिस दिन तुम्हें लगे कि बात पूरी हो गयी, उस दिन धन्यवाद भी मत देना। क्योंकि जब ज्ञान हो जाता है, तब कौन किसको धन्यवाद दे! कौन गुरु, कौन शिष्य? और जिस दिन ज्ञान हो जाता है, उस दिन कौन कहे कि मुझे ज्ञान हो गया है, क्योंकि मैं भी तो नहीं बचता है। तो तुम अपनी चटाई गोल करके चले जाना, तो मैं समझूंगा कि बात

पूरी हो गयी।

अगर अर्जुन को सांख्य समझ में आ गया है, तो वह चटाई गोल करेगा और चला जायेगा। उसकी समझ में कुछ आया नहीं है। हाँ, उसे एक बात समझ आयी कि मैं जो ऐस्केप, पलायन करना चाहता हूँ, कृष्ण से ही उसकी दलील मिल रही है।

कृष्ण कहते हैं: ज्ञान ही काफी है। यह सांख्य की निष्ठा है। और सांख्य की निष्ठा परम निष्ठा है। मनुष्य जो श्रेष्ठतम सोच सका है आज तक, वह सांख्य के सार सूत्र हैं। क्योंकि ज्ञान अगर सच में ही घटित हो जाय, तो जिंदगी में कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता; फिर कुछ भी ज्ञान के प्रतिकूल करना असम्भव है। लेकिन तब अर्जुन को पूछने की जरूरत न रहती; बात समाप्त हो जाती। लेकिन वह पूछता है: 'हे कृष्ण, आप कहते हैं कि ज्ञान ही परम है, तो फिर मुझे इस युद्ध की झंझट में, इस कर्म में क्यों डालते हैं?' अगर उसे ज्ञान ही हो जाय, तो युद्ध झंझट न हो।

ज्ञानवान् को जगत् में कोई भी झंझट नहीं रह जाती। इसका यह मतलब नहीं है कि झंझटें समाप्त हो जाती हैं; इसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि ज्ञानवान् को झंझट—झंझट नहीं, खेल मालूम पड़ने लगती है। अगर उसे ज्ञान हो जाय, तो वह यह न कहेगा कि 'इस भयंकर कर्म में मुझे क्यों डालते हो?' क्योंकि जिसे अभी कर्म भयंकर दिखाई पड़ रहा है, उसे ज्ञान नहीं हुआ। क्योंकि ज्ञान हो जाय तो कर्म लीला हो जाता है। ज्ञान हो जाय तो कर्म अभिनय, एक्टिंग हो जाता है। वह नहीं हुआ है। इसलिए कृष्ण को गीता आगे जारी रखनी पड़ेगी।

सच तो यह है कि कृष्ण ने जो श्रेष्ठतम है, वह अर्जुन से पहले कहा। इससे बड़ी भ्रांति पैदा हुई है। सबसे पहले कृष्ण ने सांख्य की निष्ठा की बात कही; वह श्रेष्ठतम है। साधारणतया कोई दूसरा आदमी होता तो अंत में कहता; दुकानदार अगर कोई होता, कृष्ण की जगह, तो जो श्रेष्ठतम है उसके पास, उसे अंत में दिखाता। निकृष्ट को बेचने की पहले कोशिश चलती; अंत में जब निकृष्ट खरीदने को ग्राहक राजी न होता, तो वह श्रेष्ठतम दिखाता।

कृष्ण कोई दुकानदार नहीं हैं, वे कुछ बेच नहीं रहे हैं। वे श्रेष्ठतम अर्जुन से पहले कह देते हैं कि 'सांख्य की निष्ठा श्रेष्ठतम है, वह मैं तुझे कहे देता हूँ।' अगर उससे बात पूरी हो जाय, तो उसके ऊपर फिर कुछ बात करने को नहीं बचती है।

दूसरे अध्याय पर गीता खत्म हो सकती थी, अगर अर्जुन पात्र होता। लेकिन अर्जुन पात्र सिद्ध नहीं हुआ। कृष्ण को श्रेष्ठ से एक कदम नीचे उतर कर बात शुरू करनी पड़ी। अगर श्रेष्ठतम समझ में न आये, तो फिर श्रेष्ठ से नीचे समझाने की वे कोशिश करते। अर्जुन का सवाल बता देता है कि सांख्य उसकी समझ में नहीं पड़ा। क्योंकि सांख्य समझने के बाद प्रश्न गिर जाते हैं। इसे भी खयाल में ले लें।

आमतौर से हम सोचते हैं कि समझदार को सब उत्तर मिल जाते हैं; गलत है यह बात। समझदार को उत्तर नहीं मिलते, समझदार के प्रश्न गिर जाते हैं। समझदार के पास प्रश्न नहीं बचते। असल में समझदार के पास पूछनेवाला ही नहीं बचता है। असल में समझ में कोई प्रश्न ही नहीं है। ज्ञान निष्प्रश्न है, क्योंकि ज्ञान में कोई प्रश्न उठता नहीं। ज्ञान—मौन और शून्य है। वहाँ कोई प्रश्न बनता नहीं। ऐसा नहीं कि ज्ञान में सब उत्तर हैं, बल्कि ऐसा कि ज्ञान में कोई प्रश्न नहीं है। ज्ञान प्रश्न-शून्य है।

अगर सांख्य समझ में आता, तो अर्जुन के प्रश्न गिर जाते। लेकिन, वह अपनी जगह फिर खड़ा हो गया है। अब वह सांख्य को ही आधार बनाकर प्रश्न पूछता है। अब ऐसा दिखाने की कोशिश करता है कि 'सांख्य मेरी समझ में आ गया है, तो मैं अब आपसे कहता हूँ कृष्ण, कि मुझे इस भयंकर युद्ध और कर्म में मत डालो।' लेकिन उसका भय अपनी जगह खड़ा है। युद्ध से भागने की वृत्ति अपनी जगह खड़ी है। पलायन अपनी जगह खड़ा है। जीवन को गंभीरता से लेने की वृत्ति अपनी जगह खड़ी है। सांख्य कहेगा कि जीवन को गम्भीरता से लेना व्यर्थ है; क्योंकि जो कहेगा कि ज्ञान ही सब कुछ है, उसके लिये कर्म गम्भीर नहीं रह जाते। कर्म खेल हो जाते हैं—बच्चों के। हम सब जो कर्म में लीन हैं—जो कर्म में रस से भरे हैं या विरस से भरे हैं—कर्म में भाग रहे हैं, या कर्म से भाग रहे हैं—सांख्य की दृष्टि में हम छोटे बच्चों की तरह हैं, जो नदी के किनारे रेत के मकान बना रहे हैं—बड़े कर्म में लीन हैं। और अगर हमारे रेत के मकान को धक्का लग जाता है, तो बड़े दुःखी और बड़े पीड़ित होते हैं।

सांख्य कहता है कि कर्म स्वप्न से ज्यादा नहीं है। अगर यह समझ में आ जाय, तो कृष्ण के सामने और प्रश्न उठाने की अर्जुन को कोई जरूरत नहीं है। यह समझ में नहीं आया है। फिर भी ना-समझी भी समझदारी के प्रश्न खड़े कर सकती है। अर्जुन वैसा ही प्रश्न खड़ा कर रहा है।

●प्रश्न : भगवान् श्री, सांख्य तो समझ में थोड़ा आया है, लेकिन अनुभूति में नहीं आया है, इसलिये प्रश्न तो उठते ही हैं। अतः कृपया स्पष्ट करें कि ज्ञान-निष्ठा अर्थात् सांख्य, और कर्म-निष्ठा अर्थात् योग क्या अपने में पूर्ण नहीं हैं? अथवा क्या वे एक दूसरे के पूरक हैं? और उनमें विरोध दिखायी पड़ने का क्या कारण है?

सांख्य और योग में विरोध नहीं है; लेकिन सांख्य की दिशा जिस व्यक्ति के लिये अनुकूल है, उसके लिये योग की दिशा प्रतिकूल है। जिसे योग की दिशा अनुकूल है, उसे सांख्य की दिशा प्रतिकूल है। सांख्य और योग में विरोध नहीं है, लेकिन इस जगत् में व्यक्ति दो प्रकार के हैं, व्यक्तियों का टाइप दो प्रकार का है। और इसलिए किसी के लिए सांख्य बिलकुल गलत हो सकता है और किसी के लिए योग बिलकुल सही हो सकता है। और किसी के लिए योग बिलकुल गलत हो सकता है, सांख्य बिलकुल सही हो सकता है। दो तरह के व्यक्ति हैं जगत् में।

कार्ल गुस्ताव जुंग ने व्यक्तियों के दो मोटे विभाजन किये हैं। एक को वह कहता है—एक्स्ट्रोवर्ट, दूसरे को—इन्ट्रोवर्ट। एक—वे जो बहिर्मुखी हैं, एक—वे जो अंतर्मुखी हैं। जो व्यक्ति अंतर्मुखी हैं, उनके लिए योग जरा भी काम का नहीं है। जो व्यक्ति अंतर्मुखी हैं, उनके लिये सांख्य पर्याप्त है। पर्याप्त से ज्यादा है। जो व्यक्ति बहिर्मुखी हैं, सांख्य उनकी पकड़ में ही नहीं आयेगा, कर्म ही उनकी पकड़ में आयेगा। क्योंकि, ध्यान रहे, कर्म के लिए बाहर जाना जरूरी है और ज्ञान के लिए भीतर जाना जरूरी है। कर्म अगर कोई भीतर करना चाहे, तो नहीं कर सकता। आप भीतर कर्म कर सकते हैं? कर्म के लिए बहिर्मुख होना जरूरी है; कर्म के लिए अपने से बाहर निकलना पड़ेगा, तो ही कर्म हो सकता है। इसलिए जितना कर्मठ व्यक्ति होगा, उतना अपने से बाहर चला जाता है; चाँद-तारों पर चला जाता है; भीतर नहीं आ सकता है।

योग बहिर्मुखी व्यक्ति के लिये मार्ग है; सांख्य अंतर्मुखी व्यक्ति के लिये मार्ग है। और दो तरह के व्यक्ति हैं। इन दो तरह के व्यक्तियों में विरोध है; सांख्य और योग में विरोध नहीं है। इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है, क्योंकि अकसर व्यक्तियों का विरोध, शास्त्रों का विरोध मालूम पड़ने लगता है; वास्तव में विरोध है नहीं। अब महावीर, बुद्ध, शंकर या नागार्जुन—इनमें जो भी विरोध हमें मालूम पड़ते हैं, वे इन व्यक्तियों के विरोध हैं; जिस सत्य, जिस अनुभूति, जिस अलौकिक जगत् की वे बात कर रहे हैं, वहाँ कोई विरोध नहीं है। लेकिन जिस मार्ग से वे पहुँचे हैं, वहाँ भिन्नता है। भिन्नता ही नहीं, विरोध भी है।

अब जैसे एक बहिर्मुखी व्यक्ति है, तो उसके लिए धर्म सेवा बनेगी—अंतर्मुखी व्यक्ति है, उसके लिये धर्म ध्यान बनेगा। अंतर्मुखी व्यक्ति के लिए सेवा की बात एकदम से समझ में नहीं आयेगी। बहिर्मुखी व्यक्ति के लिए ध्यान की बात एकदम से समझ में नहीं आयेगी—कि भीतर डूबकर क्या होगा? जो भी है करने का, बाहर है। जो भी होने की संभावना है, बाहर है।

ये दो तरह के व्यक्ति हैं, मोटे हिसाब से। आमतौर से कोई भी व्यक्ति एकदम एक्स्ट्रोवर्ट (बहिर्मुखी) और एकदम इन्ट्रोवर्ट (अंतर्मुखी) नहीं होता। ये मोटे विभाजन हैं। हम सब मिश्रण होते हैं—कुछ अंतर्मुखी, कुछ बहिर्मुखी। मात्राओं के फर्क होते हैं। कभी होता है कि कोई व्यक्ति नब्बे प्रतिशत बहिर्मुखी और दस प्रतिशत अंतर्मुखी हो।

आमतौर से व्यक्ति मिश्रित होते हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि व्यक्ति शुद्ध रूप से अंतर्मुखी हो। क्योंकि, शुद्ध रूप से अंतर्मुखी व्यक्ति एक क्षण भर भी जी नहीं सकता। भोजन करेगा तो बाहर जाना पड़ेगा; स्नान करेगा तो बाहर जाना पड़ेगा। अंतर्मुखी व्यक्ति अगर सौ प्रतिशत हो तो तत्काल मृत्यु घटित हो जायेगी। बहिर्मुखी व्यक्ति भी

अगर सौ प्रतिशत हो तो तत्काल मृत्यु हो जायेगी; क्योंकि निद्रा भी चाहिये, जिसमें भीतर जाना पड़ेगा। विश्राम भी चाहिये, जिसमें अपने में डूबना पड़ेगा। काम से छूटे तो अवकाश भी चाहिये। मित्रों, प्रियजनों से बचाव भी चाहिये, अन्यथा उसका अपने अंतर जीवन के स्रोतों से सम्बंध टूट जायेगा, और वह समाप्त हो जायेगा। इसलिये यह जो विभाजन है, सैद्धांतिक है। व्यक्ति व्यक्ति में मात्राओं के फर्क हैं। कोई व्यक्ति नब्बे प्रतिशत बहिर्मुखी हो सकता है, दस प्रतिशत अंतर्मुखी हो सकता है।

अर्जुन एक्स्ट्रोवर्ट (बहिर्मुखी) व्यक्ति है। इसलिये सांख्य की बात उसकी समझ में पड़नी असम्भव है; या इतनी थोड़ी-सी समझ पड़ सकती है कि उससे वह नये सवाल उठा सकता है। लेकिन उससे उसके जीवन का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि अर्जुन बहिर्मुखी है। अर्जुन का सारा जीवन क्षत्रिय के शिक्षण का जीवन है। सारा जीवन कुछ करने में—और करने में कुशलता पाने में बीता है। सारा जीवन दूसरे को ध्यान में रखकर बीता है—प्रतियोगिता में, प्रतिस्पर्धा में, संघर्ष में, युद्ध में। अंतर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) आदमी क्षत्रिय नहीं हो सकता है। और अगर अंतर्मुखी आदमी क्षत्रिय के घर में भी पैदा हो जाय, तो भी क्षत्रिय नहीं रह सकता।

जैनियों के चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय के घर में पैदा हुए, लेकिन क्षत्रिय नहीं रह सके। वे सब अंतर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) हैं। महावीर अंतर्मुखी व्यक्ति हैं। बाहर के जगत् में उन्हें कोई अर्थ मालूम नहीं होता है। बुद्ध क्षत्रिय घर में पैदा हुए, लेकिन क्षत्रिय नहीं रह सके। बाहर का वह विस्तार, कर्मों का सारा जाल, उन्हें बेमानी मालूम पड़ा, इसलिए छोड़कर हट गये।

अगर ब्राह्मण के घर में भी बहिर्मुखी व्यक्ति पैदा हो जाय—जैसे परशुराम आदि—तो ब्राह्मण नहीं रह सकता, क्षत्रिय हो जायेगा। क्षत्रिय अनिवार्यरूपेण बहिर्मुखी होता है। अगर क्षत्रिय होने में उसे सफल होना है, तो यह अर्जुन के लिये बहुत सरल है। कहना चाहिये कि अर्जुन क्षत्रिय होने का आदर्श है। क्षत्रिय जैसा हो सकता है, वैसा उसका व्यक्तित्व है। कृष्ण ने इसलिये उसे सांख्य की निष्ठा कही सबसे पहले, क्योंकि अर्जुन बातें ब्राह्मणों जैसी कर रहा है।

अर्जुन आदमी क्षत्रिय जैसा है और सवाल ब्राह्मणों जैसे उठा रहा है। युद्ध के मैदान पर खड़ा है, लेकिन प्रश्न जो पूछ रहा है, वे गुरुकुलों में पूछने जैसे हैं। जो प्रश्न वह पूछा रहा है, वे किसी बुद्ध से, किसी बोधि-वृक्ष के नीचे बैठकर, वन के एकांत में पूछने जैसे हैं। लेकिन वह प्रश्न पूछ रहा है युद्ध के समारम्भ में, शुरुआत में, जब कि शंखनाद हो चुका है और योद्धा आमने-सामने आ गये हैं और अब जब कि घड़ी भर की देर नहीं कि लहू की धारें बह जायेंगी—ऐसे क्षण में वह जिज्ञासाएँ जो कर रहा है, वे ब्राह्मण जैसी हैं।

कृष्ण ने बड़ी ही अन्तर्दृष्टि का प्रमाण दिया है; क्योंकि अर्जुन बात ब्राह्मणों जैसी कर

रहा है। इसलिये ब्राह्मणों की जो चरम उत्कर्ष की संभावना है—'सांख्य'—कृष्ण ने सबसे पहले वही कह दी। उन्होंने कहा कि 'अगर तू सच में ही ब्राह्मण की स्थिति में आ गया है, तो सांख्य की बात पर्याप्त होगी, ज्ञान पर्याप्त होगा।' लेकिन, उससे कुछ हल नहीं हुआ। अर्जुन वहीं का वहीं रहा, जैसे उल्टे घड़े पर पानी गिरा और बह गया।

दूसरा अध्याय व्यर्थ गया है अर्जुन पर। अर्जुन पर अगर वह सार्थक हो जाता, तो गीता वहीं बंद हो जाती, तब आगे गीता के चलने का उपाय न रहता।

अब कृष्ण को एक-एक कदम नीचे उतरना पड़ेगा। वे एक-एक कदम नीचे उतरकर अर्जुन से बात करेंगे। शायद एक सीढ़ी नीचे की बात अर्जुन की समझ में आ जाये। इतना तय हो गया कि ब्राह्मण वह नहीं है। वह उसका स्व-धर्म नहीं, वह उसका व्यक्तित्व नहीं। सांख्य बेकार गया—सांख्य बेकार है, इसलिये नहीं। अर्जुन पर बेकार गया, क्योंकि अर्जुन के लिये बेकार है। लेकिन, सांख्य कृष्ण के लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था, इसलिये सबसे पहले सांख्य की बात कर ली।

●प्रश्न : भगवान् श्री, एक छोटा-सा प्रश्न है : आपने अभी-अभी कहा कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ अंतर्मुखी है और कुछ बहिर्मुखी। इसका अर्थ क्या यह है कि व्यक्ति को सांख्य और योग दोनों की साधना साथ-साथ करनी पड़ेगी ?

नहीं; दोनों की साधना साथ-साथ नहीं की जा सकती। दो रास्तों पर कभी भी साथ नहीं चला जा सकता है। और जो दो रास्तों पर एक साथ चलेगा, वह कहीं भी नहीं पहुँचेगा। वह चल ही नहीं सकेगा। दो नावों पर एक साथ सवार नहीं हुआ जा सकता है। और जो दो नावों पर एक साथ सवार होगा, वह सिर्फ डूबेगा; वह कहीं पहुँच नहीं सकता है। जब मैंने कहा कि व्यक्ति में मात्राएँ हैं, तो जिस व्यक्ति में जिस तत्त्व की ज्यादा मात्रा है, उसे उसी मार्ग पर जाना होगा। मार्ग तो एक ही चुनना होगा। अगर वह बहिर्मुखी है अधिक मात्रा में, तो योग मार्ग है; अगर अंतर्मुखी है अधिक मात्रा में, तो सांख्य मार्ग है। मार्ग तो चुनना ही होगा। दोनों पर नहीं चला जा सकता।

इसलिये एक बात और आपसे कह दूँ। जो व्यक्ति जिस मार्ग से पहुँचेगा, वह बलपूर्वक कहेगा कि मेरा ही मार्ग ठीक है। उसके कहने में कोई गलती नहीं है। वह पहुँचा है उस मार्ग से और वह बलपूर्वक यह भी कहेगा कि दूसरे का मार्ग ठीक नहीं है—जानते हुए भी कि दूसरे का मार्ग भी ठीक है। पर ऐसा क्यों कहेगा ? क्योंकि अगर वह ऐसा कहे कि वह मार्ग भी ठीक है, यह मार्ग भी ठीक है, तो जिन लोगों को मार्ग पर चलना है, उनके लिये चुनाव कठिन होता चला जाता है। इसलिये दुनिया में जब से इक्लेक्टिक रिलीजन (विभिन्न दर्शनग्राही धर्म) पैदा हो गया, जैसे थियोसॉफी, जिसने कहा कि सब मार्ग ठीक है, तो उस मार्ग पर कोई आदमी कभी नहीं चला। लोगों ने किताब पढ़ ली कि सब मार्ग ठीक है, तो चुनाव मुश्किल हो गया। जब से दुनिया में कुछ ऐसे लोगों ने

बात कहनी शुरू की कि सभी मार्ग ठीक हैं, तब से करीब-करीब मतलब यह हुआ कि सभी कुछ बेकार है, कुछ भी ठीक नहीं। यह अंततः मतलब हुआ।

जब हम यह कहने लगते हैं कि सभी ठीक है, तो करीब-करीब बात ऐसी हो जाती है कि गलत कुछ भी नहीं है। और अंततः मनुष्य के मन पर जो परिणाम होता है, वह यह होता है कि सभी गलत है। इसलिये सांख्य अनिवार्य रूप से कहेगा कि गलत है कर्म की बात; ज्ञान ही सही है। और मैं मानता हूँ कि इसमें करुणा है, इसमें डॉगमेटिज्म (मताग्रह) नहीं है। इस बात को ठीक से समझ लेना है। इसमें कोई रूढ़िवाद नहीं है; इसमें सिर्फ करुणा है। क्योंकि वह जो विराट् मनुष्य जाति है, उसे चुनाव करना है। एक-एक आदमी को डिसीजन (निर्णय) लेना है--कहाँ चलें? अगर सभी ठीक है तो आदमी अनिश्चयात्मक (इनडिसीसिव) हो जाता है। वह अनिश्चय में पड़ जाता है, वह सिर्फ खड़ा रह जाता है।

अगर चौराहे पर आप किसी से पूछें कि कौन-सा रास्ता नदी पहुँचता है, और कोई कहे कि सभी रास्ते नदी में पहुँचते हैं, तो बहुत संभावना यही है कि आप चौराहे पर खड़े रह जायँ और दूसरे आदमी की प्रतीक्षा करें, जो एक रास्ता बता सकता हो।

सांख्य कहेगा : ठीक है--ज्ञान। योग कहेगा : ठीक है--साधना, कर्म, श्रम। उनके कहने में करुणा है। व्यक्तियों के सामने--जिनसे यह बात कही जा रही है--स्पष्ट चुनाव चाहिये।

लेकिन एक बात समझ लेनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने को तौलकर मार्ग चुनना है। इसलिए गीता एक अर्थ में अद्भुत ग्रंथ है। न कुरान इस अर्थ में अद्भुत है, न बाइबिल इस अर्थ में अद्भुत है, न महावीर के वचन, न बुद्ध के वचन इस अर्थ में अद्भुत हैं। किसी और अर्थ में वे सारी चीजें अद्भुत हैं। लेकिन गीता एक विशेष अर्थ में अद्भुत है कि उसमें सब तरह के व्यक्तियों के मार्गों की चर्चा हो गयी है। उसमें सब तरह की संभावनाओं पर चर्चा हो गयी है, क्योंकि अर्जुन से कृष्ण ने सभी तरह की संभावनाओं की बात की। एक-एक संभावना बेकार होती चली गयी और वे दूसरी संभावना की बात करते चले गये। ऐसे अर्जुन के बहाने कृष्ण ने प्रत्येक मनुष्य के लिये संभावनाओं का द्वार खोल दिया है। लेकिन, उससे उलझन भी पैदा हुई।

उलझन यह पैदा हुई कि कृष्ण जब सांख्य की बात कहते हैं, तो वे कहते हैं कि सांख्य परम है। तब वे ऐसे बोलते हैं, जैसे वे स्वयं सांख्य हैं। बोलना ही पड़ेगा। जब वे योग की बात कहते हैं, तो लगता है: योग परम है। जब वे भक्ति की बात कहते हैं, तो लगता है--भक्ति परम है। इससे एक उपद्रव जरूर हुआ; वह उपद्रव यह हुआ कि भक्तों ने पूरी गीता में से भक्ति निकाल डाली। भक्तों ने पूरी गीता पर भक्ति को थोप देने की कोशिश की। रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, सबकी टीकाएँ, पूरी गीता पर भक्ति

को थोप देती हैं। शंकर जैसे ज्ञानियों ने ज्ञान निकाल लिया और पूरी गीता पर ज्ञान थोपने की कोशिश की। तिलक जैसे कर्मियों ने कर्म निकाल लिया और पूरी गीता पर कर्म को थोपने की कोशिश की। लेकिन कोई भी इस सत्य को ठीक से नहीं समझ पाया कि गीता समस्त मार्गों का विचार है। और जब एक मार्ग की कृष्ण बात करते हैं, तो उस मार्ग में वे इतने लीन और एक हो जाते हैं कि वे कहते हैं--यही परम है। जब अर्जुन पर वह व्यर्थ हो जाता है, तब वे दूसरे मार्ग की बात करते हैं। तब वे अर्जुन से फिर कहते हैं--यही परम है (दिस इज दि अल्टिमेट), यही सत्य है, पूर्ण है। क्योंकि वे फिर चाहते हैं कि अर्जुन इसे सुन ले और अर्जुन वैसे ही अनिश्चयमना है।

अगर कृष्ण भी अपवाद में बोलें कि शायद यह ठीक है, शायद यह ठीक है, तो अर्जुन का चुनाव असंभव है। अगर कृष्ण कहें कि वह ठीक है, यह भी ठीक है--किसी के लिये वह ठीक है, किसी के लिये यह ठीक है! कभी वह ठीक है, कभी यह ठीक है, तो अर्जुन जो 'इन-डिसीजन' में पड़ा है, जो अनिर्णय में, चिंता में है, जिसे मार्ग नहीं सूझता, उसके लिये कृष्ण मार्ग नहीं बना सकेंगे, मार्ग नहीं दे सकेंगे। इसलिये कृष्ण जब कहते हैं कि यही परम है, तो वे अर्जुन की आँख में झाँक रहे हैं और देख रहे हैं कि शायद उसे यह ठीक पड़ जाय; उसके लिये यही परम हो जाय।

इसलिये गीता विशिष्ट है, इस अर्थ में कि अब तक सत्य तक पहुँचने के जितने द्वार हैं, कृष्ण ने उन सबकी बात की है। लेकिन, वह सिन्थेटिक (समन्वयात्मक) नहीं है, वह बात गांधीजी जैसी नहीं है। वह बात ऐसी नहीं है कि 'वह भी ठीक है, यह भी ठीक है।' कृष्ण कहते हैं कि जो मार्ग किसी के लिये ठीक है, वह उसके लिये परम रूप से ठीक है, बाकी उसके लिये सभी गलत है। दूसरा मार्ग किसी के लिये ठीक है, तो वह उसके लिये परिपूर्ण रूप से ठीक है। एब्सोल्यूट--निरपेक्ष ठीक है और उसके लिये बाकी सब है।

गीता बड़ी हिम्मतवर किताब है। और इतनी हिम्मत के लोग कम होते हैं, जो अपनी ही बात को जिसे उन्होंने दो क्षण पहले कहा है, दो क्षण बाद कह सकें कि वह बिलकुल गलत है। और फिर जो कह रहे हैं, वही एकमात्र सत्य है। और दो क्षण बाद इसको भी कह सकें कि बिलकुल गलत है और अब जो मैं कह रहा हूँ वही बिलकुल ठीक है। इतना असंगत होने का साहस केवल वही लोग कर सकते हैं, जो भीतरी रूप से परम संगति को उपलब्ध हो गये हैं और अन्य लोग नहीं कर सकते।

बार-बार खयाल में आयेगा आपको कि कृष्ण जब भी, जो भी कुछ कहते हैं--एब्सोल्यूट, निरपेक्ष कहते हैं; जो कुछ कहते हैं, उसे पूर्णता से कहते हैं। खयाल ही है कि इतनी पूर्णता में ही वह अर्जुन के लिये चुनाव बन सकता है अन्यथा चुनाव नहीं बन सकता है। इसलिये दुनिया में जब से बहुत कम हिम्मत के दयालु लोग पैदा हो गये हैं--जो कहते हैं: 'यह भी ठीक है, वह भी ठीक है; सब ठीक है' और सबकी खिचड़ी बनाने में लगे

हुए हैं—तब से उन्होंने न हिन्दू को ठीक से हिन्दू रहने दिया, न मुसलमान को ठीक से मुसलमान रहने दिया; न अल्लाह के पुकारने में ताकत रह गयी, न राम को बुलाने में हिम्मत रह गयी। 'अल्ला ईश्वर तेरे नाम' बिलकुल इम्पोटेंट (नपुंसक) हो जाता है, बिलकुल मर जाता है; उसमें कोई ताकत नहीं रह जाती।

तो एक व्यक्ति के लिये उसका निर्णय सदा परम होता है। वह निर्णय उसी तरह का है कि मैं किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाऊँ, तो उस प्रेम के क्षण में मैं उससे कहता हूँ कि 'तुझसे ज्यादा सुंदर और कोई भी नहीं है।' और ऐसा नहीं कि मैं उसे धोखा दे रहा हूँ। ऐसा मुझे उस क्षण में दिखायी ही पड़ रहा है। ऐसा भी है कि कल मैं बदल जाऊँ, तो आप कहें कि 'आज आप बदल गये! तो उस दिन आपने धोखा तो नहीं दिया?' उस क्षण में मैंने ऐसा ही जाना और वह मेरे पूरे प्राणों से निकाला था कि 'तुमसे ज्यादा सुंदर और कोई नहीं।' उस क्षण के लिए मेरे पूरे प्राणों की पुकार वही थी।

कृष्ण जैसे लोग क्षणजीवी होते हैं—(लिविंग मोमेंट टु मोमेंट)। जब वे सांख्य की बात कहते हैं, तब वे सांख्य के साथ इस तरह प्रेम में पड़ जाते हैं कि वे कहते हैं: 'सांख्य परम है। अर्जुन! सांख्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।' और जब वे भक्ति के प्रेम में पड़ जाते हैं, क्षण भर के बाद, तो वे कहते हैं: 'हे अर्जुन! भक्ति ही मार्ग है; उसके अतिरिक्त कोई भी मार्ग नहीं है।' इसे ध्यान में रखना पड़ेगा। इसमें कोई तुलनात्मक, कोई कम्पेरेटिव बात नहीं है।

जब कृष्ण कहते हैं: सांख्य परम है या जब मैं कहता हूँ किसी स्त्री से कि तुझसे सुंदर और कोई भी नहीं है, तब मैं दुनिया की स्त्रियों से उसकी तुलना नहीं कर रहा हूँ। असल में मेरे लिये वह अतुलनीय हो गयी है; इसलिये दुनिया में कोई स्त्री उसके मुकाबले नहीं है। कोई तुलना (कम्पेयर) नहीं कर रहा हूँ; सारी तस्वीरें रखकर जाँच नहीं कर रहा हूँ कि ऐसी सुंदर कोई स्त्री है या नहीं। न मैंने सारी दुनिया की स्त्रियाँ देखी हैं, न जानने का सवाल है। इस क्षण में मेरे पूरे प्राणों की आवाज यह है कि 'तुझसे सुंदर और कोई भी नहीं है।' वह सिर्फ मैं यह कह रहा हूँ कि 'मैं तुझे प्रेम कर रहा हूँ।' और जहाँ प्रेम है, वहाँ परम, एब्सोल्यूट प्रकट होता है।

कृष्ण जब सांख्य की बात करते हैं, तो सांख्य के साथ उसी तरह प्रेम में हैं, जैसे कोई प्रेमी। और अगर इतने प्रेम में न होते तो गीता में इतने प्राण नहीं हो सकते थे, तब किताब 'भगवत् गीता' नहीं कही जा सकती थी। तब वह भगवान् का वचन नहीं कहीं जा सकती थी। भगवान् का वचन वह इसीलिये कही जा सकी—वह इसीलिये गीत गोविंद बन गयी—सिर्फ इसीलिये कि प्रतिपल कृष्ण ने जो भी कहा, उसके साथ वे इतने एक हो गये कि रत्ती भर का फासला न रहा।

सांख्य की बात करते वक्त वे सांख्य हो जाते हैं; भक्ति की बात करते वक्त वे भक्त

हो जाते हैं; योग की बात करते वक्त वे महायोगी हो जाते हैं। अतीत गिर जाता है और भविष्य शेष नहीं रहता। जो सामने होता है, उसके साथ वे पूरे एक हो जाते हैं। इसे खयाल में रखेंगे तो उनके वचन तुलनात्मक नहीं हैं। एक अध्याय की दूसरे अध्याय से तुलना नहीं की गयी है। एक श्रृङ्खला दूसरी श्रृङ्खला से, एक निष्ठा दूसरी निष्ठा से तौली नहीं गयी है। प्रत्येक निष्ठा अपने में परम है। निश्चित ही जो भी उस निष्ठा से पहुँचता है, उसके लिये उससे श्रेष्ठ कोई निष्ठा नहीं रह जाती।

●प्रश्न: भगवान् श्री, बहिर्मुखी व्यक्ति साधना करते-करते अंतर्मुख होता जाय तो क्या अपना रास्ता जीवन में आगे जाकर उसे बदलना चाहिये?

नहीं; ऐसा होता नहीं। बहिर्मुखी व्यक्ति ठीक बढ़ते-बढ़ते सारे ब्रह्म से एक हो जाता है। बहिर्मुखी व्यक्ति बढ़ते-बढ़ते उस जगह पहुँच जाता है, जहाँ बाहर कुछ शेष नहीं रहता। सारे बहिर् से उसका एकात्म हो जाता है। जिस दिन सारे बहिर् से उसका एकात्म हो जाता है, उस दिन भीतर भी कुछ नहीं रह जाता, बाहर भी कुछ नहीं रह जाता है। लेकिन, वह बाहर के साथ एक होकर स्वयं को, और सत्य को पाता है। तब वह कहता है: 'ब्रह्म मैं हूँ।' वह सारे ब्रह्म से एक हो जाता है। जब वह कहता है: 'मैं पूर्ण हूँ', तब वह पूर्ण से एक हो जाता है; तब चाँद तारे उसे अपने भीतर घूमते हुए मालूम पड़ते हैं।

अंतर्मुखी व्यक्ति भीतर डूबते-डूबते इतना भीतर डूब जाता है कि भीतर भी कुछ नहीं बचता, शून्य हो जाता है। तब वह कह पाता है, मैं हूँ ही नहीं। जैसे दिये की लौ बुझ गयी और खो गयी, ऐसा ही सब खो गया।

बहिर्मुखी व्यक्ति अंततः पूर्ण को पकड़ पाता है। अंतर्मुखी व्यक्ति अंततः शून्य को पकड़ पाता है। और शून्य और पूर्ण दोनों एक ही अर्थ रखते हैं। लेकिन बहिर्मुखी व्यक्ति बाहर की यात्रा कर-करके पहुँचता है; अंतर्मुखी व्यक्ति भीतर की यात्रा कर-करके पहुँचता है। बहिर्मुखी व्यक्ति अन्ततः अपने अंतस् को बिलकुल काटकर फेंक देता है। भीतर कुछ बचता ही नहीं, बाहर ही बचता है। अंतर्मुखी व्यक्ति बाहर को भूलते-भूलते इतना भूल जाता है कि बाहर कुछ बचता ही नहीं है।

और बड़े मजे की बात है कि बाहर और भीतर दोनों एक साथ बचते हैं। एक नहीं बच सकता दो में से। इसलिये जब एक खोता है, तो दूसरा तत्काल खो जाता है। अगर बाहर ही बाहर बचे और भीतर कुछ न बचे, तो बाहर भी खो जायेगा। क्योंकि बाहर—फिर किसका बाहर होगा! उसके लिये भीतर चाहिये, भीतर के कारण ही वह बाहर है। अगर भीतर ही बचे और बाहर बिलकुल न बचे, तो उसे भीतर कैसे कहियेगा? वह किसी बाहर की तुलना में, अपेक्षा में भीतर है। असल में जैसे आपके कोट का खीसा है। उसका एक हिस्सा भीतर है, जिसमें आप हाथ डालते हैं और एक

हिस्सा उसका बाहर है, जो लटका हुआ है। क्या आप सोचते हैं कि कभी ऐसा हो सकता है कि खीसे का भीतर ही भीतर बचे और बाहर न बचे !

आपका घर है। कभी आप सोच सकते हैं कि घर का भीतर ही भीतर बचे और घर का बाहर न बचे ! अगर भीतर ही भीतर बचे और बाहर न बचे तो भीतर भी न बचेगा। अगर बाहर ही बाहर बचे और भीतर न बचे तो बाहर भी न बचेगा। बाहर और भीतर एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

इसलिये दो रास्ते हैं। या तो बाहर को गिरा दो या भीतर को गिरा दो। एक के गिरने से दूसरा भी गिर जाता है; और तब जो शेष रह जायगा, वह बाहर और भीतर दोनों में था, जो बाहर और भीतर दोनों के बाहर भी था। वह जो बचेगा, उसे हम ब्रह्म कहेंगे——अगर हमने बाहर से यात्रा की है। और उसे हम शून्य कहेंगे, निर्वाण कहेंगे——अगर हमने भीतर से यात्रा की है।

जितने लोगों ने परमात्मा को पूर्ण की तरह सोचा है, वे बहिर् यात्रा कर रहे हैं। जिन्होंने परमात्मा को शून्य की तरह सोचा है, वे अंतर् यात्रा कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि योग की साधना करते-करते, बहिर् साधना करते-करते एक दिन फिर सांख्य की साधना करनी पड़ेगी——कोई जरूरत नहीं ! योग भी पहुँचा देता है।

इसे एक और तरह से समझ लें, तो खयाल में आ जाय। एक आदमी १० की संख्या पर खड़ा है। और अगर वह १० की संख्या से ११ और १२ ऐसा बढ़ता चला जाय, तो भी असीम पर पहुँच जायेगा। एक जगह आयेगी, जहाँ सब संख्याएँ खो जायेंगी। अगर वह १० से नीचे उतरे ९, ८....पीछे लौटता है, तो एक के बाद शून्य आ जायेगा, जहाँ सब संख्याएँ खो ही जायेंगी। आप किसी भी तरफ से यात्रा करें, संख्या खोयेगी। और जब संख्या खो जायेगी तो आपने कहाँ से यात्रा की थी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। जो बचेगा——संख्या के बाहर, वह एक ही होनेवाला है। इसे पॉजिटिव और निगेटिव (विधायक और निषेधात्मक) की तरह भी खयाल में ले लेना चाहिये।

कुछ लोग, हैं, जिनको विधायक शब्द प्रीतिकर लगते हैं, वे वही लोग हैं जो बहिर्मुखी हैं। कुछ लोग हैं जिन्हें नकारात्मक, निषेधात्मक शब्द प्रीतिकर लगते हैं, वे वही लोग हैं जो अंतर्मुखी हैं। जैसे बुद्ध। बुद्ध को नकारात्मक शब्द बड़े प्रीतिकर लगते हैं। अगर उन्हें परमात्मा भी प्रकट होगा तो 'नहीं' के रूप में प्रकट होगा, 'नथिंगनेस' के रूप में प्रकट होगा, शून्य के रूप में प्रकट होगा। इसलिये बुद्ध ने अपने मोक्ष के लिये जो नाम चुना, वह है—निर्वाण। और निर्वाण का मतलब होता है——'दिये का बुझ जाना'। जैसे दिया बुझ जाता है, बस, ऐसे ही एक दिन व्यक्ति बुझ जाता है। तब जो रह गया है, वह निर्वाण है।

कोई बुद्ध से पूछता है कि 'आपका निर्वाण के बाद क्या होगा?' तो बुद्ध कहते हैं कि

'दिया बुझ जाता है, तो फिर क्या होता है ? शून्य के साथ एक हो जाता है।' तो बुद्ध का जोर निगेटिव है, नकारात्मक है। वह अंतर्मुखी का जोर है। दुनिया में जब भी अंतर्मुखी बोलेगा, तो नकार की भाषा बोलेगा, निगेटिव की भाषा बोलेगा——'नेति, नेति'। वह कहेगा——यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं। उस जगह पहुँचना है, जहाँ कुछ भी न बचे। लेकिन जहाँ कुछ भी न बचे, वहीं सब कुछ बचता है। एक पॉजिटिव (विधायक) भाषा है——यह भी, यह भी, यह भी। अगर सब जुड़ जाय, तो जो बचता है, वह भी सब कुछ है।

ये दो ही ढंग हैं। इनमें से किसी भी तरह की यात्रा आप चुन सकते हैं। और ये दोनों ढंग बड़े विरोधी मालूम पड़ते हैं। जहाँ तक ढंग का सम्बन्ध है, विरोध है। लेकिन जहाँ तक उपलब्धि का सम्बन्ध है, कोई विरोध नहीं है। वहीं पहुँच जाते हैं शून्य से भी। वहीं पहुँच जाते हैं पूर्ण से भी। वहीं पहुँच जाते हैं, नेति-नेति कह कर भी। सबमें परमात्मा को जान कर देखते हैं। मान कर सोचते हैं, अनुभव करते हैं। पहुँचना है वहाँ, जहाँ द्वैत न बचे।

तो द्वैत दो तरह से शून्य हो सकता है, मिट सकता है——या तो सब स्वीकृत हो जाय या सब अस्वीकृत हो जाय। या तो सब बंधन गिर जाय और या सब बंधन आत्मा ही हो जाय, तब भी हो सकता है। या तो बंधन बचे ही नहीं और या फिर बन्धन ही सब कुछ——आत्मा——बन जाय; तब भी बंधन नहीं बचता।

न तो योगी को सांख्य में जाना पड़ता है, न सांख्य साधक को योग में जाना पड़ता है। लेकिन दोनों जहाँ पहुँच जाते हैं, वह एक ही जगह है। कहीं कोई बदलाहट नहीं करनी पड़ती। वे दोनों ही वहीं ले जाते हैं।

यह प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर देखने की बात है कि उसकी अपनी रुचि, उसका अपना स्व-धर्म, उसका अपना लगाव विधायक के साथ है या कि नकारात्मक के साथ, पूर्ण के साथ है कि शून्य के साथ। इसे ऐसा भी समझ लें——अगर कोई व्यक्ति भाव से भरा हुआ है, इमोशनल है, भावुक है, तो उसे पूर्ण की भाषा स्वीकार होगी। और अगर कोई बहुत बौद्धिक, बहुत इन्टेलेक्चुअल व्यक्ति है, तो उसे नकार की, इनकार की भाषा स्वीकार होगी। तर्क इनकार करता है, तर्क इलिमिनेट करता है, काटता है। यह भी बेकार, यह भी बेकार, यह भी बेकार——फेंकता चला जाता है, उस समय तक जबकि फेंकने को कुछ बचता ही नहीं। तब जब कुछ फेंकने को नहीं बचता तो तर्क भी गिर जाता है।

कभी आपने देखी है, एक दिये की बाती ! बाती तेल को जलाती है। और जब सारे तेल को जला डालती है, फिर खुद जल जाती है। कभी आपने यह देखा है कि बाती को आग की लपट जलाती है। फिर जब पूरी बाती जल जाती है, तो लपट भी बुझ जाती

है। तर्क इनकार करता चला जाता है—यह भी नहीं—यह भी नहीं—यह भी नहीं। आखिर में जब कुछ भी इनकार करने को नहीं बचता, तो इनकार करनेवाला तर्क भी मर जाता है। श्रद्धा स्वीकार करती चली जाती है—यह भी—यह भी—यह भी। और जब सब स्वीकार हो जाता है, तो श्रद्धा की भी कोई जरूरत नहीं रह जाती। वह भी गिर जाती है। और जहाँ तर्क और श्रद्धा दोनों ही गिर जाते हैं, वहाँ एक ही मुकाम, एक ही मंजिल, एक ही मंदिर आ जाता है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकंवद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।। २ ।।

हे कृष्ण, आप मिले हुए वचन से मेरी बुद्धि को मोहित-सी करते हैं। इसलिये उस एक बात को निश्चय करके कहिये कि जिसमें मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ।

पूछता है अर्जुन: 'एक बात निश्चित करके कहिये, ताकि मैं इस उलझाव से मुक्त हो जाऊँ।' लेकिन क्या दूसरे की कही बात निश्चय बन सकती है? और दूसरा कितने ही निश्चय से कहे, तो भी भीतर का अनिश्चय क्या गिर सकता है? कृष्ण ने कम निश्चय से नहीं कही सांख्य की बात। कृष्ण ने पूरे ही निश्चय से कही है कि 'यही है मार्ग'; लेकिन अर्जुन फिर कहता है, 'निश्चय से कहिये।' इसका क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ हुआ कि कृष्ण ने कितने ही निश्चय से कही हो, अर्जुन के व्यक्तित्व से उसका कोई तालमेल नहीं हो पाया। अर्जुन के लिए वह बात कहीं भी निश्चय की ध्वनि भी नहीं पैदा कर पायी। अर्जुन उसके बीच समानान्तर (पैरेलल) स्थिति में रहे, वैसे ही जैसे रेल की दो पटरियाँ समानान्तर होती हैं—चलती हैं जिंदगी भर साथ, मिलती हैं कहीं भी नहीं। साथ ही साथ होती हैं सदा और बहुत दूर फासले पर मिलती हुई मालूम भी होती हैं; लेकिन जब वहाँ पहुँचो तो पाया जाता है: उतनी ही अलग हैं। मिलती कहीं भी नहीं—पैरेलल लाइन की तरह।

अर्जुन और कृष्ण के बीच यह लंबा संवाद चलने वाला है। अर्जुन कह रहा है: 'निश्चित कहो कि जिससे मेरा भ्रम टूटे, मेरा उलझाव मिटे।' लेकिन जो चित्त भीतर उलझा हुआ है, वह निश्चित से निश्चित बात में से उलझाव निकाल लेगा। कोई बात निश्चित नहीं हो सकती है, जब तक चित्त उलझा हुआ है। क्योंकि वह हर निश्चय में से अनिश्चय निकाल लेगा। कितनी भी निश्चित बात कही जाय, वह उसमें से दस नये सवाल उठा देगा। वे सवाल उसके भीतर से आते हैं, उसके अनिश्चय से आते हैं। और अगर निश्चित चित्त हो, तो कितनी भी अनिश्चित बात कही जाय, वह उसमें से निश्चय निकाल लेगा। हम वही निकाल लेते हैं, जो हमारे भीतर की अवस्था होती है। हममें कुछ डाला नहीं जाता; हम वही अपने में आमंत्रित कर लेते हैं, जो हमारे भीतर तालमेल खाता है।

सॉक्रेटीज मर रहा था। उसके एक मित्र ने सॉक्रेटीज से पूछा कि 'आप बड़े निश्चित मालूम पड़ रहे हैं और मृत्यु सामने खड़ी है, जहर पीसा जा रहा है! आपके निश्चय को देख कर मन डरता है, मन काँपता है। यह कैसा निश्चय है? मृत्यु सामने है और आप इतने निश्चित-मना क्यों हैं?' सॉक्रेटीज ने कहा: 'मैं सोचता हूँ कि नास्तिक कहते हैं कि आत्मा बचेगी नहीं, सब मर जायेगा। अगर वे ठीक कहते हैं, तो चिंता का कोई भी कारण नहीं। क्योंकि मैं मर ही जाऊँगा, चिंता करने वाला भी कोई बचने वाला नहीं। आस्तिक कहते हैं कि नहीं मरोगे; शरीर ही मरेगा; आत्मा बचेगी ही। आत्मा को मारा ही नहीं जा सकता है। अगर वे सही हैं, तो मेरे चिंतित होने का कोई भी कारण नहीं, क्योंकि जब बचूंगा ही तो चिंता क्या करनी।' सॉक्रेटीज कहता है: 'मुझे मालूम नहीं कि नास्तिक ठीक कहते हैं या आस्तिक ठीक कहते हैं। लेकिन अगर नास्तिक ठीक कहते हैं, तो भी मैं निश्चित हूँ, क्योंकि मर ही जाऊँगा तो चिंता किसे है! और अगर आस्तिक ठीक कहते हैं, तो भी मैं निश्चित हूँ, क्योंकि जब बचूंगा ही तो चिंता कैसी?' अब इसको समझें कि सॉक्रेटीज इतनी अनिश्चित स्थिति में भी निश्चय निकाल लेता है।

और कृष्ण निश्चित बात कहते हैं। उनका स्टेटमेन्ट टोटल है; उनकी घोषणा समग्र है कि सांख्य परम निष्ठा है; ज्ञान पर्याप्त है; स्वयं को जान लेना काफी है, कुछ और करने का कोई अर्थ नहीं है। अर्जुन कहता है: 'कुछ ऐसी निश्चित बात कहो कि मेरा अनिश्चित मन अनिश्चित न रह जाय, मेरा विषयों में भागता हुआ यह मन ठहर जाय।' अर्जुन यह नहीं समझ पा रहा है कि बातें निश्चित नहीं होतीं, चित्त निश्चित होते हैं। सिद्धांत निश्चित नहीं होते, चेतना निश्चित होती है। सर्टेन्टीज (निर्णायक तत्त्व) जो हैं, वे सिद्धांतों से नहीं आते, चित्त की स्थिति से आते हैं।

कभी आपने 'अर्जुन' शब्द का अर्थ सोचा है? वह बड़ा अर्थपूर्ण है। शब्द है एक—ऋजु। ऋजु का अर्थ होता है: सीधा-सादा (strait) और अऋजु का अर्थ होता है: टेढ़ा-मेढ़ा—डाँवाडोल। अर्जुन शब्द का अर्थ ही होता है: डोलता हुआ।

हम सबके भीतर अर्जुन है। वह जो हमारा चित्त है, वह अर्जुन की हालत में होता है। वह डोलता रहता है। वह कभी कोई निश्चय नहीं कर पाता। वह काम भी कर लेता है अनिश्चय में। काम भी हो जाता है, तो भी निश्चय नहीं कर पाता। काम भी कर चुका होता है, फिर भी निश्चय नहीं कर पाता कि करना था कि नहीं करना था। पूरी जिंदगी अनिश्चय है।

वह जो अर्जुन है, वह हमारे मन का प्रतीक है। उसे इस बात की खबर है कि मन का यह ढंग है और मन से आप कितनी ही निश्चित बात करें, वह उसमें से नये अनिश्चय निकाल—हाजिर हो जाता है। वह कहता है: फिर इसका क्या होगा, फिर उसका क्या होगा?

एक मित्र कल मुझसे मिलने आये और कहने लगे : 'बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं कि आत्मा नहीं है—तो मेरा क्या होगा ?' मैंने कहा : 'बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं, तो उनको चिंता करने दो, तुम क्यों चिंता करते हो ?' फिर मैंने कहा : 'बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं कि आत्मा नहीं है, लेकिन खुद वे तो चिंतित नहीं हैं। तुम क्यों चिंतित होते हो ?' मित्र ने कहा कि 'बुद्ध, महावीर और कृष्ण आदि कहते हैं कि आत्मा अमर है, इससे बड़ी चिंता होती है।' मैंने कहा कि 'बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं कि आत्मा अमर नहीं है, तो चिंता होती है कि मैं समाप्त हो जाऊँगा। बुद्ध महावीर कहते हैं कि आत्मा अमर है, तो क्यों चिंता होती है !' वे कहने लगे, 'चिंता यह होती है, कि क्या मैं कभी भी समाप्त नहीं होऊँगा। ऐसा ही बना रहूँगा ! तब भी मन घबड़ाता है।'

अब बड़ी मुश्किल है। एक सॉक्रेटीज हैं, जो नास्तिकता से भी निश्चय निकाल लेते हैं, आस्तिकता से भी निश्चय निकाल लेते हैं और एक ये मित्र हैं, ये बिलकुल एन्टिसॉक्रेटीज हैं। ये बुद्ध और महावीर से भी चिंता निकालते हैं, बर्ट्रेंड रसेल से भी चिंता निकालते हैं। ये दोनों विरोधियों से भी चिंता निकाल लेते हैं।

इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यही है कि हम वही निकाल लेते हैं, जो हम निकालना चाहते हैं। लेकिन फिर भी हम सोचते हैं कि बर्ट्रेंड रसेल की वजह से यह चिंता पैदा हो रही है, महावीर की वजह से चिंता पैदा हो रही है। सच बात यह है कि मैं चिंतित हूँ, अनिश्चित हूँ। मैं महावीर से भी अनिश्चय निकालता हूँ, रसेल से भी अनिश्चय निकाल लेता हूँ।

अर्जुन कहता है कि 'कुछ ऐसा कहें मुझे कि मैं सारे अनिश्चय के पार होकर स्थिर हो जाऊँ।' अर्जुन की माँग तो ठीक है; लेकिन साथ-साथ उसे निश्चय नहीं है कि करना क्या है। हम सबकी भी यही हालत है। मंदिर में जाते हैं, मस्जिद में जाते हैं, गुरु के पास, साधु के पास—निश्चय खोजने कि कहीं निश्चित हो जाय बात। कहीं निश्चित न होगी। अनिश्चित मन लिये हुए इस जगत् में कुछ भी निश्चित नहीं हो सकता। अर्जुन को भीतर लिये हुए जगत् में कुछ भी निश्चित नहीं हो सकता। और अऋजु मन निश्चित हो तो इस जगत् में कुछ भी अनिश्चित नहीं, सब निश्चित है।

चित्त है आधार—शब्द और सिद्धांत और शास्त्र नहीं—दूसरे के वक्तव्य नहीं। अब कृष्ण से ज्यादा निश्चित आदमी अर्जुन को कहाँ मिलेगा ! मुश्किल है। जन्मों-जन्मों भी अर्जुन खोजे, तो कृष्ण जैसा आदमी खोज पाना बहुत मुश्किल है। उससे भी वह कह रहा है कि आप कुछ निश्चित बात कहें, तो शायद मेरा मन निश्चित हो जाय ! और ध्यान रहे कि जो व्यक्ति दूसरों से निर्णय खोजता है, वह अकसर निर्णय नहीं उपलब्ध कर पाता।

एक व्यक्ति मेरे पास आये। उन्होंने कहा कि 'मैं संन्यास लेना चाहता हूँ। आप सलाह दें कि मैं लूँ या न लूँ।' मैंने कहा कि 'जब तक सलाह मानने की और माँगने की इच्छा रहे, तब तक मत लेना। जिस दिन सारी दुनिया कहे कि मत लो, फिर भी इच्छा हो कि ले लें, तभी लेना, अन्यथा लेकर भी पछताओगे। लेकर भी दुःखी होओगे और लोगों से पूछने जाओगे कि कोई गलती तो नहीं की। संन्यास छोड़ दूँ कि रखूँ !'

ध्यान रहे कि जब हम दूसरे से पूछते हैं, तो केवल इतनी खबर होती है कि अब हम अपने से पूछने की हालत में बिलकुल न रहे। अब हालत इतनी बुरी है कि अपने से पूछना बेकार ही है। अपने से जो उत्तर आते हैं, वे सब कन्फ्यूजिंग (उलझन से भरे हुए) हैं। और जो पूछता है, वही तो सुनेगा न ? वही फिर नये प्रश्न खड़े कर लेगा।

वैसे अर्जुन की बड़ी कृपा है, अन्यथा गीता पैदा नहीं हो सकती थी। वह तो अर्जुन की कृपा है कि वह उठाता जायेगा प्रश्न और कृष्ण से उत्तर संवेदित होते चले जायेंगे। कृष्ण जैसे लोग कभी कुछ लिखते नहीं। कृष्ण जैसे लोग सिर्फ रिस्पॉन्स करते हैं, प्रतिसंवेदित होते हैं। लिखते तो केवल वे ही लोग हैं, जो किसी पर कुछ थोपना चाहते हैं। कृष्ण जैसे लोग तो कोई पूछता है, पुकारता है, तो बोल देते हैं।

अर्जुन खुद तो परेशानी में है, लेकिन अर्जुन से आगे, आने वाले, जो और अर्जुन होंगे, उन पर उसकी बड़ी कृपा है। गीता पैदा नहीं हो सकती थी—अर्जुन के बिना; अकेले कृष्ण से गीता पैदा नहीं हो सकती थी। अर्जुन पूछता है, तो कृष्ण से उत्तर आता है। कोई नहीं पूछेगा तो कृष्ण शून्य और मौन रह जायेंगे; कुछ भी उत्तर वहाँ से आने को नहीं है। उनसे कुछ लिया जा सकता है, उनसे कुछ बुलवाया जा सकता है। और अर्जुन ने बुलवाने का काम किया है। उसकी जिज्ञासा, उसके प्रश्न, कृष्ण के भीतर से नये उत्तर का जन्म बनते चले जाते हैं।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान् श्री कृष्ण बोले, 'हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है: ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियों की निष्काम कर्मयोग से।'

कहते हैं कृष्ण : निष्पाप अर्जुन ! —संबोधन करते हैं : निष्पाप अर्जुन ! —क्यों ? इसे थोड़ा समझना जरूरी है। यह एक बहुत मनोवैज्ञानिक संबोधन है। मनोविज्ञान कहता है कि चित्त में जितना ज्यादा पाप और अपराध (गिल्ट) हो, उतना ही इनडिसीजन (अनिश्चय) पैदा होता है, उतना ही चित्त डाँवाडोल होता है। पापी का चित्त सर्वाधिक डाँवाडोल होता है। अपराधी का चित्त भीतर से भूकम्प से भर जाता है।

बड़े मजे की बात है कि कृष्ण से पूछा है, अर्जुन ने—'कोई निश्चित बात कहें'। कृष्ण

जो उत्तर देते हैं, वह बहुत और है। वे निश्चित बात का उत्तर नहीं दे रहे हैं। वे पहले अर्जुन को आश्वस्त करते हैं कि वह भीतर से निश्चित हो पाये। वे उससे कहते हैं: 'निष्पाप अर्जुन !'

यह भी समझ लेने जैसा है कि पाप कम सताता है; पाप किया है 'मैंने'—यह ज्यादा सताता है। इसलिए जीसस ने रिपेन्टेन्स, प्रायश्चित्त की एक बड़ी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया निकाली और कहा कि जो अपने पाप को स्वीकार कर ले, वह पाप और अपराध से मुक्त हो जाता है। सिर्फ स्वीकार कर ले।

पाप के साथ एक मजा है कि पाप को हम छिपाना चाहते हैं। अगर इसे और ठीक से समझें, तो कहना होगा कि जिसे हम छिपाना चाहते हैं, वह पाप है। इसलिए जिसे हम प्रकट कर दें, वह पाप नहीं रह जाता। जिसे हम घोषित कर दें, वह पाप नहीं रह जाता।

जीसस ने एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ईसाइयत को दी और वह यह कि अपने पाप को स्वीकार कर लो और तुम पाप से मुक्त हो जाओगे। ऐसी और भी प्रक्रियाएँ सारी पृथ्वी पर पैदा हुई, जिनमें व्यक्ति को आश्वासन दिलाया गया कि अब तुम निष्पाप हो। और अगर व्यक्ति को यह भरोसा आ जाय कि वह निष्पाप है, तो भविष्य में पाप करने की क्षमता क्षीण होगी।

यह भी बहुत मजे की बात है कि हम वही करते हैं, जो हमारी अपने बाबत इमेज (प्रतिमा) होती है। अगर एक आदमी को पक्का ही पता है कि वह चोर है, तो उसे चोरी से बचाना बहुत मुश्किल है। वह चोरी करेगा ही। वह अपनी प्रतिमा को ही जानता है कि वह चोर की प्रतिमा है और कुछ उससे होगा ही नहीं। इसलिए अगर हम एक आदमी को चारों तरफ से सुझाव देते रहें कि तुम चोर हो, तो हम अचोर को भी चोर बना सकते हैं। इससे उलटा भी सम्भव घटित होता है। अगर हम चोर को भी सुझाव दें—चारों तरफ से—कि तुम चोर नहीं हो, तो हम उसके चोर होने में कठिनाई पैदा करते हैं। अगर दस भले आदमी एक बुरे आदमी को भला मान लें, तो उस बुरे आदमी को भले होने की सुविधा और मार्ग मिल जाता है। इसलिए सारी दुनिया में धर्मों ने बहुत-बहुत से रूप विकसित किये थे; पर सब रूप विकृत हो जाते हैं, लेकिन इससे उनका मौलिक सत्य नष्ट नहीं होता।

हम इस देश में कहते थे कि 'गंगा में स्नान कर आओ, पाप धुल जायेंगे।' गंगा में कोई पाप नहीं धुल सकते। गंगा के पानी में पाप धोने की कोई कीमिया, कोई केमिस्ट्री (रसायन) नहीं है। लेकिन एक मनोवैज्ञानिक (साइकोलॉजिकल) सत्य है कि अगर कोई आदमी पूरे भरोसे और निष्ठा से गंगा में नहाकर अनुभव करे कि वह निष्पाप हुआ, तो लौटकर पाप करना मुश्किल हो जायेगा। डिसकन्टिन्युटि (क्रम-भंग) हो जायेगी। वह जो कल तक पापी था, वह गंगा में नहाकर बाहर निकला और अब वह दूसरा आदमी

है—उसकी आइडेंटिटी (तादात्म्य) टूटी। संभावना है कि उसको निष्पाप होने का क्षण भर को बोध हुआ है। गंगा कुछ भी नहीं करती। लेकिन अगर पूरे मुल्क के कलेक्टिव माइन्ड, सामूहिक अचेतन मन में यह भाव है कि 'गंगा में नहाने से पाप धुलता है', तो गंगा में नहाने वाला निष्पाप होने के भाव को उपलब्ध होता है। और निष्पाप होने का भाव निश्चय में ले जाता है, पापी होने का भाव अनिश्चय में ले जाता है। इसलिये अर्जुन तो पूछता है कि 'कृष्ण, कुछ ऐसी बात कहो, जो निश्चित हो और जिसमें मेरा डाँवाडोलपन मिट जाय।'

लेकिन कृष्ण कहाँ से शुरू करते हैं, वह देखने लायक है। कृष्ण कहते हैं: 'हे निष्पाप अर्जुन !' कृष्ण जैसे व्यक्ति के मुँह से जब अर्जुन ने सुना होगा कि 'हे निष्पाप अर्जुन !' तो गंगा में नहा गया होगा। सारी गंगा उसके ऊपर टूट पड़ी होगी, जब उसने कृष्ण की आँखों में झाँका होगा। और कृष्ण जैसे व्यक्ति जब किसी को ऐसी बात कहते हैं, तो सिर्फ शब्द से नहीं कहते; खयाल रखें ! उनका सब कुछ कहता है। उनका रोआँ-रोआँ, उनकी आँख, उनकी साँस, उनका होना—उनका सब कुछ कहता है कि 'हे निष्पाप अर्जुन !'

कृष्ण की उस गंगा में अर्जुन को निष्पाप होने का क्षण भर को बोध हुआ होगा। निश्चय ही कृष्ण के अन्य कोई वचन जो नहीं दे सकते, वह अर्जुन को निष्पाप कहे जाने से मिला होगा। इसलिए कृष्ण पहले उसे (मनोवैज्ञानिक रूप से) उसके भीतर के आंदोलन से मुक्त करते हैं।

कृष्ण कहते हैं: हे निष्पाप अर्जुन ! और मजे की बात यह है कि यह कह कर वे फिर वही कहते हैं कि 'दो निष्ठाएँ हैं।' यह वे दूसरे अध्याय में कह चुके हैं, लेकिन तब तक अर्जुन को 'निष्पाप' उन्होंने नहीं कहा था। अर्जुन तब डाँवाडोल न था। अब वे फिर कहते हैं कि 'दो तरह की निष्ठाएँ हैं अर्जुन ! सांख्य की और योग की, कर्म की और ज्ञान की।'

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि एकदम तत्काल कृष्ण ने तीन बार नहीं कहा कि हे निष्पाप अर्जुन, हे निष्पाप अर्जुन, हे निष्पाप अर्जुन। नियम यही था। अदालत में शपथ लेते हैं तो तीन बार। इमाइल हुए है फ्रांस में; अगर वह सुझाव देता है, तो तीन बार। दुनिया के किसी भी संमोहन-शास्त्री (हिप्नोटिस्ट) और मनोवैज्ञानिक से पूछें, तो वह कहेगा कि जितनी बार सुझाव दो, उतना गहरा परिणाम होगा। कृष्ण कुछ ज्यादा जानते हैं। कृष्ण कहते हैं एक बार, और छोड़ देते हैं; क्योंकि दुबारा कहने का मतलब है: पहली बार कही हुई बात झूठ थी क्या !

अब अदालत में एक आदमी कहता है कि मैं परमात्मा की कसम खाकर कहता हूँ कि सच बोलूँगा; फिर दुबारा कहता है कि परमात्मा की कसम खाकर कहता हूँ कि सच

बोलूँगा; तो पहली बात का क्या हुआ ! और जिसकी पहली बात झूठ थी, उसकी दूसरी बात का कोई भरोसा है ? वह तीन बार भी कहेगा तो क्या होगा ?

कृष्ण कुए से ज्यादा जानते हैं। कृष्ण एक बार कहते हैं, इनोसेन्टली (सरलता से)—जैसे कि जान कर कहा ही नहीं—'हे निष्पाप अर्जुन !' और बात छोड़ कर आगे बढ़ जाते हैं; एक क्षण ठहरते भी नहीं। शक का मौका भी नहीं देते—हेजिटेशन (झिझक) का, विचारने का भी मौका नहीं देते। ऐसा भी नहीं लगता अर्जुन को कि उन्होंने कोई जान कर चेष्टा से कहा हो। बस, ऐसा संबोधन किया और आगे बढ़ गये।

असल में उसका निष्पाप होना, कृष्ण ऐसा मान रहे हैं, जैसे कोई बात ही नहीं है। उन्होने कहा, हे निष्पाप अर्जुन ! और बस, ऐसे ही चुपचाप आगे बढ़ गये। जितना साइलेन्ट सजेशन (मौन सुझाव)—उतना गहरा जाता है। जितना चुप, जितना इन्डाइरेक्ट (परोक्ष)—उतना ही चुपचाप भीतर सरक जाता है। जितनी तीव्रता से, जितनी चेष्टा से, जितना आग्रहपूर्वक कहा जाता है—उतना ही वह खो जाता है।

पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों को बहुत कुछ सीखना है।

कुए जब अपने मरीज को कहता है कि 'तुम बीमार नहीं हो', और जब दुबारा कहता है कि तुम बीमार नहीं हो, और जब तिबारा कहता है कि तुम बीमार नहीं हो, तो कृष्ण उस पर हँसेंगे। वे कहेंगे कि तुम तीन बार कहते हो और तुम उसे तीन बार याद दिलाते हो कि 'बीमार हो—बीमार हो—बीमार हो।' कृष्ण ने कहा, 'हे निष्पाप अर्जुन !' और आगे बढ़ गये और फिर कहा कि 'दो निष्ठाएँ हैं।' अर्जुन को मौका भी नहीं दिया कि सोचे-विचारे; पूछे कि 'कैसा निष्पाप ? मुझ पापी को निष्पाप क्यों कहते हैं ?' कोई मौका नहीं दिया कृष्ण ने। बात आयी—और गयी और अर्जुन के मन में सरक गयी।

ध्यान रहे, जैसे ही चित्त सोचने लगता है, वैसे ही बात गहरी नहीं जाती है। चित्त ने सोचा—उसका मतलब है कि बात सतह पर ही अटक गयी। चित्त ने सोचा—उसका मतलब इतना ही है कि बात ऊपर-ऊपर रह गयी। ऊपरी लहरों में जकड़ गयी—गहरे में कहाँ जायेगी ! विचार तो लहर है। सिर्फ वे ही बातें गहरे में जाती हैं, जो बिना सोचे उतर जाती हैं—जहाँ सोचने का जरा भी मौका नहीं। और सोचने का मौका दूसरी बात में है।

तो कृष्ण कहते हैं कि 'दो निष्ठाएँ हैं। एक निष्ठा है ज्ञान की, दूसरी निष्ठा है कर्म की।'

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

मनुष्य न तो कर्मों को करने से निष्कामता को प्राप्त होता है और न कर्मों को त्यागने मात्र से भगवत् साक्षात्कार रूप सिद्धि को प्राप्त होता है।

'कर्मों के न करने से निष्कर्म को मनुष्य प्राप्त नहीं होता और न ही सब-कुछ छोड़कर भाग जाने से भगवत् साक्षात्कार को उपलब्ध होता है।' बड़े ही विद्रोही और क्रांतिकारी शब्द हैं। क्या होगा त्यागियों का ! क्या होगा भागने वालों का ? कृष्ण कहते हैं, 'मात्र कर्म को छोड़कर भाग जाने से कोई निष्कर्म को उपलब्ध नहीं होता।' क्योंकि निष्कर्म कर्म के अभाव से ज्यादा बड़ी बात है।

मात्र कर्म का न होना—निष्कर्म नहीं है। निष्कर्म और भी बड़ी घटना है। जैसे कि बीमारी का न होना स्वास्थ्य नहीं है; स्वास्थ्य, और बड़ी घटना है। ऐसा हो सकता है कि आदमी बिलकुल बीमार न हो—और बिलकुल स्वस्थ न हो। सब तरह की जाँच-परख कहे कि कोई बीमारी नहीं है—और आदमी बिलकुल ही स्वस्थ न हो।

बीमारी का न होना मात्र—स्वास्थ्य नहीं है। और मात्र कर्मों को छोड़ कर भाग जाने से निष्कर्म उपलब्ध नहीं होता। क्यों ?

कृष्ण की निष्कर्म की व्याख्या समझनी पड़ेगी, क्योंकि आमतौर पर हम अब तक कर्म के न करने को निष्कर्म समझते रहे हैं; निष्क्रियता को निष्कर्म समझा है। निष्क्रियता निष्कर्म नहीं है। तब तो आलसी भी निष्कर्म को उपलब्ध हो जायेगा, तब तो मुरदे भी निष्कर्म को उपलब्ध हो जायेंगे। तब तो पत्थर इत्यादि परमात्म-साक्षात्कार में ही होंगे।

निष्कर्म नहीं, लेकिन कर्तारहित कर्म निष्कर्म बनता है। ऐसा कर्म—जहाँ भीतर करने वाला 'मैं' मौजूद नहीं है, निष्कर्म बनता है। निष्कर्म—कर्म का अभाव नहीं है, कर्ता का अभाव है—नॉट एब्सेंस ऑफ डूइंग, बट एब्सेंस ऑफ द डूअर।

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि 'अगर तू यह खयाल छोड़ दे कि तू कर रहा है, तो तेरा कोई कर्म, कर्म नहीं है। तब सब निष्कर्म हो जाता है। अगर तू यह पकड़े रहे कि मैं कर्म कर रहा हूँ, तो तू कर्म से भाग भी जाये तो भागना भी तेरा कर्म बन जाता है।' भागना भी कर्म है, भागना भी तो 'पड़ेगा'। त्यागना भी तो कर्म है, त्यागना भी तो 'पड़ेगा'।

जहाँ कर्ता मौजूद है, जहाँ लग रहा है कि मैं कर रहा हूँ, वहाँ कर्म मौजूद है—चाहे वह करना आलस्य ही क्यों न हो, चाहे वह करना 'न-करना' ही क्यों न हो। लेकिन जहाँ लग रहा है कि मेरे करने का कोई सवाल ही नहीं, परमात्मा कर रहा है—जो है, 'वह' कर रहा है—सारा जीवन बह रहा है, जहाँ 'मैं' एक हवा में डोलते हुए पत्ते की तरह हूँ—जहाँ 'मैं' नहीं डोल रहा, हवा डोल रही है—जहाँ 'मैं' एक सागर की लहर की तरह हूँ, 'मैं' नहीं लहरा रहा, सागर ही लहरा रहा है—जहाँ मेरा मैं नहीं—वहाँ निष्कर्म है। निष्क्रियता नहीं—निष्कर्म।

कर्म होगा, फिर भी कर्म का जो उत्पात है, वह नहीं होगा। कर्म होगा, लेकिन कर्म

की जो चिंता और संताप (एंग्जाइटी) है, वह नहीं होगा। कर्म होगा, लेकिन कर्म के साथ जो विफलता और सफलता का रोग है, वह नहीं होगा; कर्म के पीछे वह जो महत्त्वाकांक्षा का ज्वर है, बुखार है—वह नहीं होगा। कर्म होगा, लेकिन कर्म के पीछे वह जो फलाकांक्षा की विक्षिप्तता है, वह नहीं होगी। तब कर्म फूल की तरह हलका और आनन्ददायी हो जाता है—तब उसका कोई वजन नहीं रह जाता; तब कर्म फूल की तरह खिलता है। जब करनेवाला मौजूद नहीं होता, तब कर्म का आनन्द ही और हो जाता है; तब वह परमात्मा को समर्पित हो जाता है।

कृष्ण कह रहे हैं कि कर्म को छोड़ कर तू अगर भाग गया, तो यह मत समझना कि तू निष्कर्म को उपलब्ध हो गया है। क्योंकि जो निष्कर्म को उपलब्ध होता है, वह कर्म को छोड़कर क्यों भागेगा। वह स्वीकार कर लेगा उसे, जो नियति (डेस्टिनी) है। जो हो रहा है, वह उसे स्वीकार कर लेगा।

दूसरी बात वे कहते हैं कि संसार को, चीजों को त्यागकर, छोड़कर कोई अगर सोचता हो कि परमात्मा का साक्षात्कार हो जाये, तो जरूरी नहीं। ऐसा नहीं होता है। परमात्मा का साक्षात्कार किसी भी सौदे से नहीं होता है। ऐसा नहीं है कि आपने ये-ये चीजें छोड़ दीं, तो परमात्मा का साक्षात्कार हो जायेगा।

एक संन्यासी मेरे पास आये। वे कहने लगे कि 'मैंने घर छोड़ दिया, पत्नी छोड़ दी, बच्चे छोड़ दिये, दुकान छोड़ दी, लेकिन अभी तक परमात्मा का साक्षात्कार क्यों नहीं हुआ?' तो मैंने कहा कि 'कितनी कीमत थी मकानों की, दुकानों की, पत्नी की, बच्चों की? हिसाब है?' तो उन्होंने कहा : 'आपका मतलब?' मैंने कहा कि 'पक्का हो जाय कि कितने मूल्य की चीजें छोड़ी हैं, तो फिर परमात्मा के सामने शिकायत की जायेगी कि यह आदमी इतना दाम लगा रहा है तुम्हारे लिये और तुम अभी तक छिपे हो!' इसने एक मकान छोड़ दिया। मकान के बदले में परमात्मा? असल में जहाँ भी बदले का खयाल है—वहाँ व्यवसाय है, वहाँ धर्म नहीं है।

त्यागी कहता है, 'मैंने सब छोड़ दिया और अभी तक नहीं हुआ साक्षात्कार!' लेकिन तुमसे कहा किसने कि छोड़ने से हो जायेगा! और जो तुमने छोड़ दिया, उसका मूल्य क्या है? और कल जब मौत आयेगी, तब तुम क्या करोगे? उसे छोड़ोगे, कि पकड़े लिये चले जाओगे? मौत आयेगी तो वह छूट जायेगा। और जब तुम नहीं थे, तब भी वह था और जब तुम नहीं रहोगे, तब भी वह होगा।

जो तुम्हारे होने के पहले था और तुम्हारे होने के बाद रहेगा, उसे तुम छोड़ सकते हो? उसकी मालकियत पागलपन है। और ध्यान रहे : त्याग में भी मालकियत का खयाल है। जब एक आदमी कहता है, 'मैंने त्यागा', तो वह यह कह रहा है कि 'मालकियत मेरी थी।' सच बात तो यह है कि मालकियत ही नहीं है—त्यागेंगे कैसे?

तो कृष्ण कहते हैं कि 'कुछ त्यागने से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो जाता।' परमात्मा का साक्षात्कार बात ही अलग है। वह त्याग से फलित नहीं होता है,। हाँ, ऐसा हो सकता है कि परमात्मा के साक्षात्कार से त्याग फलित हो जाये। ऐसा होता है। क्योंकि, जब कोई विराट् को पहचान लेता है, तो क्षुद्र को पकड़ने को राजी नहीं रहता। जब किसी को हीरे मिल जाते हैं, तो कंकड़-पत्थर छूट जाते हैं। जब किसी को महल मिल जाता है, तो वह झोपड़े को भूल जाता है। जब किसी को परम जीवन उपलब्ध हो जाता है, तो छुद्र दैनन्दिन जीवन की व्यर्थताओं का जाल टूट जाता है। त्याग से परमात्मा मिलता है—ऐसा नहीं है; लेकिन, परमात्मा से अकसर त्याग फलित होता है। क्योंकि परमात्मा महाभोग है, वह परम रस है।

कृष्ण यहाँ एक बहुत ही कैटेगोरिकल, निश्चयात्मक वक्तव्य दे रहे हैं। वह वक्तव्य बहुत कीमती है। उस वक्तव्य पर पूरे जीवन का स्वस्थ होना निर्भर है। वह वक्तव्य यह है कि 'कर्म नहीं छोड़ना है'। कर्म छोड़ा भी नहीं जा सकता। जीते-जी कर्म को छोड़ने का कोई उपाय भी नहीं है। संन्यासी भी कर्म करेगा ही—दुकान नहीं चलायेगा, तो भीख माँगेगा। फर्क क्या पड़ता है? भीख माँगना कोई कम कर्म है—दूकान करने से? उतना ही कर्म है। घर नहीं बनायेगा, आश्रम बनायेगा। घर छोड़कर आश्रम बनाना, कोई कम कर्म है? उतना ही कर्म है।

कर्म से भागा नहीं जा सकता है। जब कर्म से भागा ही नहीं जा सकता, तो कर्म से भागना सिर्फ हिपोक्रीसि में, पाखण्ड में ले जायेगा। जो असंभव है, उसे करने की कोशिश पाखण्ड पैदा करती है। अगर अर्जुन भाग भी जाय—युद्ध के मैदान को छोड़कर, तो करेगा क्या? कुछ तो करेगा। वह जो भी करेगा, वह कर्म है। कर्म से नहीं भागा जा सकता, तो फिर क्या कोई उपाय नहीं है?

कृष्ण एक नया द्वार, एक नया डायमेन्शन, एक नया आयाम खोलते हैं। वे कहते हैं : कर्म जारी रखो, लेकिन कर्ता से मुक्त हो जाओ। कृष्ण मनुष्य के व्यक्तित्व में बड़ी गहरी क्रांति की बात कहते हैं। वे कहते हैं कि कर्म जारी रखो। कर्म से दूर जाया नहीं जा सकता; लेकिन कर्ता से परे जाया जा सकता है।

कर्म को चलने दो, कर्ता को जाने दो। भीतर से कर्ता को छोड़ो, यह छोड़ो कि मैं कर रहा हूँ। इसलिये कृष्ण बार-बार गीता में अर्जुन को कहते हैं कि 'जिन्हें तू सोचता है कि तू मारेगा, मैं तुझे कहता हूँ कि वे पहले ही मारे जा चुके हैं। जिन्हें तू सोचता है कि तेरे कारण मरेंगे, तो तू नासमझ है। तू मात्र निमित्त है। वे तेरे बिना भी मरेंगे।' पूरे समय वे यह कह रहे हैं कि 'तू यह खयाल छोड़ दे कि तू करने वाला है।' और अर्जुन की परेशानी यही है कि उसे लग रहा है कि 'करने वाला मैं हूँ। अगर मैं भाग जाऊँ, तो युद्ध बच जाय।' यह जरूरी नहीं है। अर्जुन अकेला नहीं है युद्ध में।

अर्जुन के भागने से युद्ध बच जायेगा, यह जरूरी नहीं। युद्ध अनंत कारणों पर निर्भर है।

लोग सोचते थे कि पहला महायुद्ध हो गया, अब दूसरा महायुद्ध नहीं होगा। दूसरा भी हो गया। फिर दूसरे के बाद लोग सोचने लगे कि अब तीसरा भी नहीं होगा; क्योंकि अब हिटलर भी मर गया। अब मुसोलिनी भी नहीं है, अब तीसरा महायुद्ध किसलिये होगा? लेकिन क्या फर्क पड़ता है, माओ को पैदा होने से कैसे रोकियेगा? और नामों से क्या फर्क पड़ता है! कोई फर्क नहीं पड़ता। नहीं हिटलर, तो माओ होगा। माओ नहीं तो कोई और होगा; नहीं कोई और, तो कोई अ—ब—स होगा।

युद्ध इतना विराट् जाल है कि कोई अर्जुन यह सोचता हो कि मेरे भाग जाने से युद्ध हट जायेगा, तो वह बहुत ही इगोइस्ट है, बहुत अहंकारी है। सोच रहा है: 'मेरी वजह से ही इतना बड़ा विराट् युद्ध हो रहा है!'

सभी को ऐसा खयाल होता है कि सारी दुनिया उन्हीं के कारण चल रही है! छोटों को, बड़ों को—अनुयायियों को, नेताओं को—सबको यह खयाल होता है कि उनसे ही सारी दुनिया चल रही है; वे गये कि एकदम से सब कुछ चला जायेगा। लेकिन नेपोलियन चला जाता है— और कहीं कोई पत्थर नहीं हिलता। सिकन्दर जैसे चले जाते हैं—और किसी पत्ते को खबर नहीं होती है: हिटलर आते हैं, चले जाते हैं; चर्चिल, नेहरू, गाँधी सब आते हैं, खो जाते हैं; जगत् चलता चला जाता है।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि 'तू यह पागलपन छोड़ दे कि तेरी वजह से सब कुछ हो रहा है। वजह बड़ी है। विराट् है जाल उसका। उस विराट् जाल को नियति (डेस्टिनी) कहते हैं। यह एक व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। अनंत-अनंत कारणों के जाल पर यह निर्भर है। इसलिये यह पागलपन छोड़ दे कि तेरे हट जाने से युद्ध नहीं होगा—या कि तेरे होने से युद्ध हो रहा है। तू नहीं भी हो, तो भी युद्ध हो जायेगा। क्योंकि तू बहुत छोटा पुर्जा है। तेरे बिना भी युद्ध हो सकता है। क्योंकि जिसने तुझे पुर्जा चुना है, वह किसी दूसरे को भी पुर्जा चुन सकता है। और तुझसे तो पूछ कर चुना नहीं है उसने, दूसरे को भी बिना पूछे चुन लेगा।'

कर्ता होने का खयाल अगर गिर जाय, तो व्यक्ति देख सके कि अनंत नियमों के जाल में जीवन चलता है। एक धारा है, जो बही जा रही है; उसमें हम तिनकों-से बहते हैं। हम बहते हैं, यह कहना भी शायद ठीक नहीं। धारा बहती है—हम तो तिनके हैं, हम क्या खाक बहते हैं! धारा बहती है—हम सिर्फ धारा में होते हैं। धारा पूरब बहती है, तो हम पूरब बहते हैं; धारा पश्चिम बहती है, तो हम पश्चिम बहते हैं। कृष्ण का सारा जोर इस बात पर है कि तू यह भूल जा कि तू करने वाला है और फिर कर्म को होने दे और मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ, तब कोई कर्म तुझे नही छुयेगा।

पाप नहीं छूता, पाप का कर्ता—करने वाला छूता है। पुण्य नहीं छुता, पुण्य का करने वाला छूता है। अगर ठीक से समझें, आध्यात्मिक अर्थों में समझें, तो करने का खयाल एक मात्र पाप है। कर्ता का बोध प्रारंभिक पाप (ओरिजिनल सिन) है। कर्ता का मूल खयाल है कि मैं करता हूँ। लेकिन यह सोचने जैसा है।

इधर कृष्ण तो कहते हैं कि 'हे अर्जुन! कर्ता एक ही है—परमात्मा। तू संशय छोड़।' और उधर अठारहवीं सदी के बाद हमने सारी दुनिया से परमात्मा को हटाने की कोशिश की। कॉस्मिक आर्डर से, जगत् की व्यवस्था से हमने कहा कि 'तुम सेवानिवृत्त (रिटायर) हो जाओ।' परमात्मा को कहा कि 'आप पीछा छोड़ो। बहुत दिन हो गये, आदमी को कर्ता बनने दो!' ध्यान रहे कि अगर हम परमात्मा को हटा दें इस खयाल से, तो जगत् से तो नहीं हटा सकते, लेकिन अपने खयाल से हटा सकते हैं। हटा दें परमात्मा को, तो आदमी कर्ता हो जाता है।

क्या आपने कभी यह सोचा कि जिन-जिन समाजों में आदमी कर्ता हो गया और परमात्मा कर्ता नहीं रहा, वहाँ मानसिक तनाव अपनी अति पर पहुँच गया! वहाँ चिंता भयंकर हो गयी है; वहाँ चित्त एकदम विक्षिप्त होने की हालत में पहुँच गया है; क्योंकि, सारा बोझ मेरे 'मैं' पर पड़ गया। दुनिया चल रही है मेरे 'मैं' पर; 'मैं' हो गया है सेन्टर (केंद्र)।

आज पश्चिम की सारी सभ्यता 'मैं' पर खड़ी है। बड़ी पीड़ा है इससे—न रात नींद, न दिन चैन। कहीं कोई शांति नहीं; कहीं कोई अर्थ नहीं; सब बेबूझ हो गया है; लेकिन एक बात खयाल में नहीं आती कि जिस दिन से आदमी कर्ता बनने के खयाल में पड़ा है, उस दिन से चिंता उसने पुकार ली है।

अर्जुन भी चिन्ता में पड़ गया है। चिंता कर्ता होने के खयाल से ही पैदा होती है; कर्म से चिंता नहीं होती। आप कितना ही कर्म करें, कर्म चिंता नहीं लाता और जरा-सा भी कर्ता बने, तो चिंता आनी शुरू हो जाती है।

एंग्जाइटी (संताप) जो है, वह कर्ता की छाया है। अर्जुन बड़ा चिंतित है। उसकी सारी चिंता एक बात से है कि वह सोच रहा है कि मैं मारने वाला हूँ, और मैं न मारूँ तो ये न मरेंगे। मैं अगर युद्ध न करूँ, तो युद्ध बंद हो जायेगा, शांति छा जायेगी। उसे ऐसा लग रहा है कि वही निर्णायक है। कोई व्यक्ति निर्णायक नहीं है, समष्टि निर्णायक है; नियति निर्णायक है। इसलिए कृष्ण उससे कहते हैं कि तू कर्ता को छोड़ और कर्म को चलने दे।

निष्पाप बता कर जो दूसरी बात अर्जुन से कृष्ण कहते हैं, वह निष्पाप में ले जाने वाली है। पहले उससे कहते हैं कि तू निष्पाप है और फिर वे जो दूसरा वक्तव्य देते हैं, वह समस्त पापों के बाहर ले जाने वाला है। वे निष्पाप कह कर चुप नहीं हो जाते, वे

निष्पाप बनने के लिए राह भी देते हैं। अश्वासन देकर मान नहीं लेते कि बात समाप्त हो गयी। बात सिर्फ शुरू हुई। और आदमी पूर्ण निष्पाप उसी दिन हो जाता है, जिस दिन पूर्ण अकर्ता हो जाता है।

कर्म नहीं बाँधते, कर्ता बाँध लेता है। कर्म नहीं छोड़ना है। कर्ता छूट जाये तो छूटना हो जाता है।

ठीक उसके साथ ही दूसरी बात उन्होंने कही है--कि त्याग साक्षात्कार को नहीं ले जाता है। क्यों नहीं ले जाता है त्याग साक्षात्कार को? नहीं ले जाता इसलिए कि हम परमात्मा के सामने सौदे की हालत में खड़े नहीं हो सकते, बार्गेनिंग नहीं हो सकती, खरीद-फरोख्त नहीं हो सकती।

'त्याग नहीं--समर्पण।' इस पर आगे हम बात करेंगे।

त्यागी कभी सर्मपित नहीं होता। त्यागी आदमी कभी समर्पण नहीं करता। वह कहता है कि 'मेरे पास कारण है कि मैंने इतना छोड़ा। अब मुझे मिलना चाहिए।' समर्पण तो वह करता है, जो कहता है कि 'मेरे पास तो कुछ भी नहीं है, मैं तो कुछ भी नहीं हूँ--जो दावा कर सकूँ कि मुझे मिलना चाहिए। मैं तो सिर्फ प्रार्थना कर सकता हूँ, मैं तो सिर्फ चरणों में सिर रख सकता हूँ। मेरे पास देने को कुछ भी नहीं है।'

समर्पण वह करता है, जिसके खयाल में यह आ जाता है कि 'मैं पूर्ण असहाय हूँ, टोटली हेल्पलेस हूँ। मेरे पास कुछ भी नहीं है--परमात्मा को देने को। मैं रो सकता हूँ, चिल्ला सकता हूँ, पुकार सकता हूँ'; दे तो कुछ भी नहीं सकता।' जो इतना दीन, इतना दरिद्र, इतना असहाय, इतना बेसहारा होकर पुकारता है, वह सर्मपित हो जाता है, वह साक्षात्कार को उपलब्ध हो जाता है।

त्यागी की तो अकड़ होती है, वह बेसहारा नहीं होता। उसके पास तो बैंक बैलेन्स होता है--त्याग का। कहता है: 'इतना मैंने छोड़ा है--इतने हाथी, इतने घोड़े, इतने मकान--कहाँ हो, बाहर निकलो। त्याग पूरा कर दिया है--साक्षात्कार होना चाहिये।'

त्यागी के पास तो दम्भ होगा ही। त्यागी कभी दम्भ के बाहर नहीं हो पाता। हाँ, उनकी बात दूसरी है, जिनके दम्भ के जाने से त्याग फलित होता है। पर उनको त्याग का कभी पता नहीं चलता। उनको पता ही नहीं चलता कि उन्होंने कुछ त्यागा है। अगर आप उनसे कहें कि आपने कुछ त्यागा है तो वे कहेंगे कि 'कभी कुछ था ही नहीं हमारे पास--हम त्यागेंगे कैसे!' अगर उनसे आप कहें कि कुछ छोड़ा है, तो वे कहेंगे कि 'कभी कुछ पकड़ा था क्या? छोड़ेंगे कैसे?'

खाली हाथ है हमारे पास--कुछ है नहीं। हम सिर्फ खाली हाथ ही परमात्मा के चरणों में रखते हैं। और ध्यान रहे, जो भरे हाथ परमात्मा के सामने जाता है, वह खाली हाथ लौट आता है और जो खाली हाथ जाता है, उसके हाथ भर दिये जाते हैं।

दूसरा प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, दिनांक २९ दिसम्बर, १९७०
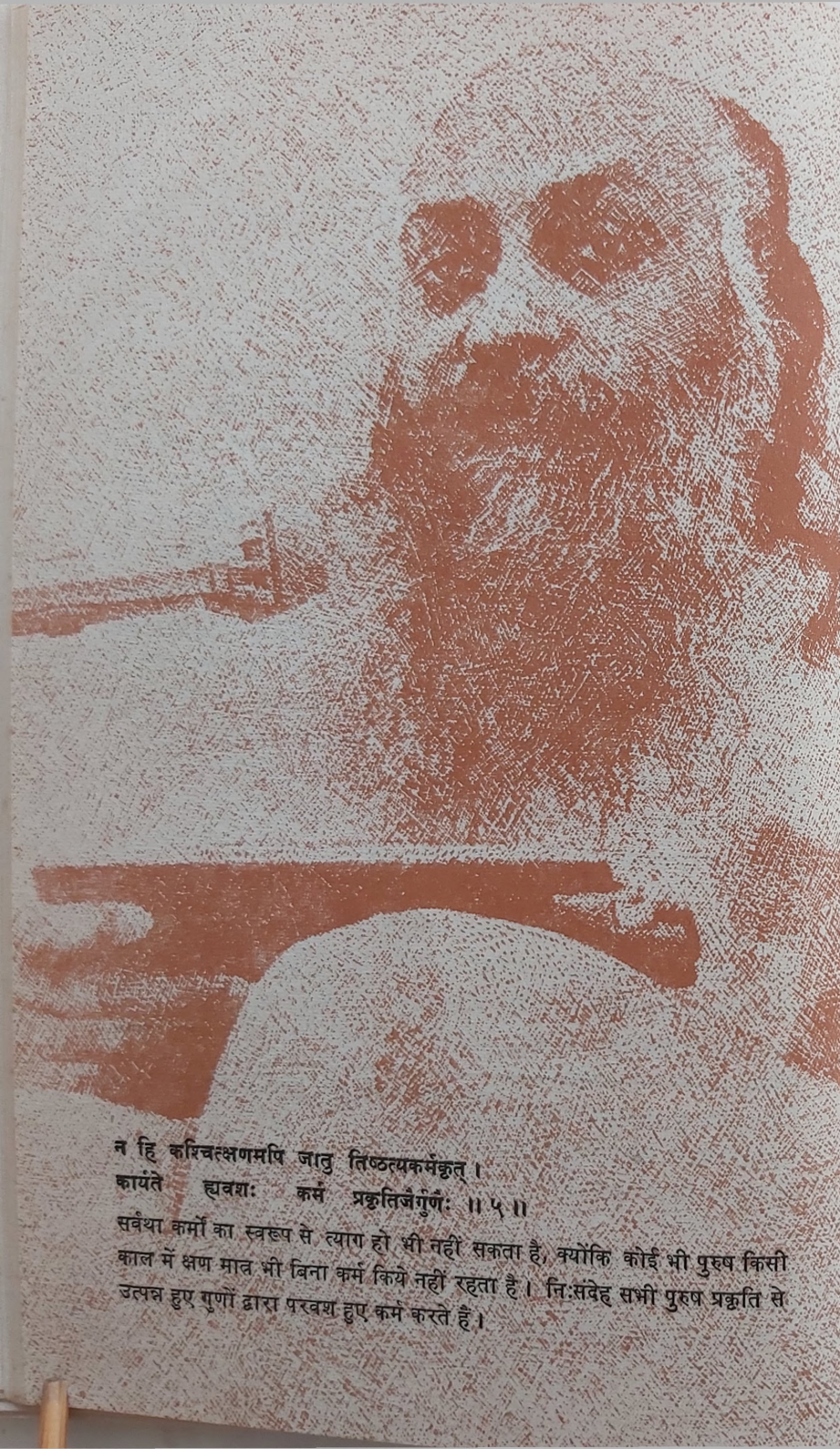
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

सर्वथा कर्मो का स्वरूप से त्याग हो भी नहीं सकता है, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है। निःसंदेह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

कर्ता का भ्रम

जीवन ही कर्म है। मृत्यु कर्म का अभाव है। जन्म कर्म का प्रारम्भ है, मृत्यु कर्म का अंत है। जीवन में कर्म को रोकना असम्भव है। ठीक से समझें, तो जीवन और कर्म पर्यायवाची हैं। एक ही अर्थ है उनका। इसलिए जीते-जी कर्म चलेगा ही। इस सम्बन्ध में मनुष्य की कोई स्वतंत्रता नहीं है।

सार्त्र ने अपने एक बहुत ही प्रसिद्ध वचन में कहा है कि "मैन इज कन्डेम्ड टु बी फ्री—आदमी स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है।" लेकिन, सार्त्र को शायद पता नहीं है कि आदमी कुछ बातों में परतंत्र होने के लिए भी परवश है, जैसे कर्म।

कर्म के सम्बन्ध में जीते-जी छुटकारा असम्भव है। जीने की प्रत्येक क्रिया कर्म है। श्वास भी लूंगा, तो भी कर्म होगा। उठूंगा, बैठूंगा तो भी कर्म होगा। जीना कर्म की प्रॉसेस, कर्म की प्रक्रिया का ही नाम है। इसलिए जो लोग सोचते हैं कि जीते-जी कर्म-त्याग कर दें, वे सिर्फ असम्भव बातें सोच रहे हैं। वह सम्भव नहीं हो सकता है। बस, सम्भव इतना ही हो सकता है कि वे एक कर्म को छोड़ कर दूसरे कर्म को करना शुरू कर दें।

जिसे हम गृहस्थ कहते हैं, वह एक तरह के कर्म करता है। जिसे हम संन्यासी कहते हैं, वह दूसरे तरह के कर्म करता है। संन्यासी कर्म नहीं छोड़ पाता। इसमें संन्यासी का कोई कसूर नहीं है। जीवन का स्वभाव ऐसा है। इसलिए जो कर्म छोड़ने की असम्भव आकांक्षा करेगा, वह पाखण्ड में, हिपॉक्रीसि में गिर जायेगा।

इस देश में वैसी दुर्घटना घटी। कृष्ण की बात नहीं सुनी गयी, यद्यपि आप कहेंगे कि गीता से ज्यादा कुछ भी नहीं पढ़ा गया है। लेकिन, साथ ही मैं यह भी कहूँगा कि गीता से कम कुछ भी नहीं समझा गया। अकसर ऐसा होता है कि जो बहुत पढ़ा जाता है, उसे हम समझना बंद कर देते हैं। बहुत बार पढ़ने से ऐसा लगता है कि बात समझ में

आ गयी है। स्मरण हो जाने से लगता है कि समझ में आ गयी। स्मृति ही ज्ञान मालूम होने लगती है। गीता कंठस्थ है और पृथ्वी पर सर्वाधिक पढ़ी गयी किताबों में से एक है, लेकिन सबसे कम समझी गयी किताबों में से एक है।

कर्म नहीं छोड़ा जा सकता——फिर भी इस देश का संन्यासी हजारों साल से कर्म छोड़ने की असम्भव चेष्टा कर रहा है। कर्म नहीं छूटा, सिर्फ निठल्लापन पैदा हुआ है। कर्म नहीं छूटा, सिर्फ निष्क्रियता पैदा हुई। और निष्क्रियता का अर्थ है : व्यर्थ कर्मों का जाल, जिनसे कुछ भी फलित नहीं होता। लेकिन कर्म जारी रहते हैं। पाखण्ड उपलब्ध हुआ है। जो कर्म को छोड़कर भागता है, उसकी कर्म की ऊर्जा व्यर्थ के कर्मों में सक्रिय हो जाती है।

दो तरह से लोग कर्म को छोड़ने की कोशिश करते हैं। दोनों ही एक-सी भ्रांतियाँ हैं। एक कोशिश संन्यासी ने की है, कर्म को छोड़ने की——सब छोड़ दे, कुछ न करे। लेकिन कुछ न करने का मतलब सिर्फ आत्मघात हो सकता है और आत्मघात भी करना पड़ेगा; वह भी अंतिम कर्म होगा। एक और रास्ता है, जिससे कर्म छोड़ने की आकांक्षा की जाती रही है। वह भी समझ लेना जरूरी है।

पूर्व ने संन्यासी के रास्ते से कर्म-त्याग की कोशिश की है और असफल हुआ है। कृष्ण की बात नहीं सुनी गयी। पश्चिम ने दूसरे ढंग से कर्म को छोड़ने की कोशिश की है और वह यह है कि यदि यंत्र सारे काम कर दें तो आदमी कर्म से मुक्त हो जाय। कर्म से मुक्त हो जाय तो परम आनन्द को उपलब्ध हो जाय। लेकिन पश्चिम दूसरी मुश्किल में पड़ गया है और वह मुश्किल यह है कि जितना कम काम आदमी के हाथ में है, उतना आदमी ज्यादा उपद्रव हाथ में लेता चला जा रहा है।

वह जो कर्म की ऊर्जा है, वह प्रकट होना चाहती है। वह कर्म की ऊर्जा कहीं से प्रकट होगी ही। इसलिए पश्चिम में छुट्टी के दिन ज्यादा दुर्घटनाएँ होंगी——ज्यादा हत्याएँ होंगी, ज्यादा चोरियाँ होंगी, ज्यादा बलात्कार होंगे। क्योंकि छुट्टी के दिन कर्म की ऊर्जा क्या करे? अगर एक महीने के लिये पूरी छुट्टी दे दी जाय पश्चिम को, तो सारी सभ्यता एक महीने में नष्ट हो जायगी और नीचे गिर जायगी। इसलिए पश्चिम के विचारक अब परेशान हैं कि आज नहीं कल यंत्र के हाथ में सारा कमा चला जायगा, तो फिर हम आदमी को कौन-सा काम देंगे! और अगर आदमी को काम न मिला, तो आदमी कुछ तो करेगा ही, और वह 'कुछ' खतरनाक हो सकता है; अगर वह काम का न हुआ तो आत्मघाती हो सकता है।

कृष्ण की बात पश्चिम में भी नहीं सुनी गयी। असल में कृष्ण की बात किसी ने भी नहीं सुनी कि कर्म से छुटकारा नहीं है, क्योंकि जीवन और कर्म एक ही चीज के दो नाम हैं। सिर्फ एक बात हो सकती है। इसका मतलब नहीं है कि हम जैसे जी रहे हैं, वैसे

ही जीते रहें और वैसे ही करते चले जायें। अगर ऐसा कोई समझता है, तो उसे भी कृष्ण की बात सुनायी नहीं पड़ी। कृष्ण यह कह रहे हैं कि कर्म को बदलने की उतनी फिक्र मत करो, कर्ता को बदलने की फिक्र करो।

असली सवाल यह नहीं है कि तुम क्या कर रहे हो, क्या नहीं कर रहे हो? असली सवाल यह है कि तुम क्या हो? और क्या नहीं हो? असली सवाल 'डूइंग' का नहीं——'बीइंग' का है। असली सवाल यह है कि भीतर तुम क्या हो? अगर भीतर गलत हो, तो तुम जो भी करोगे, उससे गलत फलित होगा। और अगर तुम भीतर सही हो, तो तुम जो भी करोगे, वह सही फलित होगा।

कर्म का प्रश्न नहीं है। वह जो भीतर व्यक्ति है, चेतना है, आत्मा है, कर्म उससे ही निकलते हैं, उससे ही फलते-फूलते हैं——उस चेतना, उस आत्मा का सवाल है। और वह आत्मा बीमार है। एक बहुत बड़ी बीमारी है। लेकिन वह बड़ी बीमारी, हमें लगता है कि हमारा बड़ा स्वार्थ है। वह आत्मा बीमार है——'मैं' के भाव से, इगोइज्म से। 'मैं' हूँ——यही आत्मा की बीमारी है।

कभी शायद आपने खयाल न किया हो : अगर शरीर पूरा स्वस्थ हो, तो आपको शरीर का पता नहीं चलता। ठीक से समझा जाय तो स्वास्थ्य का एक ही प्रमाण होता है, कि शरीर का पता न चलता हो——बॉडीलेसनेस (देहशून्यता) आ जाय। आपके सिर में दर्द होता है, तो सिर का पता चलता है। अगर सिर में दर्द न हो, तो सिर का पता नहीं चलता। अगर सिर का थोड़ा भी पता चलता हो, तो समझना कि सिर बीमार है। अगर पैर में पीड़ा हो तो पैर का पता चलता है; पाँव में काँटा गड़ा हो तो पाँव का पता चलता है। जहाँ भी वेदना है, वहीं बोध है। जहाँ वेदना नहीं, वहाँ बोध नहीं। जहाँ वेदना है, वहीं चेतना सघन हो जाती है। और जहाँ वेदना नहीं है, वहाँ चेतना बिदा हो जाती है।

यह वेदना शब्द भी बहुत अद्भुत है। इसके दो अर्थ होते हैं। इसका अर्थ ज्ञान भी होता है और दुःख भी होता है। हमारे पास शब्द है वेद। वेद का अर्थ होता है ज्ञान। वेद से ही वेदना बना है। वेदन का एक अर्थ तो होता है : ज्ञान, बोध, कान्शसनेस और एक अर्थ होता है : पीड़ा, दुःख। यह अर्थ अकारण नहीं होता है। असल में जहाँ पीड़ा है, वहीं बोध टिक जाता है। अगर पैर में काँटा गड़ा है तो सारा बोध, सारा अटेन्शन वहीं, उसी काँटे पर पहुँच जाता है। अगर शरीर में कहीं भी कोई पीड़ा नहीं है, तो शरीर का बोध मिट जाता है. बॉडी कांशसनेस चली जाती है। शरीर का पता नहीं चलता है। विदेह हो जाता है आदमी——अगर शरीर स्वस्थ हो। ठीक ऐसे ही अगर आत्मा स्वस्थ हो, तो 'मैं' का पता नहीं चलता।

'मैं' का पता चलता है तभी तक, जब तक आत्मा बीमार है। इसलिये जो आत्मा के

तल पर स्वस्थ हो जाते हैं, वे होते तो हैं, लेकिन उन्हें ऐसा नहीं लगता है कि मैं हूँ। उन्हें ऐसा ही लगता है––'हूँ'। 'हूँ' काफी हो जाता है, 'मैं' बिदा हो जाता है। वह 'मैं' एक काँटे की तरह चुभता है चौबीस घण्टे। रास्ते पर चलते, उठते-बैठते, कोई देखे तो, कोई न देखे तो भी, 'मैं' का काँटा चुभता रहता है। उस 'मैं' के घाव से भरे हुए हम कर्ता से घिर जाते हैं।

अर्जुन भी उसी पीड़ा में पड़ा है। उसका 'मैं' सघन होकर उसे पीड़ा दे रहा है। वह क्या कह रहा है? वह यह नहीं चाहता कि युद्ध में हिंसा होगी, इसलिये मैं युद्ध नहीं करना चाहता हूँ। नहीं, वह यह नहीं कहता। वह कहता है कि युद्ध में 'मेरे' लोग मर जायेंगे, इसलिये मैं युद्ध नहीं करना चाहता। तथा मेरे प्रियजन, मेरे सम्बन्धी बड़ी संख्या में युद्ध को आतुर खड़े हैं। सब मेरे ही हैं, वे मर जायेंगे।

कभी आपने सोचा है कि जब 'मेरा' मरता है, तो पीड़ा क्यों होती है? क्या इसलिये पीड़ा होती है कि जो मेरा था, वह मर गया या इसलिये पीड़ा होती है कि 'मेरा' होने की वजह से मेरे मैं का जो एक हिस्सा था, वह मर गया। ठीक से समझेंगे तो किसी के मरने से किसी को कभी कोई पीड़ा नहीं होती है। लेकिन मेरा है, तो पीड़ा होती है। क्योंकि जब भी मेरा कोई मरता है, तो मेरे इगो ('मैं') का एक हिस्सा, मेरे अहंकार का एक हिस्सा बिखर जाता है भीतर, जो मैंने उसके सहारे सम्हाला था।

इसलिये तो हम 'मेरे' को बढ़ाते हैं––मेरा मकान हो, मेरी जमीन हो, मेरा राज्य हो, मेरा पद हो, मेरी पदवी हो, मेरा ज्ञान हो, मेरे मित्र हों। जितना मेरा 'मेरे' का विस्तार होता है, उतना मेरा 'मैं' मजबूत होता है और बीच में सघन होकर सिंहासन पर बैठ जाता है। अगर 'मेरा' बिदा हो जाय, तो मेरे 'मैं' को खड़े रहने का कोई सहारा न रह जाय और वह भूमि पर गिरकर टूट जायेगा, बिखर जायेगा।

अर्जुन की पीड़ा क्या है? अर्जुन की पीड़ा यह है कि सब मेरे हैं। इसलिये वह बार-बार कहता है कि जिनके लिये राज्य जीता जाता है, जिनके लिये धन कमाया जाता है, जिनके लिये यश की कामना की जाती है, वे सब 'मेरे' मर जायेंगे युद्ध में, तो मैं इस राज्य को, इस धन, को इस साम्राज्य को, इस वैभव को पाकर करूँगा भी क्या? जब 'मेरे' ही मर जायेंगे...! लेकिन, उसे भी साफ नहीं है कि 'मेरे' के मरने का इतना डर 'मैं' के मरने का डर है। जब पत्नी मरती है तो पति का भी एक हिस्सा मर जाता है। उतना ही जितना जुड़ा था, उतना ही जितना पत्नी उसके भीतर प्रवेश कर गयी थी और उसके 'मैं' का हिस्सा बन गयी थी।

एकदम से खयाल में नहीं आता कि हम सब एक दूसरे से अपने 'मैं' के लिये भोजन जुटाते हैं। एक माँ को बच्चा हो रहा है। जिस दिन बच्चा पैदा होता है, उस दिन अकेला बच्चा ही पैदा नहीं होता है, उस दिन माँ भी पैदा होती है। उसके पहले सिर्फ

स्त्री थी, बच्चे के जन्म के बाद वह माँ है। यह जो माँ होना उसमें आया, यह बच्चे के होने से आया। अब उसके 'मैं' में माँ होना भी जुड़ गया। कल यह बच्चा मर जाय, तो उसका माँ होना फिर मरेगा और उसके 'मैं' से माँ होना फिर गिरेगा। बच्चे का मरना नहीं अखरता है, 'मैं' का टूटना अखरता है; क्योंकि मेरे भीतर कुछ मरता है, मेरे 'मैं' की कोई सम्पदा छिनती है, मेरे 'मैं' का कोई आधार टूटता है।

उपनिषदों में कहा है कि कोई किसी दूसरे के लिये दुःखी नहीं होता है, सब अपने लिये दुःखी होते हैं। कोई किसी दूसरे के लिये आनन्दित नहीं होता है, सब अपने लिये आनन्दित होते हैं। कोई किसी दूसरे के लिये जीता नहीं है, सब अपने 'मैं' के लिये जीते हैं। हाँ, जिन-जिन से हमारे 'मैं' को सहारा मिलता है, वे अपने मालूम पड़ते हैं और जिन-जिन से हमारे 'मैं' को विरोध मिलता है, वे पराये मालूम पड़ते हैं। जो मेरे 'मैं' को आसरा देते हैं, वे मित्र हो जाते हैं और जो मेरे 'मैं' को खंडित करना चाहते हैं, वे शत्रु हो जाते हैं। इसलिये जिसका 'मैं' गिर जाता है, उसका शत्रु और मित्र भी पृथ्वी से बिदा हो जाता है। उसका फिर कोई मित्र नहीं और फिर कोई शत्रु नहीं। क्योंकि शत्रु और मित्र सभी 'मैं' के आधार पर निर्मित होते हैं।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे है कि कर्म से भागने का कोई उपाय नहीं है। मनुष्य को परवश कर्म तो करना ही होगा, क्योंकि कर्म जीवन है। इस पर इतना जोर इसीलिये दे रहे हैं कि अर्जुन को दिखायी पड़ जाय कि असली बदलाहट, असली म्यूटेशन, असली क्रांति कर्म में नहीं, कर्ता में है। कर्म नहीं मिटा डालना है, कर्ता को बिदा कर देना है। जब भीतर से कर्ता बिदा हो जाय, तो भी कर्म चलता रहेगा। लेकिन तब कर्म परमात्मा के हाथ में समर्पित होकर चलता है। तब मेरा कोई भी दायित्व, तब मेरा कोई भी बोझ नहीं रह जाता। इस बात को ही कृष्ण आगे और स्पष्ट करेंगे।

● प्रश्न: भगवान् श्री, पाँचवें श्लोक पर प्रश्न करने से पहले कल की चर्चा के सम्बन्ध में दो छोटे प्रश्न रह गये हैं। कल आपने कहा कि क्षत्रिय बहिर्मुखी है और ब्राह्मण अन्तर्मुखी है और तदनुरूप इनकी साधना में भेद है। कृपया बतायें कि वैश्य और शूद्र को आप किस चित्त-कोटि '(टाइप ऑफ माइण्ड) में रखेंगे?

क्षत्रिय बहिर्मुखता का प्रतीक है, ब्राह्मण अंतर्मुखता का प्रतीक है। फिर शूद्र और वैश्य किस कोटि में हैं? दो तीन बातें समझनी होंगी।

अंतर्मुखता अगर पूरी खिल जाय तो ब्राह्मणत्व फलित होता है; अंतर्मुखता अगर खिले ही नहीं तो शूद्रत्व फलित होता है। बहिर्मुखता पूरी खिल जाय तो क्षत्रिय फलित होता है; बहिर्मुखता अगर खिले ही नहीं तो वैश्य फलित होता है। इसे ऐसा समझें: एक रेंज (क्षेत्र) है अंतर्मुखी का––एक श्रृंखला है, एक सीढ़ी है। अंतर्मुखता की सीढ़ी के पहले पायदान पर जो खड़ा है, वह शूद्र है और अंतिम पायदान पर जो खड़ा है,

वह ब्राह्मण है। बहिर्मुखता भी एक सीढ़ी है। इसके प्रथम पायदान पर जो खड़ा है, वह वैश्य है और उसके अंतिम पायदान पर जो खड़ा है, वह क्षत्रिय है।

यह जन्म से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिये बात नहीं कर रहा हूँ। मैं व्यक्तियों के टाइप की बात कर रहा हूँ। ब्राह्मणों में शूद्र पैदा होते हैं, शूद्रों में ब्राह्मण पैदा होते हैं। क्षत्रियों में वैश्य पैदा हो जाते हैं, वैश्यों में क्षत्रिय पैदा हो जाते हैं। यहाँ मैं जन्म-जात वर्ण की बात नहीं कर रहा हूँ। यहाँ मैं वर्ण के मनोवैज्ञानिक तथ्य की बात कर रहा हूँ। इसलिये यह भी ध्यान में रखने जैसा है कि ब्राह्मण जब भी नाराज होगा किसी पर, तो कहेगा शूद्र है तू; और क्षत्रिय जब भी नाराज होगा, तो कहेगा कि बनिया है तू। कभी सोचा है इस पर?

क्षत्रिय की कल्पना में बनिया होना नीचे से नीची बात है——ब्राह्मणों की कल्पना में शूद्र होना नीचे से नीची बात है। क्षत्रिय की कल्पना अपनी ही बहिर्मुखता में जो निम्न-तम सीढ़ी देखती है, वह वैश्य की है। इसलिये अगर क्षत्रिय पतित हो तो वैश्य हो जाता है; अगर वैश्य विस्तृत हो तो क्षत्रिय हो जाता है।

इसकी बहुत घटनाएँ घटीं। और कभी-कभी जब कोई व्यक्ति समझ नहीं पाता अपने टाइप को, अपने व्यक्तित्व को, अपने स्वधर्म को, तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है। महावीर क्षत्रिय घर में पैदा हुए, लेकिन वे व्यक्ति अंतर्मुखी थे और उनकी यात्रा ब्राह्मण की थी। बुद्ध क्षत्रिय के घर में पैदा हुए, लेकिन वे व्यक्ति ब्राह्मण थे और उनकी यात्रा ब्राह्मण की थी। इसलिये बुद्ध ने बहुत जगह कहा है कि मुझसे बड़ा ब्राह्मण और कोई भी नहीं है। लेकिन बुद्ध ने ब्राह्मणों की परिभाषा कुछ और की। बुद्ध ने कहा कि जो ब्रह्म को जाने, वह ब्राह्मण है।

बुद्ध और महावीर क्षत्रिय हैं और ब्राह्मण उनका व्यक्तित्व है। जन्म से वे क्षत्रिय हैं। महावीर, जैसा क्षत्रिय ब्राह्मण की यात्रा पर गया, इन्ट्रोवर्सन की, अन्तर्-यात्रा पर गया, सारे बाहर के जगत् को छोड़कर भीतर ध्यान और समाधि में डूबा। स्वभावतः महावीर के आसपास क्षत्रियों के ही संबन्ध थे। मित्र थे, प्रियजन थे, वे भी महावीर से प्रभावित हुए, महावीर के पीछे यात्रा पर गये। यह बड़े मजे की बात है कि महावीर के पीछे जो क्षत्रिय यात्रा पर गये, अंत में वैश्य होकर रह गये। सारा जैन-समाज वैश्यों का हो गया। असल में महावीर से प्रभावित होकर जो क्षत्रिय महावीर के पीछे गया था, वह इन्ट्रोवर्ट (अंतर्मुखी) नहीं था। वह ब्राह्मण हो नहीं सकता था। था तो वह क्षत्रिय, महावीर से प्रभावित होकर पीछे चला गया था। ब्राह्मण हो नहीं पाया, क्षत्रिय होना मुश्किल हो गया, वैश्य होने का एकमात्र मार्ग रह गया। वह क्षत्रिय होने से नीचे गिरा और वैश्य हो गया।

यह होने वाला ही था। ब्राह्मण अंतर्मुखता की श्रेष्ठतम स्थिति है। लेकिन सभी

ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं हैं। अगर ठीक से समझें तो हम सब पैदा तो होते हैं शूद्र की तरह या वैश्य की तरह, विकसित हो सकते हैं ब्राह्मण की तरह या क्षत्रिय की तरह। पैदा तो हम होते हैं नीचे पायदान पर, लेकिन विकसित हो सकते हैं। बीच में हम या तो होते हैं शूद्र, या होते हैं वैश्य। फिर अगर बीज खिल जाय तो बन सकते हैं——क्षत्रिय, या बन सकते हैं——ब्राह्मण। मेरे देखे जन्म से सारे लोग दो तरह के होते हैं——शूद्र और वैश्य। उपलब्धि से, एचीवमेण्ट से दो तरह के हो जाते हैं——ब्राह्मण और क्षत्रिय। जो विकसित नहीं हो पाते हैं, वे पिछली दो कोटियों में रह जाते हैं। वर्ण तो दो ही हैं।

अगर सारे लोग विकसित हों तो जगत् में दो ही वर्ण होंगे——अंतर्मुखी और बहिर्मुखी। लेकिन जो विकसित नहीं हो पाते, वे भी दो वर्ण निर्मित कर जाते हैं। इसलिए चार वर्ण निर्मित हुए: दो——जो विकसित हो जाते हैं, दो——जो विकसित नहीं हो पाते और पीछे छूट जाते हैं।

क्षत्रिय की आकांक्षा शक्ति की आकांक्षा है, ब्राह्मण की आकांक्षा सांख्य की आकांक्षा है। और अगर क्षत्रिय न हो पाये कोई, तो वैश्य रह जाता है।

बहुत भयभीत, डरा हुआ, कायर व्यक्तित्व होता है वैश्य का——लेकिन बीज उसके पास क्षत्रित्व के हैं, इसलिए शक्ति की आकांक्षा भी नहीं छूटती। लेकिन क्षत्रित्व होकर भी शक्ति को पा नहीं सकता। इसलिए वैश्य फिर धन के द्वारा शक्ति को खोजता है। वह धन के द्वारा शक्ति को निर्मित करने की कोशिश करता है। लड़ तो नहीं सकता, युद्ध के मैदान पर नहीं हो सकता, हाथ में तलवार तो नहीं ले सकता। लेकिन तिजोरियाँ भरी जा सकती हैं, तलवारें खरीदी जा सकती हैं। इसलिए इण्डाइरेक्टली (परोक्ष में) धन की आकांक्षा, शक्ति की आकांक्षा है——परोक्ष ——पीछे के रास्ते से, भयभीत रास्ते से।

ब्राह्मण होने की आकांक्षा शूद्र में भी है——होगी ही। बीज उसके भीतर है——अंतर्मुखता का। अगर वह विकसित हो तो वह पूर्ण अंतर्मुखी यात्रा पर निकल जायेगा। अगर विकसित न हो तो सिर्फ आलस्य में खड़ा रह जायेगा। बहिर्मुखी हो न पायेगा, अंतर्मुखी होगा नहीं। तब बीच में खड़ा रह जायेगा। आलस्य, तमस, प्रमाद उसकी जिंदगी हो जायेगी। बाहर की यात्रा पर जायेगा नहीं, भीतर की यात्रा पर जा सकता था, जा नहीं रहा है। यात्रा ठहर जायेगी। दोनों यात्राएँ ठहर जायेंगी।

शूद्र का अर्थ है——प्रमादी। शूद्र का अर्थ है——सोया हुआ। शूद्र का अर्थ है——आलस्य, तमस से घिरा हुआ। शूद्र का अर्थ है: जो कुछ भी नहीं रहा कर है——न बाहर जा रहा है, न भीतर जा रहा है; जो प्रमाद में, अँधेरे में सोया रह गया है।

यह जो मैं कह रहा हूँ, यह ध्यान में रख लेंगे। यह किसी शूद्र, किसी ब्राह्मण,

किसी वैश्य, किसी क्षत्रिय के लिए नहीं कह रहा हूँ। यह मनोवैज्ञानिक टाइप के लिए कह रहा हूँ।

इसलिए शूद्र निरंतर ही ब्राह्मण के विपरीत अनुभव करेगा और अगर आज सारी दुनिया में और विशेष कर इस मुल्क में, जिसने कि यह टाइप की मनोवैज्ञानिक व्यवस्था सबसे पहले खोजी थी––शूद्र ने ब्राह्मण के खिलाफ बगावत कर दी। बगावत करने का एक ढंग और भी था; वह ढंग यह था कि शूद्र ब्राह्मण होने की यात्रा पर निकल जाय। वह नहीं हो सका। और अब राममोहन राय, गांधी और उन सारे लोगों के आधार पर जिनकी कोई मनोवैज्ञानिक समझ नहीं है, शूद्र एक दूसरी यात्रा पर निकला है। वह कह रहा है कि अब हम तो ब्राह्मण नहीं बन सकते; लेकिन, अब हम ब्राह्मण को भी शूद्र बनाकर रहेंगे।

शूद्र ब्राह्मण बने, यह हितकर है। वह यात्रा आंतरिक यात्रा है। लेकिन, यदि शूद्र सिर्फ ब्राह्मण को खींचकर शूद्र बनाने की चेष्टा में लग जाय, तो वह सिर्फ आत्मघाती बात है। शूद्र आतुर है कि ब्राह्मण और उसके बीच का फासला टूट जाय। फासला टूटना चाहिए। लेकिन वह एक मनोवैज्ञानिक साधना है; वह एक सामाजिक व्यवस्था मात्र नहीं है।

और यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि उसी तरह ब्राह्मण भी बहुत बेचैन है कि कहीं फासला न टूट जाय। पुरी के शंकराचार्य बहुत बेचैन हैं कि कहीं ब्राह्मण और शूद्र का फासला न टूट जाय। यह डर भी इसी बात की सूचना है कि अब ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है, अन्यथा फासला टूटने से वह डरनेवाला नहीं था। फासला टूट नहीं सकता। शूद्र बगल में बैठ जाय ब्राह्मण के, इससे फासला नहीं टूटता। शूद्र ब्राह्मण की थाली में बैठकर खा ले, इससे फासला नहीं टूटता। अगर ब्राह्मण असली है, तो फासला ऐसे टूटता है! हाँ, अगर ब्राह्मण खुद ही शूद्र है, तो फासला तत्काल टूट जाता है।

ब्राह्मण डरा हुआ है, क्योंकि वह शूद्र हो चुका है करीब-करीब। और शूद्र आतुर है कि ब्राह्मण को शूद्र बनाकर रहे।

यह जो मैं कह रहा हूँ, वह इसलिए कह रहा हूँ, ताकि खयाल में आ सके कि भारत की वर्ण की धारणा के पीछे बड़े मनोवैज्ञानिक खयाल थे। मनोवैज्ञानिक खयाल यह था कि प्रत्येक व्यक्ति ठीक से पहचान ले कि उसका टाइप क्या है, ताकि उसकी आगे की जीवन यात्रा व्यर्थ में यहाँ-वहाँ न भटक जाय; वह यहाँ-वहाँ न डोले। वह यह समझ ले कि वह अंतर्मुखी है कि बहिर्मुखी है, और उस यात्रा पर चुपचाप निकल जाय। एक क्षण भी खोने के योग्य नहीं है। और जीवन का अवसर एक बार खोया जाय, तो न मालूम कितने जन्मों के लिए खो जाता है।

व्यक्तित्व ठीक से पहचान कर साधना में उतरें; यह जरूरी है। इसलिए मैंने कहा: अगर आप बहिर्मुखी हैं तो या तो आप वैश्य हो सकते हैं या क्षत्रिय बन सकते हैं। और अगर आप अंतर्मुखी हैं, तो या तो आप शूद्र हो सकते हैं या ब्राह्मण बन सकते हैं। ये पोलैरिटीज, ध्रुवताएँ हैं। लेकिन शूद्र होना तो प्रकृति से हो जाता है; ब्राह्मण होना उपलब्धि है। वैश्य होना प्रकृति से हो जाता है; क्षत्रिय होना उपलब्धि है।

●प्रश्न : दूसरी बात कल आपने बतायी कि अंतर्मुखी (इन्ट्रोवर्ट) व्यक्ति ज्ञान से शून्यत्व को अर्थात् निर्वाण को प्राप्त होता है, इसी तरह बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) व्यक्ति साधना से पूर्णत्व अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होता है। तो फिर गीता के द्वितीय अध्याय के अंतिम श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है––'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति', क्या यह ब्रह्म और निर्वाण दोनों का समन्वय है?

समन्वय की जरूरत सत्यों को कभी नहीं होती, सिर्फ असत्यों को होती है। सत्य समन्वित ही है। 'ब्रह्म-निर्वाण'––ऐसे शब्द के प्रयोग का एक ही मतलब होता है कि कुछ लोग जिसे ब्रह्म कहते हैं, कुछ लोग उसी को निर्वाण कहते हैं। जो शून्य से चलते हैं, वे निर्वाण कहते हैं; जो पूर्ण से चलते हैं, वे ब्रह्म कहते हैं। लेकिन जिस अनुभूति के लिए ये शब्द प्रयोग किये जा रहे हैं, वह एक ही है। ब्रह्म-निर्वाण––ब्रह्म की अनुभूति और निर्वाण की अनुभूति के बीच समन्वय नहीं है; क्योंकि समन्वय के लिए दो का होना जरूरी है। 'ब्रह्म निर्वाण' एक ही अनुभूति के लिए दिये गये दो नामों का इकट्ठा उच्चार है। फिर भी इस बात को बताने के लिए है कि कुछ लोग उसे निर्वाण कहते हैं और कुछ लोग उसे ब्रह्म कहते हैं। लेकिन वह––जो है, वह एक ही है।

जो लोग विधायक, पॉजिटिव हैं वे उसे ब्रह्म कहते हैं; जो लोग निगेटिव, नकारात्मक हैं, वे उसे निर्वाण कहते हैं। इसलिए कृष्ण 'ब्रह्म निर्वाण' दोनों का एक साथ प्रयोग कर रहे हैं––समन्वय के लिए नहीं, सिर्फ इस बात की सूचना के लिए कि सत्य एक ही है; जिसे जानने वाले बहुत तरह से कहते हैं। और बड़े से बड़े जो भेद हो सकते हैं उनके कहने के, वे दो हो सकते हैं : या तो वे कह दें कि वह शून्य है या वे कह दें कि पूर्ण है। यह अपनी रुचि और व्यक्तित्व की बात है। यह अपने देखने के ढंग की बात है। और हम जब भी कुछ कहते हैं तो हम उस सम्बन्ध में कम कहते हैं––जिस सम्बन्ध में कह रहे हैं––अपने सम्बन्ध में ज्यादा कहते हैं।

जब भी हम कुछ कहते हैं, तो वह खबर हमारे बाबत होती है कि हम किस तरह के व्यक्ति हैं। हमें जो दिखायी पड़ता है, वह 'गेस्टाल्ट' है। उसमें हम भी जुड़ जाते हैं। अब जैसे उदाहरण के लिए––कहीं एक गिलास में आधा पानी भरा रखा हो

और एक व्यक्ति कमरे से बाहर आकर कहे कि गिलास आधा खाली है और दूसरा आदमी बाहर आकर कहे कि गिलास आधा भरा है। इन दोनों ने दो चीजें नहीं देखीं। इन दोनों ने दो चीजें कहीं भी नहीं। लेकिन फिर भी इन दो व्यक्तियों के देखने का ढंग बिलकुल प्रतिकूल है।

एक ने देखा कि गिलास आधा खाली है। खाली पर उसकी नजर गयी है, भरे पर उसकी नजर नहीं गयी। आथेंटिकली (प्रामाणिकता से) खाली उसे दिखायी पड़ा है और भरा अलग छूट गया है। खाली केंद्र में है--सेन्टर में, भरा परिधि पर रहा है। खाली ने उसको पकड़ा है; भरे ने उसको नहीं पकड़ा है। दूसरा व्यक्ति कहता है कि 'आधा भरा है।' भरा--उसके केंद्र में है ध्यान के, खाली--बाहर, परिधि पर। खाली उसे दिखायी नहीं पड़ा, दिखायी उसे भरा पड़ा है। खाली ने सिर्फ भरे की सीमा बनायी है। भरा है असली, खाली पड़ोस में है--सिर्फ सीमांत। वह कह रहा है: आधा भरा है। अगर कोई गिलास से पूछे कि गिलास आधा भरा है या आधा खाली है, तो गिलास कुछ भी नहीं कहेगा। क्योंकि गिलास कहेगा कि 'यह विवाद पागलपन का है। मैं दोनों हूँ। मैं एक साथ दोनों हूँ। लेकिन यह दो भी इसलिए कहना पड़ रहा है, क्योंकि दो लोगों ने मुझे देखा है। असल में मैं तो जो हूँ, हूँ। यहाँ तक पानी है और यहाँ से पानी नहीं है। बीच तक पानी है। और बीच तक पानी नहीं है। एक रेखा है, जहाँ मेरा आधा खालीपन और आधा भरापन मिलते हैं।'

दो आदमियों ने दो तरह से देखा। ये दो आदमी दो तरह से कहते हैं। और अगर ये दोनों आदमी बाजार में चले जायँ और ऐसे लोगों के बीच में पहुँच जायँ, जिन्होंने कभी आधी भरी और आधी खाली चीज न देखी हो, तो दो सम्प्रदाय बन जायेंगे उस बाजार में। एक आधे खाली वालों का सम्प्रदाय होगा और दूसरा आधे भरे वालों का सम्प्रदाय होगा; और उनमें भारी विवाद चलेगा; और उनके पंडित बड़े तर्क करेंगे और विश्वविजय की यात्राएँ निकालेंगे और झंडे फहरायेंगे और शास्त्रों से सिद्ध करेंगे कि सत्य बात क्या है।

दूसरा असत्य भी है--और ठीक भी है। जिनको पता न हो, उनके लिए दोनों वक्तव्य एकदम विरोधार्थी (कान्ट्रॉडिक्टरी) हैं। गिलास आधा खाली है, तो खाली पर ध्यान जाता है। गिलास आधा भरा है, तो भरा है--इस पर ध्यान जाता है। एक कहता है : खाली है। एक कहता है : भरा है। और जिन्होंने देखा नहीं, जिन्हें कुछ पता नहीं, वे कहेंगे कि इससे ज्यादा विरोधी वक्तव्य क्या हो सकते हैं। ये दोनों अलग-अलग बातें हैं। दोनों में से कोई एक ही सही हो सकता है। इसलिए निर्णय करें कि सही कौन है। यह निर्णय हजारों साल तक चलेगा और कभी नहीं हो पायेगा।

क्योंकि वहाँ सिर्फ एक ही गिलास है, जो आधा खाली है और आधा भरा है। दो आदमियों ने देखा है। बस, वक्तव्य इसीलिए भिन्न हो गये हैं।

'ब्रह्म-निर्वाण' दो बातों का समन्वय नहीं है। एक सत्य के लिए उपयोग किये गये दो शब्दों का समवेत प्रयोग है।

समन्वय सिर्फ असत्यों में करना पड़ता है। सत्य में समन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि सत्य एक है। दूसरा है नहीं, जिससे समन्वय करना पड़े। इसलिए जितने लोग समन्वय की बातें करते हैं, उन्हें सत्य का कोई भी पता नहीं। सत्य को समन्वय की कोई भी जरूरत नहीं है। सत्य है ही एक। किससे समन्वय करना? असत्य से! हाँ, असत्य से करना हो तो हो सकता है। लेकिन सत्य से असत्य का समन्वय कैसे होगा? कोई उपाय नहीं है। और दो सत्य नहीं हैं कि जिनका समन्वय करना हो। हाँ, एक ही सत्य को बहुत लोगों ने देखा है; बहुत शब्दों में कहा है। भेद शब्दों के हैं--सत्यों के नहीं।

●प्रश्न : भगवान् श्री, कल आपने कहा कि कर्ता तो प्रभु है, मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र है। तो कोई व्यक्ति जब दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त होता है, तो क्या उस कर्म का कर्ता और प्रेरक भी प्रभु है? और कर्तापन के अभाव से बुरे कर्म का अभिनय करना कहाँ तक उचित है?

अच्छे और बुरे का फासला आदमी का है, परमात्मा का नहीं। और जो, अच्छे-बुरे में फर्क करता है, उससे कभी न कभी, बुरा होगा ही; वह बुरे से बच नहीं सकता है। बुरे से सिर्फ वही बच सकता है, जिसने सभी परमात्मा पर छोड़ दिया हो। लेकिन, हम कहेंगे कि एक आदमी चोरी कर सकता है और कह सकता है कि 'मैं तो निमित्त मात्र हूँ; चोरी मैं नहीं करता हूँ, परमात्मा करता है।' कहें; अड़चन अभी नहीं, अड़चन तो जब घर के लोग पकड़ कर उसे मारने लगते हैं, तब पता चलेगी। क्योंकि अगर वह तब भी यही कहे कि परमात्मा ही मार रहा है और ये घर के लोग कर्ता नहीं हैं, निमित्त मात्र हैं, तब वह ठीक मार्ग पर है। और ध्यान रहे जो आदमी, कोई दूसरा उसे मार रहा हो और फिर भी जानता हो कि परमात्मा ही मार रहा है --निमित्त मात्र हैं दूसरे, ऐसा आदमी चोरी करने जायेगा, इसकी संभावना नहीं है। वह बिलकुल असंभव है।

हम बुरा करते ही अहंकार से भरकर हैं। बिना अहंकार के बुरा हम कर नहीं सकते। और जिस क्षण हम परमात्मा को सब कर्तृत्व दे देते हैं, अहंकार छूट जाता है; बुरे को करने की बुनियादी आधारशिला गिर जाती है। बुरा करियेगा कैसे?

कभी आपने खयाल किया है कि बुरे कर्म को करके तो कोई भी अपने को कर्ता नहीं बताना चाहता है। कभी आपने यह खयाल किया है कि एक आदमी चोरी भी करता

है, तो वह कहता है कि मैंने नहीं की है। हम सिद्ध कर दें, यह बात अलग है। लेकिन अपनी तरफ से वह इनकार ही करता चला जाता है कि मैंने नहीं की है। बुरे का कर्ता तो कोई भी होने को राजी नहीं है और मजा यह है कि बुरा बिना कर्ता के होता नहीं है।

उलटी बात भी खयाल में ले लें कि कोई आदमी दो पैसा दान दे, तो दो लाख जैसे दान दिया हो, ऐसी खबरें उड़ाना चाहता है! न भी खबर उड़ा पाये, लेकिन दो पैसा दान दे, तो भी दो लाख दान दिया, इतनी अकड़ से चलना तो चाहता ही है। भिखारी भी जानते हैं कि अगर आप अकेले मिल जायँ रास्ते पर, तो उनको भरोसा कम होता है कि दान मिलेगा। चार आदमी आपके साथ हों, तब उनका भरोसा बढ़ जाता है। तब वे आपका पैर पकड़ लेंगे। अकेले में आप पर भरोसा नहीं होता, चार आदमियों की मौजूदगी पर भरोसा होता है। चार आदमियों के सामने आप इतनी दीनता प्रकट न कर पायेंगे कि कह दें कि नहीं देते। इसलिए भिखारी को अकेला कोई मिल जाये तो काम नहीं बनता। उसे भीड़ में आपको पकड़ना पड़ता है।

अच्छा काम आदनी ने न भी किया हो तो भी वह घोषणा करना चाहता है कि मैं कर्ता हूँ। और मजा यह है कि जब तक कर्ता होता है, तब तक अच्छा काम होता नहीं। अब इस मिस्ट्री को, इस रहस्य को ठीक से समझ लेना चाहिए।

कर्ता की, अहंकार की मौजूदगी ही जीवन में पाप का जन्म है। अहंकार की अनुपस्थिति, गैर-मौजूदगी से ही जीवन में पुण्य की सुगंध का फैलाव है। इसलिए अगर कोई कर्ता रहकर पुण्य भी करे, तो पाप हो जाता है। दूसरी बात भी नहीं हो सकती है कि कर्ता मिट जाये और कोई पाप करे; यह भी नहीं हो सकता।

हमने जो फर्क किया है—पाप और पुण्य का, अच्छे और बुरे का, वह उन लोगों ने किया है, जिनके पास कर्ता मौजूद है, जिनका अहंकार मौजूद है। और इस अहंकार के मौजूद रहते हमें ऐसा इन्तजाम करना पड़ा कि हम बुरे आदमी को बहुत बुरा कहते हैं, ताकि अहंकार को चोट लगे। हम अहंकार से ही बुराई को रोकने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए बुराई रुक नहीं पायी, सिर्फ अहंकार बढ़ा है। सारी मॉरेलिटी, सारा नीति-शास्त्र क्या करता है? वह इतना ही करता है कि आपके अहंकार को ही उपयोग में लाता है, बुराई से रोकने के लिए।

बाप अपने बच्चे से कहता है कि ऐसा करोगे तो गाँव के लोग क्या कहेंगे? बात गलत है या सही है, यह सवाल नहीं है बड़ा। बड़ा सवाल है कि गाँव के लोग क्या कहेंगे। कोई आदमी किसी के घर में चोरी करने जाता है, तो यह नहीं सोचता है कि चोरी बुरी है, वरन् यह सोचता है कि पकड़ा तो नहीं जाऊँगा! अगर उसको विश्वास दिला दिया जाय कि तुम नहीं पकड़े जा सकोगे, तो कितने लोग हैं, जो अचोर रह

पायेंगे! पुलिसवाला चौराहे पर न हो चौबीस घंटे के लिए, अदालत चौबीस घंटे के लिए छुट्टी पर चली जाय, कानून चौबीस घंटे के लिए स्थगित कर दिया जाय, तो कितने भले लोग भले रह जायेंगे? और चौबीस घण्टे के लिए यह भी तय कर लिया जाय कि जो बुरा करेगा, उसे सम्मान मिलेगा और जो अच्छा करेगा, उसे अपमान मिलेगा, तब तो और मुश्किल हो जायेगी।

नहीं; हम बुरा करने से नहीं रुकेंगे। बुरे से रोकने के लिए भी हमने अहंकार का ही उपयोग किया है कि 'लोग क्या कहेंगे? इज्जत का क्या होगा? कुल का क्या होगा? वंश का क्या होगा? प्रतिष्ठा, सम्मान, आदर—इसका क्या होगा?' इससे हम रोके हुए है आदमी को। लेकिन जिस चीज का हम उपयोग कर रहे हैं—रोकने के लिए—वही पाप की जड़ है। हम जहर सींच कर ही बुराई को मिटाने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए हजारों साल हो गये, बुराई मिटती नहीं है। सिर्फ जहर सींचता है और बुराई नये रास्ते से निकलकर प्रकट होती है।

अच्छे आदमी से भी हम क्या करवाते हैं? उसके भी अहंकार को बल देते हैं। हम कहते हैं कि तुम्हारे नाम की तख्ती लगा देंगे मंदिर पर, संगमर्मर पर तुम्हारा नाम खोद देंगे। हम तुम्हारे अहंकार के लिए सील-मोहर दे देंगे। अच्छा आदमी भी मंदिर बनाने के लिए मंदिर नहीं बनाता, मंदिर में नाम का पत्थर लगाने के लिए मंदिर बनाता है। अच्छे काम के लिए भी हमें जहर से ही उसे सींचता पड़ना है। इसलिए, सब मंदिर, मसजिद अगर जहरीले हो गये हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। उनकी जड़ में जहर है, वहाँ अहंकार खड़ा हुआ है। अच्छाई करवानी हो तो भी अहंकार, बुराई रोकनी हो तो भी अहंकार!

कृष्ण कुछ और ही सूत्र कह रहे हैं; वह बहुत अद्भुत है। एक अर्थ में वह धर्म का बुनियादी सूत्र है। वे यह कह रहे हैं कि नीति से काम नहीं चलेगा अर्जुन, क्योंकि नीति तो अहंकार पर ही खड़ी होती है। धर्म से काम चलेगा, क्योंकि धर्म कहता है: छोड़ो तुम 'मैं' को। परमात्मा को करने दो—जो कर रहा है। तुम निमित्त मात्र हो जाओ। हमें डर लगता है कि अगर हम निमित्त मात्र हैं, कर्ता नहीं हैं, तो तब भी चोरी पर निकल जायेंगे।

मैंने सुना है कि एक दफ्तर में एक मैनेजर को एक बुद्धिमानी की बात सूझी। वैसे आमतौर से मैनेजर को बुद्धिमानी की बात नहीं सूझती है। या ऐसा हो सकता है कि मैनेजर होते-होते आदमी को बुद्धि खो देनी पड़ती है। या ऐसा हो सकता है कि मैनेजर तक पहुँचने के लिए बुद्धि बिलकुल गैर-जरूरी तत्त्व है, वह बाधा है। लेकिन, एक मैनेजर को बुद्धिमानी सूझी और उसने अपने दफ्तर में एक तख्ती लगा दी। लोग काम नहीं करते थे, टालते थे, 'पोस्टपोन' (स्थगित) करते थे, तो उसने एक तख्ती

में किसी संत का एक वचन लिख दिया : "काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।" जो कल करना चाहता था, वह आज कर; जो आज करना चाहता था, वह अभी कर, क्योंकि समय का कोई भरोसा नहीं कि कल आयेगा भी कि नहीं आयेगा।

सात दिन के बाद उसके मित्रों ने पूछा : 'तख्ती का क्या परिणाम हुआ ?' तो उसने कहा कि 'बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूँ। मेरा सेक्रेटरी टाइपिस्ट को लेकर भाग गया। अकाउण्टेण्ट सारा पैसा लेकर नदारत हो गया। सब गड़बड़ हो गया। पत्नी का सात दिन से कोई पता नहीं चल रहा है, चपरासी के साथ भाग गयी। दफ्तर में अकेला रह गया हूँ। तो उन लोगों को जो-जो कल करना था, उसे आज ही कर लिया; जो आज करना था, वह अभी कर लिया।'

हमें भी ऐसा लगता है कि अगर हम परमात्मा पर सब छोड़ दें, फिर तो छूट मिल जायेगी। फिर जो हमें करना है, हम कर लेंगे। अगर उसे करने के लिए ही परमात्मा को कर्ता बना रहे हैं, तो जरूर ऐसा हो जायेगा। लेकिन जो कुछ करने के लिए निमित्त बन रहा है, वह निमित्त ही नहीं बन रहा है। और जो कुछ करने के लिए परमात्मा को कर्ता बना रहा है, वह परमात्मा को कर्ता बना ही नहीं रहा है। योजना कृष्ण उसके लिए नहीं कह रहे हैं। कृष्ण कह रहे हैं कि अगर तुम परमात्मा में अपने को छोड़ दो, तो छोड़ने के साथ ही अपनी योजनाएँ भी छूट जाती हैं; छोड़ने के साथ ही अपनी कामनाएँ भी छूट जाती हैं; छोड़ने के साथ ही अपनी वासनाएँ भी छूट जाती हैं; छोड़ने के साथ ही अपना भविष्य भी छूट जाता है; छोड़ने के साथ ही हम ही छूट जाते हैं। फिर हम बचते ही नहीं। फिर जो हो, हो। लेकिन हमें डर लगेगा; क्योंकि जो-जो होने की, करने की इच्छा है, वे फौरन दिखायी पड़ेंगी। तब हम कृष्ण को नहीं समझ पा रहे हैं। तब कृष्ण को समझना मुश्किल होगा।

स्वयं को समर्पित करने का साहस दुर्लभ है और स्वयं को समर्पित करना बड़े से बड़ा साहस है। उससे बड़ा कोई ऐडवेन्चर नहीं, उससे बड़ा कोई दुस्साहस नहीं। स्वयं को छोड़ना—परमात्मा के चरणों में, आसान बात नहीं है। और जो आदमी स्वयं को छोड़ सकता है, वह चोरी नहीं छोड़ पायेगा—यह सोचना भी मुश्किल है। जो स्वयं को ही छोड़ सकता है, वह चोरी किसके लिए करेगा ? जो स्वयं को छोड़ सकता है, वह हत्या किसके लिए करेगा ? जो स्वयं को छोड़ सकता है, वह बेईमानी किसके लिए करेगा ? उसका कोई उपाय नहीं है। स्वयं को छोड़ते ही, सब छूट जाता है। फिर जो भी हो—कृष्ण कहते हैं—वह परमात्मा का है। तू निमित्त भर है। निमित्त भर जो है, उसे योजना नहीं बनानी है। निमित्त भर जो है, उसे कामना नहीं करनी है। निमित्त की क्या कामनाएँ ? निमित्त की क्या वासनाएँ ?

कृष्ण का संदेश धार्मिक है—नैतिक नहीं। और नैतिक संदेश भी कोई संदेश

होता है ! काम-चलाऊ, कन्वीनियन्ट होता है। अनीति को किसी तरह रोकने का उपाय हम करते रहते हैं। रुकती नहीं; किसी तरह इंतजाम करते रहते हैं, काम चलाते हैं।

धर्म का संदेश काम-चलाऊ नहीं है। धर्म का संदेश तो जीवन की आमूल क्रांति का संदेश है। जो स्वयं को सब भाँति छोड़ देता है, उसके जीवन से सब कुछ गिर जाता है, जो कल तक था। बुरा, अच्छा—दोनों गिर जाते हैं। फिर तो परमात्मा ही शेष रह जाता है। फिर जो भी हो, उसमें अन्तर नहीं पड़ता, वह सभी कुछ परमात्मा के लिए समर्पित है।

चौबीस घंटे के लिए भी कभी प्रयोग करके देखें, फिर वासना को उठाना मुश्किल होगा। क्योंकि, वासना तो केवल कर्ता ही उठा सकता है। निमित्त वासना कैसे उठायेगा ? फिर यह सोचना मुश्किल होगा कि मैं करोड़ों रुपया इकट्ठा कर लूँ। यह करोड़ों रुपया इकट्ठा करने की वासना निमित्त-मात्र व्यक्ति में नहीं उठ सकती। सारी वासना का आधार व मूल स्रोत अहंकार है।

●प्रश्न : भगवान् श्री, आपने कहा कि कई बार किसी बात का संकल्प करना कमजोर संकल्प का सूचक है, तो आपके ध्यान में संकल्प तीन बार क्यों किया जाता है ? और यह भी बतायें कि ध्यान साधना से ज्ञान होगा कि ध्यान साधना स्वयं में एक कर्म है ?

ध्यान के प्रयोग में तीन बार संकल्प किया जाता है, वह भी कम पड़ता है, तीन सौ बार किया जाय तो पूरा पड़े ! क्योंकि आप अर्जुन नहीं हैं। आपको तीन सौ बार कहने पर भी एक बार सुनायी पड़ जाय तो बहुत है। तीन बार इसीलिए कहा जाता है कि शायद एकाध बार सुनायी पड़ जाय। बहरों के बीच मेहनत अलग तरह की होती है।

कृष्ण भीड़ को नहीं बता रहे हैं और मैं ध्यान करवा रहा हूँ—भीड़ को। कृष्ण एक आदमी से बात करते हैं—सीधे, आमने-सामने। जब मैं हजारों लोगों से कुछ बात कर रहा हूँ, तो आमने-सामने कोई भी नहीं है। दिखायी पड़ते हैं कि आमने-सामने हैं, लेकिन है कोई भी नहीं। तीन सौ बार भी कहा जाय तो थोड़ा पड़ेगा। आशा यही है कि तीन सौ बार कहने में शायद एकाध बार आपको सुनायी पड़ जाय। काम तो एक ही बार में हो जाता है, लेकिन वह एक बार सुनायी पड़ना चाहिए न ?

और पूछ रहे हैं कि ध्यान से क्या फलित होगा ? अगर बहिर्मुखी व्यक्तित्व है, तो ध्यान से वह ब्रह्म की यात्रा पर निकल जाता है। अगर अंतर्मुखी व्यक्तित्व है, तो ध्यान से निर्वाण की यात्रा पर निकल जाता है। ध्यान दोनों यात्राओं पर वाहन का काम करता है। इसलिए ध्यान किसी व्यक्ति विशेष के टाइप से सम्बन्धित नहीं

है। ध्यान तो ऐसा है, जैसे कि आप ट्रेन पर पश्चिम जाना चाहें, तो पश्चिम चले जायँ और पूर्व जाना चाहें, तो पूर्व चले जायँ। ट्रेन नहीं कहती कि कहाँ जायँ। ट्रेन कहीं भी जा सकती है।

ध्यान सिर्फ एक वाहन है। बहिर्मुखी व्यक्ति अगर ध्यान में उतरे तो वह ब्रह्म की यात्रा पर, बहिर्यात्रा पर निकल जायेगा, 'कास्मिक जर्नी' पर निकल जायेगा--जहाँ सारा अखण्ड जगत् उसे अपना ही स्वरूप मालूम होने लगेगा। अगर अंतर्मुखी व्यक्ति ध्यान के वाहन पर सवार हो तो अन्तर-यात्रा पर निकल जायगा, शून्य में, और शून्य में, और महाशून्य में--जहाँ सब बबूले फूट कर मिट जाते हैं और महासागर--अस्तित्व का, शून्य का ही शेष रह जाता है। ध्यान दोनों के काम आ सकता है। ध्यान का टाइप से सम्बन्ध नहीं है। ध्यान का सम्बन्ध यात्रा के वाहन से है!

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। ६ ।।

'इसलिए जो मूढ़ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोक कर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिंतन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

यह अद्भुत वचन है। कृष्ण कह रहे हैं कि जो मूढ़ व्यक्ति--मूढ़ अर्थात् नासमझ, अज्ञानी--इन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर मन में काम के चिंतन को चलाये चला जाता है, वह दम्भ में, पाखंड में, अहंकार में पतित होता है। ऐसा व्यक्ति मूढ़ है, जो इन्द्रियों को दमन करता है, सप्रेस करता है!

काश! फ्रायड को यह वचन--गीता का--पढ़ने को मिल जाता, तो फ्रायड के मन में धर्म का जो विरोध था, वह न रहता। लेकिन फ्रायड को केवल ईसाई दमनवादी संतों के वचन पढ़ने को मिले। उसे केवल उन्हीं धार्मिक लोगों की खबर मिली, जिन्होंने जननेन्द्रियाँ काट दीं, ताकि काम-वासना से मुक्ति हो जाय। फ्रायड को उन सूरदासों की खबर मिली, जिन्होंने आँखें फोड़ दीं, ताकि कोई सौंदर्य आकर्षित न कर सके। उन विक्षिप्त, न्यूरोटिक लोगों की खबर मिली, जिन्होंने अपने शरीर को कोड़े मारे, लहू बहाया, ताकि शरीर कोई माँग न करे। जो रात-रात सोये नहीं, ताकि कहीं कोई सपना मन को वासना में न डाल दे। जो भूखे रहे, ताकि कहीं शरीर में शक्ति आये तो इन्द्रियाँ बगावत न कर दें।

स्वभावतः अगर फ्रायड को लगे कि इस तरह का सब धर्म न्यूरोटिक है, पागलपन से भरा है और मनुष्य जाति को विक्षिप्त करने वाला है, तो आश्चर्य नहीं। लेकिन कृष्ण का एक वचन भी फ्रायड के मन की सारी ग्रंथियों को खोल देता।

फ्रायड से पाँच हजार साल पहले कृष्ण कह रहे हैं कि मूढ़ है वह व्यक्ति, जो अपनी इन्द्रियों को दबाता है। क्योंकि इन्द्रियों के दबाने से मन नहीं दबता, बल्कि इन्द्रियों

के दबाने से मन और प्रबल होता है। इसलिए मूढ़ है वह व्यक्ति, क्योंकि इन्द्रियों का कोई कसूर ही नहीं, इन्द्रियों का कोई सवाल ही नहीं है।

असली सवाल भीतर छिपे मन का है। वह मन माँग कर रहा है, इन्द्रियाँ तो केवल उस मन के पीछे चलती हैं। वे तो मन की नौकर-चाकर, मन की सेविकाएँ हैं, इससे ज्यादा नहीं हैं। मन कहता है कि सौंदर्य देखो, तो आँखें सौंदर्य देखती हैं और मन कहता है कि बंद कर लो आँखें, तो आँखें बंद हो जाती हैं। आँख की अपनी कोई इच्छा है? आँख ने कभी कहा कि मेरी यह इच्छा है? हाथ ने कभी कहा कि छूओ इसे? मन कहता है, छूओ, तो हाथ छूने चला जाता है। मन कहता है कि मत छूओ, तो हाथ ठहर जाता है और रुक जाता है।

इन्द्रियों की अपनी कोई इच्छा ही नहीं। लेकिन इन्द्रियों को कितनी गालियाँ दी गयी हैं! इन्द्रियों के खिलाफ कितने वक्तव्य दिये गये हैं! और इन्द्रियाँ बिलकुल निष्पाप, निर्दोष और इनोसेन्ट हैं, इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं। कोई इन्द्रिय मनुष्य को किसी काम में नहीं ले जाती--मन ले जाता है। और जब कोई इन्द्रियों को दबाता है, रोकता है और मन जब इन्द्रियों का सहयोग नहीं पाता है, तो पागल होकर भीतर ही उन चीजों की रचना करने लगता है, जो उसने बाहर चाही हैं। अगर दिन भर आप भूखे रहे हैं, तो रात सपने में आप राजमहल में आमंत्रित हो जायेंगे। मन ने इन्तजाम किया, मन ने कहा कि ठीक है। मन ने जिस स्त्री, जिस पुरुष के प्रति दिन में अपने को रोका, रात सपने में मन नहीं रोक पाता।

कोई पैंतालीस साल की उम्र में खुद फ्रायड ने अपने एक पत्र में किसी एक मित्र को लिखा है कि आज मैं रास्ते पर चलते वक्त हैरान हुआ। एक सुंदर स्त्री को देख कर मेरे मन में उसे छूने की इच्छा जगी। फिर मैंने सोचा भी कि 'मैं कैसा पागल हूँ। इस उम्र में!' और फ्रायड जैसा आदमी, जिसने जिंदगी भर सेक्स को समझने की शायद मनुष्य जाति के इतिहास में सर्वाधिक कोशिश की है, जो जानता है सेक्स क्या है, जो जानता है वासना क्या है, उसने लिखा है कि मैंने अपने को रोकना चाहा, लेकिन मैं रोकता भी रहा और मैंने बढ़कर भीड़ में उस स्त्री को छू भी लिया, स्पर्श भी कर लिया। आधे मन से रोकता भी रहा और आधे मन से स्पर्श भी कर लिया। पछताता भी रहा, कामना भी करता रहा।

फ्रायड ने लिखा है: 'अब भी मेरे भीतर यह सम्भव है, यह मैंने सोचा न था।' मरते वक्त तक भी सम्भव है। मुर्दा भी, अगर थोड़ी बहुत शक्ति बची हो तो, उठकर यही कर सकता है। मुर्दों ने तो कभी नहीं किया, लेकिन मुर्दों के साथ करनेवाले लोग मिल गये हैं। क्लियोपेट्रा जब मरी और उसकी लाश दफना दी गयी कब्र में, तो उसकी लाश चोरी चली गयी। सुंदर स्त्री! पंद्रह दिन बाद उसकी लाश मिली और चिकित्सकों

ने कहा कि पंद्रह दिन में हजारों लोगों ने उसकी लाश से सम्भोग किया है। लाशों से भी सम्भोग होता है! अगर लाशें भी उठ जायें, तो वे भी कर सकती हैं।

कृष्ण कह रहे हैं कि अगर बाहर से दबा दोगे इन्द्रियों को तो इन्द्रियों का तो कोई कसूर नहीं, इन्द्रियों का कोई हाथ नहीं। इन्द्रियाँ असंगत (इर्‌रेलेवेन्ट) हैं, उनसे कोई वास्ता ही नहीं। सवाल है मन का। रोक लोगे इन्द्रियों को, न करो भोजन आज, कर लो उपवास। मन दिन भर भोजन किये चला जायेगा। ऐसे मन दो ही बार भोजन कर लेता है दिन में, उपवास के दिन दिन-भर करता रहता है। मूढ़ है वह व्यक्ति, जो इस मन को समझे बिना केवल इन्द्रियों के दबाने में लग जाता है। और उसका परिणाम क्या होगा? उसका परिणाम होगा कि वह दम्भी हो जायेगा। वह दिखावा करेगा कि देखो, मैंने संयम साध लिया; देखो, मैं तप को उपलब्ध हुआ; देखो, ऐसा हुआ, ऐसा हुआ। वह बाहर से सब दिखावा करेगा और भीतर बिलकुल उलटा और विपरीत चलेगा।

अगर हम तथाकथित, 'सो कॉल्ड' साधुओं के——जिनकी ही संख्या बड़ी है, वही हैं निन्यानबे प्रतिशत——अगर उनकी खोपड़ियों को खोल सकें, उनके हृदय के द्वार खोल सकें तो उनके भीतर से शैतान निकलते हुए दिखायी पड़ेंगे। अगर हम उनके मस्तिष्क के सेल्स को तोड़ सकें और उनसे पूछ सकें कि तुम्हारे भीतर क्या चलता है, तो जो चलता है, वह बहुत घबड़ानेवाला है। ठीक विपरीत है। जो बाहर दिखायी पड़ता है, उसके ठीक उलटा भीतर चलता जाता है।

कृष्ण उसे मूढ़ता कह रहे हैं; क्योंकि जो भीतर चलता है, वही असली है। जो बाहर चलता है, उसका कोई मूल्य नहीं है। धर्म का दिखावे से——एक्सहिबिशन से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का प्रदर्शन से क्या सम्बन्ध है? धर्म का 'होने' से सम्बन्ध है। हो सकता है बाहर कुछ उलटा भी दिखायी पड़े, तो भी कोई फिक्र नहीं; भीतर ठीक चलना चाहिये। बाहर भोजन भी चले तो कोई फिक्र नहीं, भीतर का उपवास होना चाहिये। लेकिन होता उलटा है। बाहर उपवास चलता है, भीतर भोजन चलता है। बाहर स्त्री भी पास में बैठी रहे तो कोई हर्ज नहीं, पुरुष भी पास में बैठा रहे तो कोई हर्ज नहीं, भीतर स्वयं के अतिरिक्त और कोई भी नहीं होना चाहिये। लेकिन होता उलटा है। बाहर आदमी मंदिर में बैठा है, मसजिद में बैठा है, गुरुद्वारे में बैठा है और भीतर उसके खुद के गुरुद्वारे में कोई और बैठे हुए हैं; कुछ और चल रहा है।

जिंदगी को बदलाहट देनी है, तो बाहर से नहीं दी जा सकती; वह भीतर से ही दी जा सकती है। और जो आदमी बाहर से देने में पड़ जाता है, वह भूल ही जाता है कि असली काम भीतर है। सवाल इन्द्रियों का नहीं, सवाल मन का है; सवाल वृत्ति का है; सवाल वासना का है; सवाल शरीर का जरा भी नहीं है। इसलिये शरीर को कोई

कितना ही दबाये और नष्ट करे, मार ही डाले, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। उसकी प्रेतात्मा भटकेगी, उन्हीं वासनाओं में वह नये जन्म लेगा। नये-नये शरीर ग्रहण करेगा——उन्हीं वासनाओं के लिये, जिनको छोड़ दिया था पिछले शरीर से। उसकी यात्रा जारी रहेगी। वह अनंत-अनंत जन्मों तक वही खोजता रहेगा, जो उसका मन खोजना चाहता है।

दम्भ, पाखण्ड, धोखा——किसको दे रहे हैं हम? दूसरे को? दूसरे को दिया भी जा सके, लेकिन स्वयं को कैसे देंगे? और इसलिये प्रत्येक उस व्यक्ति को——जो धर्म की दिशा में उत्सुक होता है——ठीक से समझ लेना चाहिये कि स्वयं को धोखा तो देने नहीं जा रहा है, सेल्फ डिसेप्शन, आत्मवंचना में तो नहीं पड़ रहा है। कृष्ण उसी के लिये कह रहे हैं——मूढ़!

सोचने जैसा है कि कृष्ण जैसा आदमी मूढ़ जैसे शब्द का उपयोग करे! अगर मैं किसी को कह दूँ कि तुम मूढ़ हो, तो वह लड़ने के लिये खड़ा हो जायेगा। कृष्ण ने अर्जुन को मूढ़ कहा। एक आगे के सूत्र में तो अर्जुन को महामूढ़ कहा——कहा कि तुम तो बिलकुल महामूर्ख हो। फिर भी अर्जुन लड़ने के लिये खड़ा नहीं हो गया। कृष्ण जो कह रहे हैं, वह फेक्चुअल (तथ्यगत) है, कन्डेमनेटरी (निन्दात्मक) नहीं है। कृष्ण जो कह रहे हैं——मूढ़ शब्द——उसका उपयोग किसी की निन्दा के लिये नहीं है, तथ्य की सूचना के लिये है।

मूढ़ हैं जगत् में; उन्हें मूढ़ ही कहना पड़ेगा। अगर सज्जनता और शिष्टाचार के कारण उन्हें कहा जाये कि 'हे बुद्धिमानों!' तो बड़ा अहित होगा। लेकिन कृष्ण जैसे हिम्मत के धार्मिक लोग अब नहीं रह गये। अब तो धार्मिक के पास कोई भी जाय तो उसको मूढ़ नहीं कहा जा सकता। धार्मिक आदमी ही नहीं रहा।

झेन फकीर होते हैं, जो डण्डा पास में रखते हैं। जरा गलत-सलत पूछा तो सिर पर एक डण्डा लगाते हैं। यहाँ तो किसी से इतना भी कह दो कि गलत पूछ रहे हो, तो वह, लड़ने को खड़ा हो जायेगा; चूँकि कोई पूछने की जिज्ञासा भी नहीं है। और सैकड़ों वर्षों से उस हिम्मतवर और धार्मिक आदमी का तिरोधान हो गया है——जो तथ्य जैसे थे, उनको वैसा कहने की हिम्मत रखता था। आज किसी को मूढ़ कह दो तो वह कहेगा कि 'अरे! मुझे मूढ़ कहते हैं!' तो वह आदमी ठीक नहीं है, जिसने मूढ़ कह दिया।

कृष्ण कह रहे हैं कि मूढ़ हैं वे, जो इन्द्रियों को दबाते, दमन करते और परिणामतः भीतर जिनका चित्त उन्हीं-उन्हीं वासनाओं में परिभ्रमण करता है, तूफान उठाता है, आँधियाँ बन जाता है; ऐसे व्यक्ति दम्भ में, पाखण्ड में पतित हो जाते हैं। और इस जगत् में अज्ञान से भी बुरी चीज पाखण्ड है। इसलिये उन्होंने कहा, 'ऐसे व्यक्ति मिथ्या आचरण में, मिथ्यात्व, फाल्सिटी में गिर जाते हैं।' इस शब्द को भी ठीक से समझ लेना

उचित है।

मिथ्या किसे कहेंगे? एक तो होता है—सत्य; एक होता है—असत्य। मिथ्या क्या है? मिथ्या का अर्थ असत्य नहीं है। मिथ्या का अर्थ है—दोनों के बीच में जो है—जो असत्य है और सत्य जैसा दिखायी पड़ता है। मिथ्या 'मिडिल टर्म' (मध्य शब्द) है।

'ऐसे लोग असत्य में पड़ते हैं'—कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि 'ऐसे लोग मिथ्या में पड़ जाते हैं।' मिथ्या का मतलब है कि वे दिखायी पड़ते हैं, बिलकुल ठीक हैं और बिलकुल ठीक होते नहीं। ऐसे धोखे में पड़ जाते हैं। बाहर से दिखायी पड़ते हैं कि बिलकुल सफेद हैं और भीतर बिलकुल काले होते हैं। अगर बाहर भी काले हों, तो वह सत्य होगा और अगर भीतर भी सफेद हों, तो वह सत्य होगा। इसको क्या कहें?

यह मिथ्या, इल्यूजरी स्थिति है। हम और तरह की शकल बाहर बना लेते हैं और भीतर कुछ और चलता चला जाता है। इस मिथ्या में जो पड़ता है, वह अज्ञानी से भी गलत जगह पहुँच जाता है। क्योंकि अज्ञान में पीड़ा है।

गलत का बोध हो और मुझे पता हो कि मैं गलत हूँ, तो मैं अपने को बदलने में भी लगता हूँ। मुझे पता हो कि मैं बीमार हूँ, तो मैं चिकित्सा का भी इन्तजाम करता हूँ, मैं चिकित्सक को भी खोजता हूँ, मैं निदान भी करवाता हूँ। लेकिन मैं हूँ बीमार और मैं घोषणा करता हूँ कि मैं स्वस्थ हूँ, तब कठिनाई और भी गहरी हो जाती है। अब मैं चिकित्सक को भी नहीं खोजता, अब मैं निदान भी नहीं करवाता, अब मैं डाइग्नोसिस्ट के पास भी नहीं फटकता। अब तो मैं स्वस्थ होने की घोषणा करता चला जाता हूँ और भीतर बीमार होता चला जाता हूँ। भीतर होती है बीमारी, बाहर होता है स्वास्थ्य का दिखावा। तब आदमी सबसे ज्यादा जटिल उलझाव में पड़ जाता है।

मिथ्या—मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी जटिलता पैदा कर देती है। तो कृष्ण कहते हैं कि ऐसा आदमी अंततः बहुत जटिल, कॉम्प्लेक्स हो जाता है। करता कुछ है, होता कुछ। जानता कुछ है, मानता कुछ। दिखलाता कुछ है, देखता कुछ। सब उसका अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह आदमी अपने ही भीतर दो हिस्सों में बँट जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो वैसा आदमी स्किजोफ्रेनिक, सिजॉयड हो जाता है। दो हिस्से हो जाते हैं उसमें और वह दो तरह जीने लगता है—डबल बाइण्ड। उसके दोनों दायें-बायें पैर उलटे चलने लगते हैं। उसकी एक आँख इधर और दूसरी आँख उधर देखने लगती है : उसकी सब 'इनर एलाइनमेन्ट (आंतरिक व्यवस्था) टूट जाती है। बायीं आँख इस तरफ देखती है, दायीं आँख उस तरफ देखती है; बायाँ पैर इस तरफ चलता है, दायाँ पैर उस तरफ चलता है। उसके भीतर की सब हार्मनी, उसके भीतर

का सामञ्जस्य, तारतम्य—सब टूट जाता है।

ऐसे व्यक्ति को मिथ्या में गिरा हुआ व्यक्ति कहते हैं—जिसका इनर एलाइनमेन्ट, जिसकी भीतरी ट्यूनिंग, जिसके भीतर का सब स्वर-संगम अस्त-व्यस्त हो जाता है। जिसके भीतर आग जलती है और बाहर से वह कँपकँपी दिखाता है कि मुझे सर्दी लग रही है। जिसके भीतर क्रोध जलता है और ओठों पर मुस्कराहट होती है कि मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। जिसके भीतर वासना होती है और बाहर प्यार होता है कि मैं संन्यासी हूँ। जिसके बाहर-भीतर ऐसा भेद पड़ जाता है, ऐसा व्यक्ति अपने जीवन के अवसर को—जिससे एक महासंगीत उपलब्ध हो सकता था, उसे गँवा देता है और मिथ्या में गिर जाता है।

मिथ्या का मतलब है खण्ड-खण्ड चित्त, स्व-विरोध में बँटा हुआ व्यक्तित्व—डिस-इंटिग्रेटेड व्यक्तित्व।

कृष्ण क्यों अर्जुन को ऐसा कह रहे हैं? इसकी चर्चा उठाने की क्या जरूरत है? लेकिन कृष्ण इसे सीधा नहीं कह रहे हैं। ऐसा नहीं कह रहे हैं कि 'अर्जुन, तू मिथ्या हो गया है।' वे ऐसा नहीं कह रहे हैं। कृष्ण बहुत कुशल मनोवैज्ञानिक हैं, जैसा कल मैंने कहा। वे ऐसा नहीं कह रहे हैं कि 'अर्जुन, तू मिथ्या हो गया है।' ऐसा कह रहे हैं कि 'ऐसा व्यक्ति मूढ़ है अर्जुन, जो इस भाँति मिथ्या में पड़ जाता है।' और वे अर्जुन को भलीभाँति जानते हैं कि उसका व्यक्तित्व भीतर से एक्स्ट्रोवर्ट है, बहिर्मुखी है; वह क्षत्रिय है। तलवार के अतिरिक्त उसने कुछ जाना नहीं। उसकी आत्मा अगर कभी चमकेगी, तो तलवार की झलक उसमें निकलनेवाली है। उसके प्राणों को अगर उघाड़ा जायेगा, तो उसके प्राणों में युद्ध का स्वर ही बजने वाला है। उसके प्राणों को अगर खोला जायेगा, तो उसके भीतर से हम एक योद्धा को ही पायेंगे। लेकिन बातें वह पेसिफिस्ट (शांति-वादी) जैसी कर रहा है, बर्ट्रेन्ड रसेल जैसी कर रहा है। है वह क्षत्रिय और बातें कर रहा है बर्ट्रेंड रसेल जैसी। मिथ्या में पड़ रहा है अर्जुन। अगर यह अर्जुन भाग जाय युद्ध छोड़कर, तो यह दिक्कत में पड़ेगा। इसको फिर अपनी इंद्रियों को दबाना पड़ेगा। और इसके मन में यही सब उपद्रव चलेगा।

इसलिये कृष्ण बड़े इशारे से कह रहे हैं, सीधा नहीं कह रहे हैं। और बहुत बार सीधी कही हुई बात सुनी नहीं जाती। मैंने भी बहुत बार अनुभव किया है। कोई व्यक्ति सीधा आ जाता है पूछने, साथ में उसके दो मित्र आ जाते हैं, तो मैं निरंतर जान कर हैरान हुआ हूँ कि जो व्यक्ति सीधा सवाल पूछता है, वह कम समझ पाता है और वे दो लोग जो साथ में चुप-चाप बैठे रहते हैं, जो पूछने नहीं आते हैं, वे ज्यादा समझ कर जाते हैं। क्योंकि जो आदमी सीधा सवाल पूछता है, वह बहुत कांशस (चौकन्ना) हो जाता है, बहुत इगो (अहं) से भर जाता है। उसका सवाल है, इसलिये, जब उसे समझाया जा रहा होता है, तो वह समझने की कोशिश में कम और नये सवाल के चिंतन में ज्यादा

होता है। जब उससे कहा जा रहा है, तब वह उसके खिलाफ और पक्ष-विपक्ष में सोचता हुआ होता है। वह पूरा का पूरा डूब नहीं पाता। लेकिन वे लोग जो शांति से साथ में बैठे हैं, उनका कोई सवाल नहीं है, वे बाहर हैं। वे चुपचाप मौजूद हैं, वे आब्जर्वर्स (दर्शक) हैं। उनके मन में ज्यादा शीघ्रता से चली जाती है बात।

कृष्ण अर्जुन को सीधा नहीं कह रहे हैं कि 'तू मिथ्या में पड़ रहा है।' क्योंकि हो सकता है कि ऐसा कहने से अहंकार मजबूत होता हो। और अर्जुन कहे : 'मिथ्या में? कभी नहीं; मैं और मिथ्या में! आप कैसी बात करते हैं?' समझाना फिर मुश्किल होता चला जायेगा।

कृष्ण कहते हैं : 'मिथ्या में पड़ जाता है ऐसा व्यक्ति, जो इंद्रियों को दबा लेता है और भीतर जिसका मन रूपांतरित नहीं होता है।' मन जाता है—पश्चिम; इंद्रियाँ जाती हैं—पूरब। फिर उसके भीतर का सब संगीत टूट जाता है। ऐसा व्यक्ति रुग्ण, डिसीज्ड हो जाता है। और करीब-करीब सारे लोग ऐसे ही हैं। इसलिये जीवन में फिर कोई आनन्द, फिर कोई सुवास, फिर कोई संगीत अनुभव नहीं होता है।

●प्रश्न : भगवान् श्री, पिछले श्लोक में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि क्षणमात्र भी आदमी बिना काम किये नहीं रह सकता है, और सब लोग प्रकृति के गुणों द्वारा प्रवृत्त हुए कर्म करते हैं, तो शरीर व इन्द्रियों की प्राकृतिक क्रियाओं को कर्म क्यों कहा गया है? कर्म और क्रिया क्या अलग नहीं हैं? इसे समझाइये।

कर्म और क्रिया गहरे में अलग नहीं हैं। ऊपर से अलग दिखायी पड़ते हैं। अब जैसे मैं सो भी जाऊँ तो भी शरीर पचाने का काम करता रहेगा, खून बनाने का काम करता रहेगा। हड्डियाँ निर्मित होती रहेंगी, पुराने सेल्स मरते रहेंगे, नये सेल्स बनते रहेंगे। रात में सोया रहूँगा, क्रिया जारी रहेगी। उसको हम कर्म न कह सकेंगे, क्योंकि मैं तो बिलकुल भी नहीं था, अहंकार को तो मौका नहीं था। असल में जिस क्रिया से हम अहंकार को जोड़ने में सफल हो जाते हैं, उसको कर्म कहने लगते हैं और जिस क्रिया में हम अहंकार को नहीं जोड़ पाते, उसको हम क्रिया कहते हैं, उसको फिर हम कर्म नहीं कहते। लेकिन गहरे में कोई भी क्रिया मात्र क्रिया नहीं है; क्रिया भी कर्म है।

यह क्यों, ऐसा क्यों? क्योंकि रात में जब सो रहा हूँ, या मुझे बेहोश कर दिया गया है—समझ लें कि मुझे मार्फिया दिया गया है, अब मैं बिलकुल बेहोश पड़ा हूँ, तो भी खून अपना काम करेगा। हड्डियाँ अपना काम करेंगी। पेट अपना काम करेगा, श्वास चलती रहेगी, फेफड़े अपना काम करेंगे। सब काम जारी रहेगा। मैं तो बिलकुल बेहोश हूँ। तो इसको कैसे कर्म से जोड़ा जा सकता है? इसलिये जोड़ना जरूरी है कि मेरे जीने की आकांक्षा, 'लस्ट फॉर लिविंग', जीवेषणा मेरी गहरी से गहरी बेहोशी में भी मौजूद है और मेरी जीवेषणा के कारण ही ये सारी क्रियाएँ चलती हैं। अगर मेरी जीवेषणा

छूट जाय, तो स्वस्थ शरीर भी इसी वक्त बंद हो जायेगा। अगर मेरे जीने की इच्छा तत्काल छूट जाय, तो सारी क्रियाएँ तत्काल बंद हो जायेंगी। गहरे में मेरा ही अचेतन, मेरा ही अनकांशस मेरी क्रियाओं को भी चला रहा है; मैं नहीं चला रहा हूँ। लेकिन चूंकि अचेतन मन में अहंकार का कोई भाव नहीं है, इसलिये मैं उनको कर्म नहीं कहता।

आप रात सो रहे हैं; गहरी नींद में पड़े हैं। या हम इतने लोग हैं यहाँ, हम सारे यहीं सो जायँ और फिर कोई आदमी जोर से आकर चिल्लाये, 'राम', तो हजारों लोगों में कोई भी नहीं सुनेगा। सब सोये रहेंगे। राम भर करवट लेगा और कहेगा कि 'कौन रात डिस्टर्ब कर रहा है, कौन परेशान कर रहा है? किसने नाम लिया?' इतने लोग सो रहे हैं, किसी ने नहीं सुना। लेकिन जिसका नाम राम था, वह चाहे नींद में भी हो, सुन रहा था कि मेरा नाम लिया जा रहा है; मेरा नाम राम है। नींद के गहरे में भी इतना उसे पता है कि मैं राम हूँ।

एक माँ नींद में है। तूफान चल रहा हो, बाहर आँधी बह रही हो, बर्फ पड़ रही हो, वर्षा हो रही हो, बिजली कड़क रही हो, उसे पता नहीं चलता। उसका छोटा-सा बच्चा है। इतनी कड़कती बिजली में गूंजते बादलों के बीच जरा-सा रोता है, करवट लेता है, तो माँ जाग जाती है। जरूर कोई मन का हिस्सा पहरा दे रहा है। रात के गहरे में भी तूफान को नहीं सुनता, लेकिन बच्चे की आवाज सुनायी पड़ जाती है।

जो लोग सम्मोहन की गहरी खोज करते हैं, वे कहते हैं कि कितना ही किसी आदमी को सम्मोहित, हिप्नोटाइज कर दिया जाय, लेकिन गहरे में उसकी इच्छा के विपरीत उससे काम नहीं करवाया जा सकता है। जैसे एक सती स्त्री को, जिसके मन में एक पुरुष के अलावा दूसरे पुरुष का कभी कोई खयाल नहीं आया, अगर उसे हिप्नोटाइज (सम्मोहित) किया और गहरी बेहोशी में उससे कहें कि नाचो—वह नाचे। उससे कहें, दूध दुहो—वह दूध दुहे। उससे कहें, भागो—वह भागे। और अगर कहें कि इस पुरुष को आलिंगन करो, तो फौरन उस औरत का सम्मोहन टूट जायेगा। फौरन बेहोशी टूट जायेगी। वह स्त्री खड़ी हो जायेगी और कहेगी कि आप क्या बात कर रहे हैं! भागती थी, रोती थी, हँसती थी, यह सब करती थी, लेकिन कहा कि 'इस पुरुष का आलिंगन करो', तो आलिंगन नहीं होगा। सम्मोहन टूट जायेगा। क्यों? इतने गहरे में भी, इतने अचेतन में भी, उसकी जो गहरी से गहरी मनोभावना है, वह मौजूद है कि नहीं; यह नहीं हो सकता है।

मनुष्य के भीतर जो भी चल रहा है, उसमें हमारा सहारा है। सहारे का मतलब है: हमारी गहरी आकांक्षा है कि हम जियें, इसलिये नींद में भी जीने का काम चलता है, बेहोशी में भी चलता है।

मैं एक स्त्री को देखने गया, जो नौ महीने से बेहोश थी, 'कोमा' में पड़ी थी और

चिकित्सक कह रहे थे कि 'वह तीन साल तक बेहोश पड़ी रहेगी। वह ठीक नहीं हो सकेगी, लेकिन ऐसी ही बेहोश पड़ी रहेगी। इन्जेक्शन्स, दवाइयाँ और भोजन उसे दिया जाता रहेगा। कभी मर जायेगी।' बड़ी हैरानी की बात है कि वह नौ महीनों से बेहोश पड़ी है। तो मैंने कहा कि 'जब और जीने की, और लौटने की कोई आशा ही नहीं है, तो फिर जीने का क्या कारण होगा?' उन्होंने कहा कि 'हम कुछ भी नहीं कह सकते।' लेकिन मनस्विद् कहेगा कि जीने की आकांक्षा अभी भी गहरे में है। अचेतन से अचेतन में जीवेषणा अभी भी है। जीवेषणा जिलाये जायेगी।

अब पूछिये कि यह जीवेषणा किसकी है? जीवेषणा अगर हमारी ही हो तो शायद हम कभी-कभी चूक भी जायें। यह जीवेषणा परमात्मा की ही है, अन्यथा हम चूक जायें कभी-कभी। इसलिये जो भी गहरे हिस्से हैं जीवन के, वे हम पर नहीं छोड़े गये हैं, वे हमारे कर्म नहीं, वे हमारी क्रियाएँ बन गये हैं। जैसे, अगर श्वास लेना आपके ही हाथ में हो कि आप श्वास लें तो लें, न लें तो न लें; जैसे पैर का चलना : चले तो चले, न चले तो न चले; ऐसा अगर श्वास लेना भी आपके हाथ में हो तो आदमी दिन में दस-बीस दफा मर जाय; जरा चूके और मरे। तो आपके हाथ में बिलकुल व्यर्थ की बातें हैं। जिनके हेरफेर से कोई फर्क नहीं पड़ता, वे ही दिखायी भी पड़ती हैं। बाकी सब महत्त्व-पूर्ण चीजें गहरी जीवनधारा के हाथ में, परमात्मा के हाथ में हैं। वे आपके हाथ में नहीं हैं। नहीं तो आप कई दफे भूल-चूक कर जायें। भूल गये—दो मिनट श्वास न ली। दस रुपये का नोट खो गया; दस मिनट भूल गये, श्वास न ली; पत्नी गुस्से में आ गयी, भूल गये—दो मिनट हृदय न धड़काया, तो गये। न, वह आपके चेतन मन पर निर्भर नहीं है, अचेतन पर निर्भर है।

अचेतन एक तरफ आपसे जुड़ा है और दूसरी तरफ गहरे में परमात्मा से जुड़ा है। इसलिये जब हम कहते हैं : परमात्मा स्रष्टा है, क्रिएटर है, तो उसका यह मतलब नहीं होता, जैसा कि लोग समझ लेते हैं। माननेवाले भी और न मानने वाले भी, दोनों ही गलत समझते हैं। उसका मतलब यह नहीं कि किसी तारीख को देखकर, किसी मुहूर्त को देखकर परमात्मा ने दुनिया बना दी। माननेवाले भी ऐसा ही समझते हैं, विरोध करने वाले भी ऐसा ही समझते हैं। वे दोनों ही एक जैसे नासमझ हैं।

परमात्मा स्रष्टा है, उसका मतलब केवल इतना ही है कि इस क्षण भी उसकी शक्ति ही सृजन कर रही है, और जीवन को चला रही है; इस क्षण भी—कभी भी—वही है। गहरे में वही निर्मित करता है। अगर सागर में लहर उठती है, तो वह उसी की लहर है। अगर हवाओं में आँधी आती है, तो वह उसी की आँधी है। अगर प्राणों में जीवन आता है, तो वह उसी का जीवन है। अगर मस्तिष्क के जड़ सेल्स में बुद्धि चमकती है, तो वह उसी की बुद्धि है।

ऐसा नहीं कि इतिहास के किसी क्षण में—जैसे ईसाई कहते हैं कि जीसस से चार हजार चार वर्ष पहले एक तिथि कैलेण्डर में परमात्मा ने सारी दुनिया बना दी; तो मामला खत्म हो गया; तब से उसकी कोई जरूरत भी नहीं। एक दफा आर्किटेक्ट मकान बना गया, फिर उसको विदा कर दिया; अब उसको बार-बार बीच में लाने की क्या जरूरत है! परमात्मा ऐसा कुछ निर्माण करके चला नहीं गया है। जीवन की सारी प्रक्रिया उसकी ही प्रक्रिया है। एक छोर पर हम यहाँ चेतन हो गये हैं, वहाँ हमको भ्रम पैदा हुआ है कि हम कर रहे हैं।

कृष्ण वही कह रहे हैं कि तू कर रहा है, ऐसा मानना भर छोड़। कर्म तो होता ही रहेगा, क्रिया तो चलती ही रहेगी, तू अपना भ्रम भर बीच से छोड़ दे कि तू कर रहा है। जब तुझे दिखायी पड़ेगा कि तेरे पीछे, तेरे पास परमात्मा के ही हाथ तेरे हाथों में हैं; परमात्मा की ही आँख तेरी आँखों में है; परमात्मा की ही धड़कन तेरी धड़कन में है; परमात्मा की श्वास तेरी श्वास में है; तब रोयें-रोयें में तू अनुभव करेगा कि वही है। अपने में ही नहीं, दूसरे के रोयें-रोयें में भी तू अनुभव करेगा कि वही है।

एक बार अहंकार का भ्रम टूटे, एक बार आदमी अहंकार की नींद से जागे, तो पाता है कि मैं तो था ही नहीं। जो था, वह बहुत गहरा है, मुझसे बहुत पहले है। बाद में भी जो होगा—मेरे बाद भी, मैं उसमें हूँ। लेकिन मेरा 'मैं', लहर को आ गया अहंकार है। लेकिन अहंकार आ जाय तो भी लहर सागर से अलग नहीं हो जाती। होती तो सागर में ही है। लहर अगर सोचने भी लगे कि मैं उठ रही हूँ, तो भी लहर नहीं उठती; उठता तो सागर ही है। और लहर सोचने लगे कि मैं चल रही हूँ, तब भी चलती नहीं; चलता तो सागर है। और लहर गिरती है और सोचने लगे कि मैं गिर रही हूँ, तब भी लहर गिरती नहीं है; गिरता तो सागर ही है। और इस पूरे वहम में, पूरे भ्रम में जब लहर होती है, तब भी वह होती सागर ही है।

इतना ही कृष्ण कह रहे हैं कि तू पीछे देख, गहरे देख, ठीक से देख : करना तेरा नहीं है, करना उसका है। तू नाहक बीच में 'मैं' को खड़ा कर रहा है। उस 'मैं' को जाने दे।

एक छोटी-सी कहानी और अपनी आज की बात पूरी करूँ।

मैंने सुना है कि एक आदमी परदेश को गया। वहाँ की भाषा नहीं जानता। अपरि-चित है। किसी को पहचानता नहीं। एक बहुत बड़े महल के द्वार पर खड़ा है। लोग भीतर जा रहे हैं, तो वह भी उनके पीछे भीतर चला गया है। वहाँ देखा कि बड़ा साज-सामान है, लोग भोजन के लिये बैठ रहे हैं, तो वह भी बैठ गया है। भूख उसे जोर से लगी है। बैठते ही थाली बहुत-बहुत भोजनों से भरी उसके सामने आ गयी, तो उसने भोजन भी कर लिया। उसने सोचा मालूम पड़ता है कि सम्राट् का महल है और कोई भोज चल रहा है। अतिथि आ-जा रहे हैं। वह उठकर धन्यवाद देने लगा है। जिस आदमी

ने भोजन लाकर रखा है, उसे बहुत झुक-झुक कर सलाम करता है, लेकिन वह आदमी उसके सामने बिल बढ़ाता है। वह एक होटल है। वह आदमी उसे बिल देता है कि 'पैसे चुकाओ।' और वह सोचता है कि शायद मेरे धन्यवाद का प्रत्युत्तर दिया जा रहा है! वह बिल लेकर जेब में रखकर और धन्यवाद देता है कि बहुत-बहुत खुश हूँ कि मेरे जैसे अजनबी आदमी को इतना स्वागत, इतना सम्मान दिया। इतना सुंदर भोजन दिया। मैं अपने देश में जाकर प्रशंसा करूँगा।

लेकिन वह बैरा कुछ समझ नहीं पाता, वह उसे पकड़ कर मैनेजर के पास ले जाता है। वह आदमी सोचता है कि शायद मेरे धन्यवाद से सम्राट् का प्रतिनिधि इतना प्रसन्न हो गया है; यह शायद किसी बड़े अधिकारी से मिलने ले जा रहा है। जब वह मैनेजर भी उससे कहता है कि पैसे चुकाओ, तब भी वह समझता है कि धन्यवाद का उत्तर दिया जा रहा है। वह फिर धन्यवाद देता है। तब मैनेजर उसे अदालत में भेज देता है। तब वह समझता है कि अब मैं सम्राट् के सामने ही मौजूद हूँ। मजिस्ट्रेट उससे बहुत कहता है कि 'तुम पैसे चुकाओ, तुम यह क्या बातें करते हो? तुम पागल हो? किस तरह के आदमी हो?' लेकिन वह धन्यवाद ही दिये जाता है और कहता है, 'मेरी खुशी का कोई ठिकाना ही नहीं।'

तब वह मजिस्ट्रेट कहता है कि 'इस आदमी को गधे पर उलटा बिठाकर, इसके गले में एक तख्ती लगाकर कि यह आदमी बहुत चालबाज है, गाँव में निकालो।' जब इसे गधे पर बिठाया जा रहा था तो वह सोचता है कि 'अब मेरा प्रोसेशन, अब मेरी शोभा-यात्रा निकल रही है।' निकलती है—शोभा-यात्रा। दस-पाँच बच्चे भी ढोल पीटते हुए पीछे हो लेते हैं। लोग हँसते हैं, खिलखिलाते हैं, भीड़ लग जाती है। वह सबको झुक-झुक कर नमस्कार करता है। वह कहता है कि 'बड़े आनन्द की बात है, परदेशी का इतना स्वागत!'

फिर भीड़ में उसे एक आदमी दिखायी पड़ता है, जो उसके ही देश का है। उसे देखकर वह आनन्द से भर जाता है। क्योंकि जब तक अपने देश का कोई देखने वाला ही न हो, तो मजा भी बहुत नहीं। घर जाकर कहेंगे भी तो कोई भरोसा भी करेगा या नहीं करेगा! एक आदमी भीड़ में दिखायी पड़ता है, तो वह चिल्लाकर कहता है, 'अरे भाई, देख, ये लोग कितना स्वागत कर रहे हैं!' लेकिन वह आदमी सिर झुकाकर भीड़ से भाग जाता है। क्योंकि उसे तो यह पता है कि यह क्या हो रहा है! लेकिन वह गधे पर सवार आदमी समझता है कि ईर्ष्या से जला जा रहा है।

करीब-करीब अहंकार पर बैठे हुये हम इसी तरह की भ्रांतियों में जीते हैं। हमारा जीवन के तथ्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता, क्योंकि जीवन की भाषा हमें मालूम नहीं। और हम जो अहंकार की भाषा बोलते हैं, उसका जीवन से कहीं कोई ताल-मेल नहीं होता।

तीसरा प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, दिनांक ३० दिसम्बर १९७०
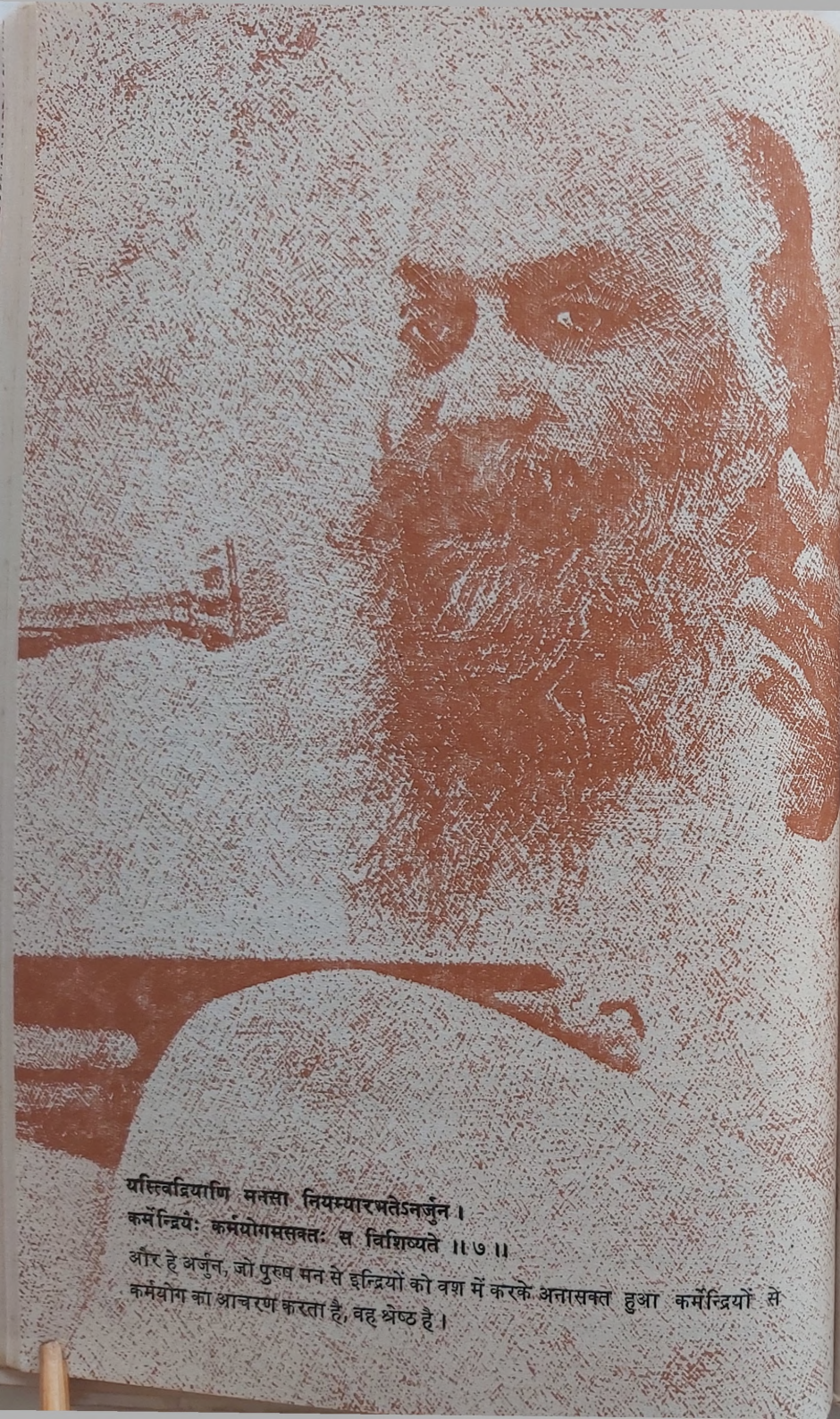
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।। ७ ।।

और हे अर्जुन, जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है ।

परमात्म समर्पित कर्म

मनुष्य के मन में वासना है, कामना है । उस कामना का परिणाम सिवाय दुःख के और कुछ भी नहीं है । उस वासना से सिवाय विषाद के, फ्रस्ट्रेशन के और कभी कुछ मिलता नहीं । लगता है : मिलेगा सुख, लेकिन मिलता है सदा दुःख । लगता है : मिलेगी शांति, मिलती है सदा अशान्ति । लगता है : उपलब्ध होगी स्वतंत्रता, लेकिन आदमी और भी गहरे बंधन में बँधता चला जाता है ।

कामना मनुष्य का दुःख है, तृष्णा मनुष्य की पीड़ा है । निश्चित ही वासना से ऊपर उठे बिना, वासना के पार हुये बिना कोई व्यक्ति कभी आनन्द को उपलब्ध नहीं हुआ है । पर इस वासना से ऊपर उठने के लिये दो काम किये जा सकते हैं; क्योंकि इस वासना के दो हिस्से हैं ।

एक तो वासना से भरा हुआ चित्त है, मन है; और एक है—वासना के उपयोग में आने वाली इंद्रियाँ । जो आदमी ऊपर से पकड़ेगा; उसे इंद्रियाँ पकड़ में आती हैं और वह इंद्रियों की शत्रुता में पड़ जाता है । कृष्ण ने कहा : 'वैसा आदमी नासमझ है, अज्ञानी है, मूढ़ है ।' लेकिन दूसरी बात वे कह रहे हैं कि 'वह मनुष्य श्रेष्ठ है, जो मन को ही रूपान्तरित करके इंद्रियों को वश में कर लेता है ।' इंद्रियों का वश में होना, इंद्रियों का मर जाना नहीं है । इंद्रियों का वश में होना, इंद्रियों का निर्वीर्य हो जाना नहीं है । इंद्रियों का वश में होना, इंद्रियों का अशक्त हो जाना नहीं है । क्योंकि, अशक्त को वश में भी किया तो क्या वश किया ? निर्बल को जीत भी लिया तो क्या जीता ?

कृष्ण कहते हैं : 'श्रेष्ठ है वह पुरुष जो इंद्रियों से लड़ता नहीं, बल्कि मन को ही रूपान्तरित करता है और इंद्रियों को वश में कर लेता है । इन्द्रियों को मारता नहीं, उनसे लड़ता नहीं, उन्हें वश में कर लेता है ।

निश्चित ही लड़ने की कला बिलकुल ही ना-समझी से भरी है । कहना चाहिये कि

वह कला नहीं है, कला का धोखा है। वश में करने की कला बहुत ही भिन्न है।

इंद्रियाँ किसके वश में होती हैं? साधारणतः तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम इंद्रियों के वश में हैं। इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है।

साधारणतः तो ऐसा होता है कि हम इंद्रियों के गुलाम हैं। साधारणतः तो जिंदगी ऐसी ही है, जहाँ इंद्रियाँ आगे चलती मालूम पड़ती हैं और हम पीछे चलते मालूम पड़ते हैं। जब मैं कह रहा हूँ: इंद्रियाँ आगे चलती मालूम पड़ती हैं, तो उसका मतलब है कि वासनाएँ आगे चलती मालूम पड़ती हैं। वासनाएँ हमें दिखायी नहीं पड़ती हैं, जब तक कि वे इंद्रियों में प्रविष्ट न हो जायँ। वासनाएँ तब तक अदृश्य होती हैं, जब तक इंद्रियों पर हावी न हो जायँ। इसलिये हमें तो इंद्रियाँ ही दिखायी पड़ती हैं; वासनाओं का जो सूक्ष्मतम अतीन्द्रिय रूप है, वह हमें दिखायी नहीं पड़ता है।

आपके मन में कोई भी वासना उठे तो वासना दिखायी नहीं पड़ती, जब तक उस वासना से सम्बन्धित इंद्रिय आविष्ट न हो जाय। अगर आपके मन में किसी को छूने की वासना उठी है तो तब तक उसका स्पष्ट बोध नहीं होता है, जब तक छूने के लिये शरीर आतुर न हो जाय। जब तक वासना शरीर को घेर नहीं लेती, आकार नहीं ले लेती—जब तक वासना इंद्रियों में गति नहीं बन जाती, तब तक हमें उसका पता नहीं चलता। इसलिये बहुत बार ऐसा होता है कि क्रोध का हमें तभी पता चलता है, जब हम कर चुके होते हैं। काम का हमें तभी पता होता है, जब वासना हम पर आविष्ट हो गयी होती है। हम 'पजेस्ड' (वशीभूत) हो गये होते हैं, तभी पता चलता है। और शायद तब तक लौटना मुश्किल हो गया होता है, तब तक शायद वापसी असंभव हो गयी होती है।

वासना हमारे आगे चलती है और हम छाया की तरह पीछे चलते हैं। मनुष्य की गुलामी यही है। और जो मनुष्य ऐसी गुलामी में है—उसे कृष्ण कहेंगे: वह निकृष्ट है, उसे अभी मनुष्य कहे जाने का हक नहीं है। मनुष्य कहलाने का हक उसे है, जिसकी वासनाएँ उसके पीछे चलती हैं। लेकिन इधर फ्रायड के बाद सारी दुनिया को यह समझाया गया है कि वासनाएँ कभी पीछे चल ही नहीं सकतीं; वासनाएँ आगे ही चलेंगी। और यह भी समझाया गया है कि वासनाओं को वश में किया ही नहीं जा सकता। आदमी को ही वासना के वश में रहना होगा। और यह भी समझाया गया है कि विल पावर या संकल्प की, सत्य की जितनी बातें हैं, वे सब झूठी हैं। आदमी के पास कोई संकल्प नहीं है।

इसके परिणाम ये हुये हैं कि आदमी ने इंद्रियों की गुलामी को परिपूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। आदमी राजी हो गया है कि हम तो वासनाओं के गुलाम रहेंगे ही। और जब गुलाम ही रहना है तो फिर ठीक तरह से, पूरी तरह से ही गुलाम हो जाना उचित है; क्योंकि मालिक होने का कोई उपाय ही नहीं है।

शरीरवादी सदा से यही कहते रहे हैं। सच तो यह है कि अधिक लोग शरीरवादी ही हैं। अधिक लोग चारवाक से ही सहमत हैं। अधिक लोग मार्क्स से ही सहमत हैं। अधिक लोग फ्रायड से ही सहमत हैं। अधिक लोग इस बात से ही राजी हैं कि हम शरीर से ज्यादा कुछ भी नहीं हैं। इसलिये शरीर की माँग ही हमारी जिंदगी है और शरीर की वासना ही हमारी आत्मा है। इसलिये ये जहाँ ले जायँ—अंधी इंद्रियाँ और अंधी वासनाएँ जहाँ ले जायँ—हमें वहीं भाग कर चले जाना है।

आदमी का वासनाओं पर कोई वश नहीं है। यह बात अगर एक बार कोई मानने को राजी हो जाय, तो वह सदा के लिये अपनी आत्मा खो देता है। क्योंकि आत्मा पैदा ही तब होती है, जब वासना पीछे हो और स्वयं का होना आगे हो।

आत्मा का जन्म ही तब होता है, जब वासना छाया बन जाय। जब तक वासना आगे होती है और हम छाया होते हैं, तब तक हममें आत्मा पैदा नहीं होती है। सिर्फ संभावना होती है, पोटेन्शियॅलिटी होती है—एक्चुएलिटी नहीं होती है। तब तक आत्मा हमारे लिये बीज की तरह होती है, वृक्ष की तरह नहीं होती है। कृष्ण कह रहे हैं: 'वह आदमी श्रेष्ठ है अर्जुन, जो अपनी इंद्रियों को मन के वश में कर लेता है।'

मन के वश में इंद्रियों को करियेगा कैसे?

हमें तो एक ही रास्ता दिखायी पड़ता है कि लड़ो, इंद्रियों को दबा दो, तो इंद्रियाँ वश में हो जायेंगी। दबाने से कोई इंद्रिय वश में नहीं होती। दबाने से सिर्फ इंद्रियाँ 'परव्हर्ट', विकृत होती हैं और सीधी माँगें तिरछी माँगें बन जाती हैं; और हम सीधे न चलकर पीछे के दरवाजे से पहुँचने लगते हैं; और पाखण्ड फलित होता है।

दबाना मार्ग नहीं है; फिर क्या मार्ग है?

मनुष्य की वासनाएँ तब तक उसे पकड़े रहती हैं, जब तक उसके पास संकल्प, 'विल' न हो, जब तक उसके पास संकल्प जैसी सत्ता का जन्म न हो।

इस संकल्प के सम्बन्ध में थोड़ा गहरे उतरना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना कोई आदमी कभी वासनाओं पर वश नहीं पा सकता है।

संकल्प का क्या अर्थ है? संकल्प का अर्थ इंद्रियों का दमन नहीं है। संकल्प का अर्थ है: स्वयं के होने का अनुभव; संकल्प का अर्थ है: स्वयं की मौजूदगी का अनुभव।

आपको भूख लगी है, शरीर कहता है कि भूख लगी है; आप कहते हैं कि 'सुन ली मैंने आवाज, लेकिन अभी मैं भोजन करने को राजी नहीं हूँ।' और अगर आप पूरे मन से यह बात कह सकें कि 'अभी मैं भोजन करने को राजी नहीं हूँ', तो शरीर तत्काल माँग बंद कर देता है।

जैसे ही शरीर को पता चल जाय कि आपके पास शरीर के ऊपर संकल्प भी है, वैसे ही शरीर तत्काल माँग बंद कर देता है। आपकी कमजोरी ही शरीर की ताकत बन

जाती है। आपकी ताकत ही शरीर की कमजोरी बन जाती है। लेकिन हम कभी शरीर से भिन्न अपनी कोई घोषणा नहीं करते।

कभी छोटे-छोटे प्रयोग करके देखना जरूरी है। बहुत छोटे प्रयोग हैं, जिनमें आप शरीर से भिन्न—अपने होने की घोषणा करते हैं। सारे धर्मों ने इस तरह के प्रयोग विकसित किये हैं। लेकिन करीब-करीब सभी प्रयोग नासमझ लोगों के हाथ में पड़कर व्यर्थ हो जाते हैं। उपवास इसी तरह का प्रयोग था, जो मनुष्य के संकल्प को जन्माने के लिये था।

आदमी अगर पूरे मन से कह सके कि नहीं चाहिये भोजन, तो शरीर माँग बंद कर देगा। और जब पहली दफा यह पता चलता है कि शरीर के अतिरिक्त भी मेरी कोई स्थिति है, तो आपके भीतर एक नयी ऊर्जा, नयी शक्ति जन्मने लगती है, अंकुरित होने लगती है।

नींद आ रही है और आपने कहा कि नहीं, मैं नहीं सोना चाहता हूँ। अगर यह बात टोटल है, पूरी है, अगर यह पूरे मन से कही गयी है, तो शरीर तत्काल नींद की आकांक्षा छोड़ देगा। आप अचानक पायेंगे कि नींद खो गयी है, और जागरण आ गया है। लेकिन हम जिंदगी में कभी इसका प्रयोग नहीं करते। हम कभी शरीर से भिन्न होने का कोई भी प्रयोग नहीं करते हैं; शरीर जो कहता है, हम चुपचाप उसको पूरा करते चले जाते हैं।

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि शरीर जो कहे, उसे आप पूरा न करें। लेकिन कभी किन्हीं-किन्हीं क्षणों में अपने को अलग अनुभव करना भी जरूरी है। और एक बार आपको यह अनुभव होने लगे कि शरीर से भिन्न भी आपका कुछ होना है, तो आप हैरान हो जायेंगे कि उसी दिन से आपके मन की ताकत आपकी इंद्रियों पर फैलनी शुरू हो जाती है।

गुरजिएफ, एक अद्‌भुत फकीर, अभी कुछ दिन पहले था। जैसा मैंने पिछली चर्चा में आपसे कहा कि अगर इस युग में हम सांख्य का कोई ठीक-ठीक व्यक्तित्व खोजना चाहें तो कृष्णमूर्ति हैं। और अगर हम योग का कोई ठीक-ठीक व्यक्तित्व खोजना चाहें तो वह जार्ज गुरजिएफ हैं।

गुरजिएफ एक छोटा-सा प्रयोग अपने साधकों से कराता था। बहुत छोटा। कभी आप भी करें तो बहुत हैरान होंगे और आपको पता चलेगा कि संकल्प का अनुभव क्या है। उस प्रयोग को वह कहता था : स्टॉप एक्सरसाइज।

वह अपने साधकों को कहता कि अचानक कहूँगा : 'स्टाप!' तो तुम जहाँ हो वहीं रुक जाना। अगर किसी ने हाथ उठाया था तो वह हाथ वहीं रुक जाय; अगर किसी की आँख खुली थी तो वह खुली रह जाय; अगर किसी ने बोलने को होठ खोले थे तो वे खुले रह जायें; अगर किसी ने चलने के लिये कदम उठाया था एक और एक जमीन पर था, तो वह वहीं रह जाय। 'स्टाप—ठहर जाओ', तो जो जहाँ है, वह वहीं ठहर जायेगा; जैसा

है, वैसा ही ठहर जाय। और जिन साधकों पर वह दो-तीन महीने यह प्रयोग करता—इस छोटे से अभ्यास का—उन साधकों को पता चलता कि जैसे ही वे ठहरते हैं, वैसे ही शरीर तो कहता है : पैर नीचे रखो; आँख तो कहती है : पलक झपकाओ; होंठ तो कहते हैं : बंद कर लो; लेकिन, वे रुक गये हैं—न आँख झपकेंगे, न पैर हटायेंगे, न हाथ हिलायेंगे। अब मूर्ति की तरह रह गये हैं। तीन महीने के थोड़े से अभ्यास में ही उन्हें पता चलना शुरू होता है कि उनके भीतर कोई एक और भी है, जो शरीर को जो चाहे वह आज्ञा दे सकता है।

कभी आपने अपने शरीर को आज्ञा दी है? कभी भी आपने आदेश दिया है? आपने सिर्फ आदेश लिये हैं; आपने कभी भी आदेश दिया नहीं है। 'वन वे ट्रैफिक' है अभी—शरीर की तरफ से आदेश आते हैं, शरीर की तरफ कोई आदेश जाता नहीं है; कभी नहीं जाता है। उसके परिणाम खतरनाक हुये हैं। उसका बड़े से बड़ा परिणाम यह है कि हमारी कल्पना ही मिट गयी है कि हमारे भीतर 'विल' जैसी, संकल्प जैसी भी कोई चीज है! और जिस व्यक्ति के पास संकल्प नहीं है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं हो सकता। संकल्पहीनता ही निकृष्टता है। संकल्पवान् होना ही आत्मवान् होना है।

कृष्ण कह रहे हैं : हे अर्जुन! वह मनुष्य श्रेष्ठ है जो अपनी इन्द्रियों को आज्ञा दे सकता है। जो कह सकता है : 'ऐसा करो'।

हम इन्द्रियों से पूछते हैं कि क्या करें। हम जिंदगी भर—जन्म से लेकर मृत्यु तक इंद्रियों को पूछते चले जाते हैं कि क्या करें। और इन्द्रियाँ बताये चली जाती हैं और हम करते चले जाते हैं। इसलिये हम शरीर से ज्यादा कभी कोई अनुभव नहीं कर पाते।

आत्म-अनुभव संकल्प से शुरू होता है। और मनुष्य की श्रेष्ठता संकल्प के जन्म के साथ ही यात्रा पर निकलती है।

●प्रश्न : भगवान् श्री, कृष्ण यहाँ मन से इंद्रियों को वश में करने के लिये कह रहे हैं; लेकिन आप तो मन को ही विसर्जित करने को कहते हैं; यह कैसी बात है?

कृष्ण भी मन को विसर्जित करने को कहेंगे। लेकिन मन विसर्जित करने के लिये होना भी तो चाहिये! अभी तो मन है ही नहीं और इंद्रियों के पीछे दौड़ना ही हमारा अस्तित्व है। हमारे पास मन जैसी, संकल्प जैसी कोई चीज नहीं है। पहले चरण पर संकल्प पैदा करना पड़ेगा और दूसरे चरण पर संकल्प को भी समर्पित कर देना होगा। लेकिन समर्पित तो वही कर पायेंगे, जिनके पास होगा। जिनके पास नहीं है, वे समर्पित क्या करेंगे!

हम एक आदमी से कहते हैं कि धन का त्याग कर दो। लेकिन त्याग के लिये धन तो होना चाहिये न! जब धन हो ही नहीं, तो त्याग क्या करेंगे? मन आपके पास है, या सिर्फ इंद्रियों की आकांक्षाओं के जोड़ का नाम आपने मन

समझा है ?

तो जब हमसे कोई कहेगा कि समर्पित कर दो मन को––परमात्मा के चरणों में, तो हमारे पास कुछ होता ही नहीं, जिसको हम समर्पित करें। हमारे पास केवल दौड़ती हुई वासनाओं का समूह होता है, जिनको समर्पित नहीं किया जा सकता।

किसी ने कभी कहा है कि वासनाओं को परमात्मा को समर्पित कर दो ? किसी ने कभी नहीं कहा। मन को समर्पित किया जा सकता है। एक 'इन्टिग्रेटेड विल'। (संगठित संकल्प) हो, तो मन को समर्पित किया जा सकता है। और समर्पण सबसे बड़ा संकल्प है। बड़े से बड़ा––अंतिम संकल्प जो है, वह समर्पण है।

समर्पण दूसरे चरण में संभव है। पहले चरण में तो संकल्प ही निर्मित करना पड़ेगा। आत्मा भी तो चाहिये। परमात्मा के चरणों में नैवेद्य चढ़ाना हो तो क्या वासनाओं को लेकर पहुँच जाइयेगा ? आत्मा चाहिये––उसके पास चढ़ाने को। 'आप' भी तो होना चाहिये ! आप हैं ? अगर बहुत खोजेंगे तो कहीं नहीं पायेंगे कि आप हैं। आप पायेंगे कि 'यह' इच्छा, 'यह' वासना है, 'वह' वासना है। आप कहाँ हैं ?

डेविड ह्यूम ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि 'मैंने डेल्फी के मंदिर पर लिखा हुआ वचन पढ़ा—'नो दाई सेल्फ—अपने को जानो' और तब से मैं अपने भीतर जा कर कोशिश करता हूँ कि अपने को जानूं। लेकिन मैं तो स्वयं को कहीं मिलता ही नहीं हूँ; जब भी मिलता है भीतर तो कोई इच्छा मिलती है, कोई विचार मिलता है, कोई वासना मिलती है, कोई कामना मिलती है। मैं तो कभी भीतर मिलता ही नहीं हूँ। मैं थक गया खोज-खोज कर। जब भी मिलती है तो कोई वासना, कोई कामना, कोई इच्छा, कोई विचार, कोई स्वप्न––मैं तो कहीं मिलता ही नहीं हूँ।' मिलेगा भी नहीं; क्योंकि स्वयं को जानने के पहले वासनाओं के बीज में स्वयं की सत्ता को भी अंकुरित करना पड़ेगा।

डेविड ह्यूम ठीक कहता है। आप भी भीतर जायेंगे तो आत्मा नहीं मिलेगी, विचार मिलेंगे, वासनाएँ मिलेंगी, इच्छाएँ मिलेंगी। आत्मा तो संकल्प के द्वार से ही मिल सकता है। इसलिये निश्चित ही धर्म का पहला चरण है : संकल्प को निर्मित करो—'क्रियेट दि विलफोर्स', और दूसरा चरण है : निर्मित संकल्प को सरेन्डर करो—समर्पित करो। पहला चरण है : आत्मवान् बनो; दूसरा चरण है : आत्मा को परमात्मा के चरणों में फूल की तरह चढ़ा दो। पहला चरण है : आत्मा को पाओ; दूसरा चरण है : परमात्मा को पाओ। आत्मा को पाना हो तो वासनाओं से ऊपर उठना पड़ेगा। और परमात्मा को पाना हो तो आत्मा से भी ऊपर उठना पड़ेगा।

आत्मा को पाना हो तो वासनाओं पर वश चाहिये; परमात्मा को पाना हो तो आत्मा पर भी वश चाहिये। लेकिन वह दूसरा चरण है। वह इसके विपरीत नहीं है। वह इसी

का आगे का कदम है। जिसके पास स्वयं का होना है, वही तो समर्पित कर सकेगा।

जीसस का एक बहुत अद्‌भुत वचन है, वह मैं आपको याद दिलाऊँ, जो कृष्ण की बात के बहुत करीब है। जीसस ने कहा है कि 'जो अपने को बचायेगा, वह अपने को खो देगा और जो अपने को खो देगा 'वह अपने को बचा लेगा।' लेकिन खोने या बचाने के पहले होना भी तो चाहिये।

गुरजिएफ के पास कोई जाता था और पूछता था कि मैं स्वयं को जानना चाहता हूँ, तो गुरजिएफ कहता था : 'आप हो ?'—आर यू ?' आप भी चौकेंगे। अगर आप जायँ ऐसे आदमी के पास और वह पूछे : 'आप हो ?' तो आप कहेंगे : 'हूँ तो !' लेकिन आपका होना सिर्फ एक जोड़ है। आप में से सारी वासनाएँ निकाल ली जायँ—और सारी इच्छाएँ और सारे विचार––तो आप एकदम खो जायेंगे––शून्य की भाँति।

आपके पास ऐसा कोई संकल्प नहीं है—जो विचार के पार हो, वासना से अलग हो, इच्छाओं से भिन्न हो। आपके पास आत्मा का कोई भी अनुभव नहीं है। आप सिर्फ एक जोड़ हैं, एक ए क्युमुलेशन––एक संग्रह। इस संग्रह को कहाँ समर्पित करियेगा ? कौन समर्पित करेगा ? समर्पित करने वाला भी भीतर नहीं है।

इसलिये कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि 'पहले तू श्रेष्ठ बन।' श्रेष्ठ बनने का अर्थ है कि पहले तू आत्मवान् बन, पहले तू मनस्वी हो। पहले तू संकल्प को उपलब्ध हो। फिर पीछे कहेंगे कृष्ण––अर्जुन से कि 'सब छोड़ दे और मेरी शरण में आ जा।' लेकिन छोड़ तो वही सकता है सब, जिसके पास संकल्प हो। लेकिन जो जरा-सा कुछ भी नहीं छोड़ सकता, वह सब कैसे छोड़ सकेगा ! जो एक पैसा नहीं छोड़ सकता, वह स्वयं को कैसे छोड़ सकेगा ! जो एक मकान नहीं छोड़ सकता, वह स्वयं की आत्मा कैसे छोड़ सकेगा ?

स्वयं को छोड़ने के पहले स्वयं का परिपूर्ण शक्ति से होना जरूरी है। इसलिये संकल्प धर्म की पहली साधना है; समर्पण अंतिम साधना है। कहें कि धर्म के दो ही कदम हैं। पहले कदम का नाम है : संकल्प (विल); दूसरे कदम का नाम है : समर्पण (सरेन्डर)। इन दो कदमों में यात्रा पूरी हो जाती है।

जो संकल्प पर रुक जायेंगे, उनको आत्मा का पता चलेगा, लेकिन परमात्मा का कोई पता नहीं चलेगा। जो वासना पर ही रुक जायेंगे, उनको वासना का ही पता चलेगा, आत्मा का कोई भी पता नहीं चलेगा। लेकिन जो आत्मा को भी समर्पित कर देंगे, उन्हें परमात्मा का पता चलता है। वह अंतिम घटना है––वह अल्टिमेट है। वह चरम––परम अनुभूति है; और उसके लिये कृष्ण अर्जुन के लिये, अ, ब, स, से शुरू कर रहे हैं। वे उससे कह रहे हैं कि 'पहले तू संकल्पवान् बन'; फिर पीछे जब देखेंगे कि उसके भीतर संकल्प पैदा हुआ है, तो उससे कहेंगे : 'अब तू सब छोड़ दे––'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज––अब तू सब छोड़; मेरी शरण में आ जा।' लेकिन, शरण में कम-

जोर लोग कभी नहीं आ सकते। यह सुनकर आपको कठिनाई होगी।

आमतौर से कमजोर लोग शरण में आते हैं। लेकिन, कमजोर आदमी कभी शरण में नहीं जा सकता। कमजोर आदमी के पास इतनी शक्ति ही नहीं होती कि दूसरे के चरणों में अपने को पूरा समर्पित कर दे। समर्पण बड़ी से बड़ी शक्ति है--बहुत कठिन, बहुत 'आरडुअस'।

आसान बात मत समझ लेना आप--समर्पण को। अमतौर से लोग समझते हैं कि हम कमजोर हैं, हम तो समर्पण में ही भगवान को पा लेंगे। लेकिन, कमजोर समर्पण कर नहीं सकता। कमजोर इतना कमजोर होता है कि उसका कोई 'स्व' होता ही नहीं। कमजोर होता ही नहीं; समर्पण करेगा किसका? हाँ, वह सिर चरणों में रख देता है। स्वयं को किसी के चरणों पर रखना बिलकुल और बात है। सिर तो बच्चे भी रख सकते हैं। स्वयं को चरणों में रखना और ही बात है।

स्वयं को चरणों में रखने की एक घटना याद आती है। कीर्केगार्ड (Kierkegaard) ने एक ईसाई कहानी की व्याख्या लिखी है। कहानी है कि एक दिन अब्राहीम को परमात्मा ने कहा कि 'तू अपने इकलौते बेटे को ला और मेरे मंदिर में उसकी गरदन काट कर चढ़ा दे।' ऐसी उसे आवाज आयी कि यह जाय और अपने बेटे को मंदिर में काटकर चढ़ा दे। वह उठा, उसने अपने बेटे को लिया और मंदिर में पहुँच गया। उसने तलवार पर धार रखी। बेटे की गरदन पर तलवार उठायी और गरदन काटने को था कि तब आवाज आयी कि 'बस, अब रुक जा! मैं तो सिर्फ यही जानना चाहता था कि तू समर्पण की बातें करता है, लेकिन समर्पण के योग्य शक्ति तुझमें है या नहीं।' लेकिन बेटे की गरदन काटने में भी उतनी शक्ति नहीं लगती, जितनी अपनी गरदन काटने में लगती है।

समर्पण का मतलब है: अपनी ही गरदन चढ़ा देना--सिर झुकाना नहीं। क्योंकि वह तो एक क्षण झुकाया और उठा लिया। समर्पण का मतलब है: झुके तो झुके रहे, झुके तो झुक गये। समर्पण का मतलब है: अब यह गरदन न उठेगी। समर्पण का मतलब है, अब हम गये चरणों में; अब वे चरण ही सब कुछ हैं, अब हम नहीं हैं। लेकिन कौन करेगा यह? यह वही कर सकता है, जिसने पहले संकल्प को संगृहीत कर लिया हो, जिसके भीतर एक 'इन्टिग्रेटेड इन्डिवीजुएशन' घटित हो गया हो, जिसके भीतर आत्मा 'क्रिस्टेलाइज्ड' हो गयी हो। जिसके भीतर आत्मा निर्मित हो गयी हो, वही आदमी आत्मा से आखिरी काम भी कर सकता है कि उसका समर्पण कर दे।

इसलिये कृष्ण अर्जुन को पहला पाठ दे रहे हैं, वे कह रहे हैं: श्रेष्ठ पुरुष वह है, जिसका मन वासनाओं पर, इंद्रियों पर वश पा लेता है।'

नियतं कुरु कर्म त्वं ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ८॥

'इसलिये शास्त्र-विधि से नियत किये हुये स्वधर्म कर्म को कर। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।'

कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। क्योंकि कर्म न करना, सिर्फ वंचना है, डिसेप्शन है। कर्म तो करना ही पड़ेगा। जो करना ही पड़ेगा, उसे होशपूर्वक करना श्रेष्ठ है। जो करना ही पड़ेगा, उसे जानते हुए करना श्रेष्ठ है। जो करना ही पड़ेगा, उसे स्पष्ट रूप से सामने के द्वार से करना श्रेष्ठ है। जब करना ही पड़ेगा तो पीछे के द्वार से जाना उचित नहीं। जब करना ही पड़ेगा तो अनजाने, बेहोशी में, अपने को धोखा देते हुए करना ठीक नहीं। क्योंकि, तब करना गलत रास्तों पर ले जा सकता है। जो अनिवार्य है--वह जाग्रत, स्वीकृतिपूर्वक, समग्र चेष्टा से ही किया जाना उचित है। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि जो करना ही है, उसे परिपूर्ण रूप से, जानते हुए, होशपूर्वक, स्वधर्म की तरह करना उचित है।

और एक दूसरी बात कहते हैं वे कि जो शास्त्र-सम्मत स्वधर्म है, उसे करना चाहिए। शास्त्र का अर्थ किताब नहीं है। शास्त्र-सम्मत का मौलिक और गहरा अर्थ है: आज तक जिन लोगों ने जाना उनके द्वारा सम्मत, जो जानते हैं उनके द्वारा सम्मत, जो पहचानते हैं उनके द्वारा सम्मत।

एक लम्बी यात्रा है मनुष्य की चेतना की, उसमें हम सौ पचास वर्ष के लिए आते हैं और बिदा हो जाते हैं। आदमी आता है, बिदा हो जाता है। लेकिन, आदमीयत चलती चली जाती है। आदमी के अनुभव हैं, करोड़ों वर्ष के, सार हैं अनुभवों के। आदमी ने जाना है और उस जाने को निचोड़ कर रखा है।

कृष्ण कह रहे हैं कि अनादि से, सदा से जानने वाले लोगों ने जिस बात को कहा है, उससे सम्मत स्वधर्म को करना चाहिए। इसमें दो बातें समझ लेनी जरूरी हैं।

एक तो--इस देश में बहुत प्राचीन समय से हमने समाज को चार वर्णों में बाँट रखा था। अर्जुन उसमें क्षत्रिय वर्ण में आता है। जन्म से ही हमने समाज को चार हिस्सों में बाँट रखा था। कोई 'हाइरेरकी' नहीं थी, कोई ऊँचा-नीचा नहीं था। सिर्फ गुणों का विभाजन था--वर्टिकल नहीं, हॉरिजॉन्टल। दो तरह के विभाजन होते हैं: एक तो क्षैतिजिक विभाजन होता है कि मैं यहाँ मंच पर बैठा हूँ, मेरी बगल में एक और आदमी बैठा है और और मेरे पीछे एक और आदमी बैठा है। हम तीनों एक ही तल पर बैठे हैं, लेकिन फिर भी तीन हैं। विभाजन हॉरिजॉन्टल है। एक विभाजन होता है कि मैं एक सीढ़ी पर खड़ा हूँ, दूसरा उससे ऊँची सीढ़ी पर खड़ा है, तीसरा उससे ऊँची सीढ़ी पर खड़ा है। तब भी विभाजन होता है, तब विभाजन वर्टिकल है।

भारत में जो वर्ण का प्राथमिक विभाजन था, वह हॉरिजॉन्टल था। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एक दूसरे के ऊपर-नीचे 'हाइरेरकी' में बँटे हुए नहीं थे। समाज में एक ही तल पर खड़े हुए चार विभाजन थे। बाद में हॉरिजॉन्टल विभाजन वर्टिकल हो गया, ऊपर-नीचे हो गया। जिस दिन से ऊपर-नीचे हुआ, उस दिन से वर्ण की जो कीमती आधारशिला थी, वह गिर गयी और वर्ण का सिद्धांत और वर्ण का मनस्-शास्त्र शोषण का आधार बन गया। लेकिन कृष्ण के समय तक यह बात घटित न हुई थी। कृष्ण कहते हैं कि जो तेरा स्वधर्म है, जिस वर्ण में तू जन्मा है और जिस वर्ण में तू बड़ा हुआ है और जिस वर्ण की तूने शिक्षा पायी है और जिस वर्ण की तेरी तैयारी है और जिस वर्ण से तेरा हड्डी, खून, माँस, तेरा मन, तेरे संस्कार, तेरी पूरी 'कंडीशनिंग' हुई है, उस वर्ण को छोड़कर भागने से उस वर्ण के काम को करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा क्यों? अनेक कारण हैं। दो-तीन गहरे कारणों पर खयाल कर लेना जरूरी है।

एक तो प्रत्येक व्यक्ति की अनंत संभावनाएँ हैं। लेकिन, उन अनंत संभावनाओं में से एक ही संभावना वास्तविक बन सकती है। सभी संभावनाएँ वास्तविक नहीं बन सकतीं। एक व्यक्ति जब जन्म लेता है तो उसके जीवन की बहुत यात्राएँ हो सकती हैं। लेकिन, अंततः एक ही यात्रा पर उसे जाना पड़ता है। जीवन की वास्तविकता हमेशा 'वन डायमेन्शनल', एक आयामी होती है और जीवन की पोटेन्शयलिटी मल्टी-डायमेन्शनल होती है, जीवन की संभावना अनंत आयामी होती है।

हम एक बच्चे को डॉक्टर भी बना सकते हैं, वकील भी बना सकते हैं और इंजीनियर भी बना सकते हैं। हम एक बच्चे को बहुत-बहुत रूपों में ढाल सकते हैं। बच्चे में बहुत लोच है, वह अनंत आयामों में जाने की संभावना रखता है। लेकिन, जायेगा एक ही आयाम में। हम उसे अनंत आयामों में नहीं ले जा सकते और ले जायेंगे तो हम सिर्फ उसको विक्षिप्त कर देंगे, पागल कर देंगे।

आज विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है। वह कहता है: प्रत्येक व्यक्ति के जानने की क्षमता अनंत है। लेकिन जब भी कोई व्यक्ति जानने जायेगा तो स्पेशलाइजेशन (विशेषज्ञता) प्राप्त करेगा। अगर एक व्यक्ति जानने निकलेगा तो वह डॉक्टर ही हो पायेगा। अब तो पूरा डॉक्टर होना मुश्किल है, क्योंकि डॉक्टरी की भी बहुत शाखाएँ हैं। वह कान का डॉक्टर होगा कि आँख का डॉक्टर होगा कि हृदय का डॉक्टर होगा कि मस्तिष्क का डॉक्टर होगा! डॉक्टरी की भी अनेक शाखाएँ हैं।

मैंने तो एक मजाक भी सुनी है कि आज से पचास साल बाद एक औरत एक डॉक्टर के दरवाजे पर अन्दर प्रविष्ट हुई है और उसने कहा कि मेरी आँख में बड़ी तकलीफ

है। डॉक्टर उसे भीतर ले गया और फिर पूछा: 'कौन-सी आँख में! बायीं या दायीं? क्योंकि मैं सिर्फ दायीं आँख का डॉक्टर हूँ। बायीं आँख का डॉक्टर पड़ोस में है।'

असल में एक आँख भी इतनी बड़ी फिनॉमिनॅन है, एक छोटी-सी आँख भी इतनी बड़ी घटना है कि उसे एक आदमी पूरी जिंदगी जानना चाहे तो भी पूरा नहीं जान सकता है। इसलिए स्पेशलाइजेशन हो जायेगा, इसलिए विशेषज्ञ पैदा होगा ही; उससे बचा नहीं जा सकता है। आज पश्चिम में विज्ञान के इस तरह के विशेषज्ञ पैदा हुए हैं कि एक आदमी गणित को जानता है तो गणित को ही जानता है। फिजिक्स के सम्बन्ध में वह उतना ही ना-समझ है, जितना ना-समझ कोई और आदमी है। और जो आदमी फिजिक्स को जानता है, वह केमिस्ट्री के सम्बन्ध में उतना ही अज्ञानी है, जितना गाँव का कोई किसान। प्रत्येक व्यक्ति की जानने की एक सीमा है और उस सीमा में उसको यात्रा करनी पड़ती है। और रोज सीमा नैरो, सँकरी होती चली जायेगी।

जैसे आज पश्चिम में विज्ञान स्पेशलाइज्ड हुआ, ऐसे ही भारत में हजारों साल पहले हमने चार व्यक्तित्वों को स्पेशलाइज्ड कर दिया था। हमने कहा था कि जब कुछ लोग क्षत्रिय ही होना चाहते हैं, तो उचित है कि उन्हें बचपन से ही क्षत्रिय होने का मौका मिले। हमने सोचा कि जब कुछ लोग ब्राह्मण ही हो सकते हैं और क्षत्रिय नहीं हो सकते हैं तो उचित है कि उन्हें बचपन के पहले क्षण से ही ब्राह्मण की हवा मिले, ब्राह्मण का वातावरण मिले, ताकि उनका एक क्षण भी व्यर्थ न जाय।

इसमें एक और गहरी बात आपसे कह दूँ जो कि साधारणतः आपके खयाल में नहीं होगी और वह यह है कि जब हमने यह बिलकुल तय कर दिया कि जन्म से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण हो जायेगा और कोई व्यक्ति क्षत्रिय हो जायेगा, तब भी हमने यह उपाय रखा था कि कभी अपवाद हो तो हम व्यक्तिओं को दूसरे वर्णों में प्रवेश दे सकते थे। लेकिन वह एक्सेप्शन (अपवाद) की बात थी। वह नियम नहीं था, नियम की जरूरत न थी। कभी-कभी ऐसा होता था कि कोई विश्वामित्र वर्ण बदल लेता था, लेकिन यह अपवाद था, यह नियम नहीं था। साधारणतः जो व्यक्ति जिस दिशा में दीक्षित होता था, जिस दिशा में निर्मित होता था, वह उसी दिशा में आनंदित होता था, उसी दिशा में यात्रा करता था।

कृष्ण भी अर्जुन को कह सकते थे कि तू वर्ण बदल ले, लेकिन कृष्ण बहुत भलीभाँति अर्जुन को जानते हैं। वह क्षत्रिय होने के अतिरिक्त कुछ और हो नहीं सकता है। उसका रोआँ-रोआँ क्षत्रिय का है, उसकी श्वास-श्वास क्षत्रिय की है। सच तो यह है कि अर्जुन जैसा क्षत्रिय फिर दुबारा हम पैदा नहीं कर पाये। इसके स्वधर्म के

बदलने का कोई उपाय नहीं है। इसका व्यक्तित्व 'वन डायमेन्शनल', एक आयामी हो गया है। सारी तैयारी उसकी जिस काम के लिए है, उसी को वह छोड़ कर भागने की बात कर रहा है।

जब हमने यह तय कर लिया था कि लोग जन्म से ही चार वर्णों में विभक्त होंगे तो हमने आत्माओं को भी चुनावपूर्वक जन्म लेने की सुविधा दे दी थी। यह जरा खयाल में ले लेना जरूरी है और इस पर ही वर्णों का जन्मगत आधार टिका था। आज जो लोग भी वर्ण के विरोध में बात करते हैं, उन्हें इस सम्बन्ध का जरा भी, कुछ पता नहीं है।

जैसे ही एक व्यक्ति मरता है, तो उसकी आत्मा नया जीवन खोजती है। पिछले जन्मों में उसने जो कुछ किया है, सोचा है, पिछले जन्म में वह जो कुछ बना है, पिछले जन्म में उसकी जो-जो निर्मिति हुई है, उसके आधार पर वह नया गर्भ खोजता है। वर्ण की व्यवस्था ने उस गर्भ खोजने में आत्माओं के लिए बड़ी सुविधा बना दी थी। एक ब्राह्मण मरते ही ब्राह्मण-गर्भ को खोज पाता था। वह सरल था। इतनी कठिन नहीं रह गयी थी वह बात; वह बहुत आसान बात हो गयी थी। वह उतनी ही आसान बात थी, जैसे हमने दरवाजों पर आँख के स्पेशलिस्ट की तख्ती लगा रखी है, तो बीमार को खोजने में आसानी है। हमने हृदय की जाँच करने वाले डॉक्टर की तख्ती लगा रखी है, तो बीमार को खोजने में आसानी है। ठीक ऐसे ही हमने आत्मा को भी उसके अपने इंट्रोवर्ट या ऐक्स्ट्रोवर्ट होने की जो भी सुविधा और संभावना है उसके अनुसार गर्भ खोजने के लिए वर्ण-नियम की सील लगा रखी थी। इसलिए आमतौर से यह होता था कि ब्राह्मण सैकड़ों जन्मों तक ब्राह्मण के गर्भ में प्रवेश कर जाता था। क्षत्रिय सैकड़ों जन्मों तक क्षत्रिय का गर्भ खोज लेता था। इसके परिणाम बहुत कीमती थे।

इसका मतलब यह हुआ कि हम एक जन्म में ही स्पेशलाइजेशन नहीं देते थे। हम सैकड़ों जन्मों की श्रृंखला में स्पेशलाइजेशन दे देते थे। अगर किसी दिन यह हो सके कि आइंस्टीन फिर एक ऐसे बाप के घर में पैदा हो जाय जो फिजिसिस्ट हो, अगर यह सम्भव हो सके कि आइंस्टीन को फिर नये जन्म के साथ ही——जहाँ उसका पिछला जन्म समाप्त हुआ था, वहाँ जो-जो उसने विकसित किया था, उसको विकास करने का मौका मिल जाय, तो हम दुनिया में बहुत-बहुत विकास करने की संभावनाएँ पैदा कर पायेंगे। लेकिन आइंस्टीन को फिर नया गर्भ खोजना पड़ेगा। हो सकता है: वह एक घर में पैदा हो, जो दुकानदार का घर है और तब उसकी पिछले जन्म की या और नयी यात्रा में बहुत व्यवधान पड़ जायेगा।

यह आज हमारी कल्पना में भी आना मुश्किल है कि अनेक जन्मों की श्रृंखला में

भी व्यक्ति को हमने चैनेलाइज करने की कोशिश की थी। इसलिये कृष्ण कहते हैं कि 'शास्त्र-सम्मत वह कर्म कर जो अनन्त-अनन्त दिनों से अनन्त-अनन्त लोगों के द्वारा जाने हुए विज्ञान के अनुसार है। तेरी आत्मा आज ही कोई क्षत्रिय हो, ऐसा भी नहीं है। क्षत्रिय होना तेरा बहुत जन्मों का स्वधर्म है। उसे ले कर तू पैदा हुआ है। आज तू अचानक उससे मुकरने की बात करेगा तो तू सिर्फ एक असफलता बन जायेगा। तेरी जिंदगी एक विषाद, एक फ्रस्ट्रेशन, एक भटकाव हो जायेगी। युद्ध न करने से तेरी जिंदगी अनुभव की उस चरम सीमा को, उस पीक एक्सपीरियन्स को नहीं पा सकती, जो तू क्षत्रिय होकर ही पा सकता है।'

जब भी लोग वर्ण के विरोध में या पक्ष में बोलते हैं, तो उन्हें कोई भी अंदाज नहीं है कि वर्ण के पीछे अनन्त जन्मों का विज्ञान है। उसमें ध्यान इस बात का है कि हम व्यक्ति की आत्मा को दिशा दे सकें, ताकि वह अपने योग्य, अपने स्वधर्म के अनुकूल गर्भ खोज सके। आज धीरे-धीरे कन्फ्यूजन (उलझन) पैदा हुई है। आज धीरे-धीरे सारी व्यवस्था टूट गयी है, क्योंकि सारा विज्ञान खो गया। और आज हालत यह है कि आत्माओं को निर्णय करना अत्यंत कठिन होता चला जाता है कि वे कहाँ जन्म लें और जहाँ भी जन्म ले, वहाँ से उनकी पिछली यात्रा का तारतम्य ठीक से जुड़ेगा या नहीं जुड़ेगा। यह बिलकुल सांयोगिक हो गयी है बात। इसको हमने वैज्ञानिक विधि बनायी थी।

ऐसे तो नदियाँ भी बहती हैं, लेकिन जब विज्ञान विकसित होता है तो हम नहरें पैदा कर लेते हैं। नदियाँ भी बहती हैं, लेकिन नहरें सुनियोजित बहती हैं। वर्ण की व्यवस्था आत्माओं के लिए नहर का काम करती थी। वर्ण की व्यवस्था जिस दिन टूट गयी, उस दिन से आत्माएँ नदियों की तरह बह रही हैं। अब उनकी यात्रा का कोई सुसम्मत मार्ग नहीं है। इसलिए कृष्ण कहते हैं: शास्त्र-सम्मत अर्थात् उस दिन तक जाने गये आत्माओं का जो विज्ञान था, उससे सम्मत् जो बात है, अर्जुन, तू उसके अनुसार अपने स्वधर्म को कर। वही श्रेयस्कर है और वैसे भी न-करने से, सदा, करना श्रेयस्कर है, क्योंकि करने से बचने का कोई उपाय नहीं।

●प्रश्न: भगवान् श्री, पिछले श्लोक में आपने संकल्प की बात की, तो संकल्प में और इन्द्रियों के दमन में क्या फर्क है? हम जानना चाहते हैं।

संकल्प और इंद्रियों के दमन में बुनियादी फर्क है। संकल्प पॉजिटिव एक्ट है, विधायक कृत्य है और इंद्रियों का दमन निगेटिव एक्ट है, नकारात्मक कृत्य है। इसे ऐसा समझें: एक आदमी को भूख लगी है। वह भूख को दबा रहा है, यह नकारात्मक है। वह यह नहीं कह रहा है कि 'मैं खाना नहीं खाऊँगा, भूख अब मत लग।' नहीं, वह यह नहीं कह रहा है। मन में तो यह सोच रहा है कि खाना खाना है। भूख लगी

है, उसे उभार रहा है, और दबा भी रहा है। लेकिन उसका कोई पॉजिटिव विल (विधायक संकल्प) नहीं है, जो कहे कि 'नहीं खाना है; बात बंद।' ऐसा कोई विधायक कृत्य नहीं है। भूख लगी है, वह उसको दबाये जा रहा है। भूख से लड़ रहा है; लेकिन भूख से अन्यथा उसके पास कोई संकल्प का जन्म नहीं हो रहा है।

इसे ऐसा समझें कि एक आदमी के भीतर कोई कामना उठी है, समझें कि काम-वासना उठी है और जिसके प्रति उठी है, उसके साथ काम का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सामाजिक परिस्थिति प्रतिकूल होगी, इसलिए सम्भव नहीं है। तब वह वासना को उकसा रहा है और दबा भी रहा है; अगर सम्भव हो तो वासना को पूरा करना चाहेगा। लेकिन सम्भव नहीं है, असुविधापूर्ण है, खतरनाक है, सुरक्षा नहीं है, मर्यादा के बाहर है, समाज के नियम के विपरीत है, प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा, अहंकार के पक्ष में नहीं पड़ता है; पत्नी क्या कहेगी ? पिता क्या कहेगा ? भाई क्या कहेगा ? लोग क्या कहेंगे ?—ये सारी बातें नकारात्मक हैं, इसलिए वह अपनी काम-वासना को दबा रहा है। हालाँकि साथ में ही वह काम-वासना से बँधा हुआ उस स्त्री के सम्बन्ध में अपनी कल्पना को भी उभारता चला जा रहा है। रस भी ले रहा है, दबा भी रहा है। इससे विल (संकल्प) पैदा नहीं होगी, इससे विल थोड़ी बहुत होगी तो वह भी नष्ट हो जायेगी।

लेकिन संकल्पवान् आदमी न इसकी फिक्र कर रहा है कि कौन क्या कहेगा, न वह फिक्र कर रहा है कि पत्नी क्या कहेगी, भाई क्या कहेगा, समाज क्या कहेगा ? यह कोई सवाल नहीं है। वह आदमी यह कह रहा है कि 'मेरे भीतर ऐसी कोई वासना न उठ आये, जिसमें मेरा वश न हो। और कोई डर नहीं है। और कोई कारण नहीं है। सिर्फ मैं अपने भीतर वासनाओं के पीछे नहीं चलना चाहता हूँ।' वह मालिक होना चाहता है, इसलिए वासना से वह कहता है कि 'चुप रह।' तब फिर वह कल्पनाएँ नहीं करता, इमेजिनेशन नहीं करता। सेक्सुअल इमेज पैदा नहीं करता, प्रतिमाएँ नहीं बनाता, सपने नहीं देखता। वह कहता है : 'बस'। और यह जो 'बस' है, यह किसी चीज को दबाने में कम लगता है, किसी चीज को जगाने में ज्यादा लगता है। अब वह अपने को जगा रहा है। वह कह रहा है कि इतनी ताकत मुझमें होनी चाहिए कि मैं जब कहूँ : 'बस', तो बात समाप्त हो जाय। तब उसके भीतर संकल्प पैदा होगा। संकल्प एक क्रिएटिव ऐक्ट (सृजनात्मक) कृत्य है। संकल्प अपने भीतर किसी नयी शक्ति को जगाना है। और दमन अपने भीतर पुरानी वासनाओं की शक्तियों को दबाना है। दबाने में पुरानी शक्तियाँ ही नजर में होंगी, उठाने में नयी शक्ति का आविर्भाव होगा।

इस नयी शक्ति के आविर्भाव के लिए सीधा वासनाओं से प्रयोग करना शुभ नहीं

होता। ज्यादा शुभ होता है—और तरह की चीजों से शुरू करना। जैसे कि सर्दी चल रही है और आप सर्दी में बैठे हैं और आप अपने भीतर उस शक्ति को जगा रहे हैं, जो इस सर्दी को झेलेगी, लेकिन भागेगी नहीं। आप कहते हैं : मैं इस सर्दी में घण्टे भर बैठूँगा—भागूँगा नहीं। अब इसमें कोई समाज का डर नहीं है। कोई सामाजिक नियम-नैतिकता नहीं है। कोई बात नहीं है। आप कहते हैं : मैं भागूँगा नहीं। एक घण्टा मैं सर्दी को झेलने की तैयारी करके बैठा हूँ और देखूँगा कि मेरे भीतर कोई शक्ति जगती है जो सर्दी को घण्टे भर झेल पाये।' यहाँ आप कुछ दबा नहीं रहे हैं, आप कुछ जगा रहे हैं।

तिब्बत में तो एक पूरा प्रयोग ही है, जिसको 'हीट योग' कहते हैं, जिसको संकल्प से गर्मी पैदा करना कहते हैं और ल्हासा यूनिवर्सिटी में प्रत्येक विद्यार्थी को परीक्षा के साथ उस प्रयोग में से भी गुजरना पड़ता था। वह परीक्षा भी बड़ी अजीब थी। सर्द बर्फ से भरी रात में विद्यार्थियों को नग्न खड़ा रहना पड़ेगा और उनके शरीर से पसीना चूहना चाहिए, तब वे परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकेंगे। प्रयोग है कि अगर संकल्पपूर्वक आप कहें कि सर्दी नहीं है और गर्मी है, तो शरीर पसीना छोड़ता है। हिप्नोसिस में किसी को भी छूट जाता है।

अगर किसी को बेहोश कर दें और कहें कि 'तेज धूप पड़ रही है और गर्मी सख्त है', तो उस आदमी के माथे से, शरीर से पसीना बहना शुरू हो जायेगा। गर्मी पड़ रही हो, लोग पसीने से भरे हों और एक हिप्नोटाइज्ड आदमी बेहोश पड़ा हो और अगर हिप्नोटिस्ट उससे कहे कि 'सर्दी बहुत जोर की है, बर्फ पड़ रही है, बाहर से ठण्डी हवाएँ आ रही हैं, हाथ-पैर कँप रहे हैं', तो उस गर्मी की हालत में भी उसके हाथ-पैर कँपने शुरू हो जायेंगे।

अगर बेहोशी, सम्मोहन की हालत में आपके हाथ पर एक साधारण रुपया रख दिया जाय और आपसे कहा जाय कि हाथ पर अंगारा रखा है, तो आप इस तरह चीखकर उसको फेंकेंगे, जैसे कि मानों वास्तव में हाथ पर अंगारा हो। यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन, हाथ पर फफोला भी आ जायेगा! क्योंकि, जब संकल्प ने स्वीकार कर लिया कि अंगारा है, तो शरीर को स्वीकार करना ही पड़ता है। अगर हाथ ने मान लिया कि अंगारा है, तो शरीर को जलना ही पड़ेगा। फफोला उठ ही आयेगा।

तो ल्हासा यूनिवर्सिटी में तिब्बती लामा जब अपनी पूरी शिक्षा करके बाहर निकलेगा तो उसे यह भी प्रमाण देना पड़ेगा। यह संकल्प की परीक्षा होगी। पसीना तो सभी को आ जायेगा। लेकिन, यह कैसे पता चलेगा कि पहला कौन आया ? दूसरा कौन आया ? तो सबके पास पानी में डुबाये हुए गीले कपड़े रखे रहेंगे। उन कपड़ों को पहनो और शरीर को इतना गरमा लो कि कपड़े सूख जायँ। तो जो ज्यादा

कपड़े रात भर में सुखा देगा, वह प्रथम। जो उससे कम सुखा सकेगा, वह द्वितीय। जो उससे भी कम सुखा पायेगा, वह तृतीय। और अब यह कोई तिब्बत की ही बात नहीं रह गयी है, आज तो पश्चिम की भी बहुत-सी प्रयोगशालाओं में सम्मोहन के द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मनुष्य के मन का संकल्प जो स्वीकार कर ले, वही घटित होना शुरू हो जाता है।

यदि संकल्प को जगायें तो आपको वासनाओं से लड़ना न पड़ेगा। वासनाओं को दबाना ही इसलिए पड़ता न कि संकल्प पास में नहीं है। संकल्प पास में होगा तो दबाना नहीं पड़ेगा।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहीं अपने संस्मरण में एक मजेदार बात लिखी है। बर्ट्रेन्ड रसेल तो काफी वर्ष जिंदा रहा; एक सदी के करीब जिंदा रहा; तो उसने दुनिया बहुत रंगों में देखी। उसने लिखा है कि 'अब जब मैं ऑक्सफर्ड या केम्ब्रिज जाता हूँ तो बड़े माइक से शोरगुल मचाना पड़ता है कि चुप हो जाओ, चुप हो जाओ। उपकुलपति आ रहे हैं––वाइस चांसलर आ रहे हैं, चुप हो जाओ। फिर भी कोई चुप नहीं होता। और जब शुरू-शुरू में मैं यूनिवर्सिटी में गया था तो जैसे ही भीड़ चुप होने लगती थी, विद्यार्थियों की, तो हम समझते थे कि वाइस चांसलर आ रहे हैं। जैसे ही चुप्पी छाने लगती थी, वैसे ही हम समझते थे : उप-कुलपति आ रहे हैं। लोगों का चुप हो जाना बताता था कि गुरु आ रहे हैं। अब चिल्लाना पड़ता है कि चुप हो जाओ क्योंकि गुरु आ रहे हैं। फिर भी कोई चुप नहीं होता।' जब चिल्लाना पड़ेगा तो कोई चुप नहीं होगा। जब चिल्लाना पड़ेगा तो चुप कौन होगा?

जब संकल्प होता है भीतर, तो वासनाएँ चुप हो जाती हैं। जब संकल्प नहीं होता तो वासनाओं को जबरदस्ती चुप करना पड़ता है। वह संकल्प के अभाव के कारण मुखर है।

गुरु की पुरानी परिभाषा आपसे कहूँ। अब साधारणतः हम कहते हैं कि गुरु के पैर छूने चाहिए। पुरानी परिभाषा और है। वह यह कहती है कि जिसके चरण के पास पहुँच कर पैर छूना ही पड़े, वह आदमी गुरु है। अब हम कहते हैं : 'पिता को आदर करना चाहिए।' पिता की पुरानी परिभाषा और है। जिसको आदर दिया ही जाता है, वह पिता है। आज नहीं कल हम माताओं को सिखायेंगे कि बच्चों को प्रेम करना ही चाहिए; सिखायेंगे ही, सिखाना ही पड़ेगा। लेकिन बच्चे को जो प्रेम देती है—वही माँ है। 'प्रेम करना चाहिए'—तो बात ही फिजूल हो गयी।

संकल्प जब भीतर होता है, पॉजिटिव (विधायक) शक्ति जब भीतर होती है, तो वासनाओं को दबाना नहीं पड़ता है। इशारा ही काफी होता है। इधर संकल्प खड़ा हुआ, उधर वासना बिदा हुई। वासना दबानी पड़ती है, क्योंकि संकल्प भीतर

नहीं है।

वासनाओं को दबा कर संकल्प पैदा नहीं होगा। संकल्प पैदा होगा तो वासनाओं से छुटकारा होगा। और उस संकल्प की दिशा में आप सिर्फ वासनाओं से न लड़ते रहें। एक नियम खयाल में ले लें कि आप जिस चीज से लड़ते हैं, उस चीज पर आप जरूरत से ज्यादा ध्यान दे देते हैं। और जिसको भी ध्यान मिल जाता है, वह मजबूत हो जाता है।

वासनाओं के लिए ध्यान भोजन है। अगर कोई आदमी सेक्स से लड़ेगा तो उसका सेक्स बढ़ेगा, कम नहीं होगा। क्योंकि सेक्स पर जितना ध्यान दिया जायेगा, उतना ही सेक्स शक्तिशाली होता चला जाता है। ध्यान भोजन है। आपने ध्यान दिया कि सेक्स और शक्ति पकड़ेगा। सेक्स की फिक्र छोड़ें। इसलिए हमने जो शब्द खोजा, वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का मतलब आपने सोचा है कभी! उसका मतलब होता है : ब्रह्म में चर्या––ब्रह्म में डूबना। हम कहते हैं : काम-वासना की फिक्र छोड़ो, तुम तो ब्रह्म में डूबने की फिक्र करो। इधर तुम ब्रह्म में डूबोगे, उधर काम-वासना बिदा होने लगेगी। काम-वासना से लड़े कि मुश्किल में पड़े। फिर वह बिदा नहीं होगी, फिर वह पीछा करेगी।

लॉ ऑफ रिवर्स इफेक्ट––विपरीत परिणाम का एक नियम है। जिसको पीछे पश्चिम में फ्रांस के एक विचारक इमाइल कुए ने खोजा है। उसका कहना है कि आप जो भी करना चाहते हैं, अगर बहुत ज्यादा कोशिश की तो उससे विपरीत परिणाम आ जाता है। जैसे एक नया आदमी साइकॅल चलाना सीखता है। साठ फीट चौड़े रास्ते पर साइकॅल चलाता है। किनारे पर मील का पत्थर लगा है। नया सिक्खड़ है; एकदम से पत्थर उसको पहले दिखायी पड़ता है। इतना बड़ा, साठ फीट चौड़ा रास्ता उसे दिखायी नहीं पड़ता है। उसे दिखायी पड़ता है कि मरे, अब कहीं यह पत्थर से टकराहट न हो जाय। और जैसे ही 'पत्थर से टकराहट न हो जाय' यह निगेटिव (निषेधात्मक) खयाल उसको पकड़ा कि रास्ता मिटा और पत्थर ही अब उसको दिखायी पड़ेगा। अब उसकी साइकॅल चली––पत्थर की तरफ। अब वह घबड़ाया। जितनी साइकॅल चली पत्थर की तरफ, उतना वह घबड़ाया; और उतना उसने ध्यान दिया पत्थर को कि बचना है इस पत्थर से। लेकिन, जिससे बचना है, उसमें ध्यान देना पड़ेगा और जिस पर ध्यान देना पड़ेगा, उससे बचना मुश्किल है। वह जाकर टकरायेगा अंधा आदमी भी साइकॅल चलाये तो सौ में एक मौका है—पत्थर से टकराने का। क्योंकि, रास्ता साठ फीट चौड़ा है। लेकिन, यह आँखवाला पत्थर पर पहुँच जाता है एकदम। यह मामला क्या है? यह पत्थर पर हिप्नोटाइज्ड हो जाता है। 'उसको पत्थर से बचना है', बस, यही उसकी मुश्किल हो जाती है। इसी

में वह उलझ जाता है। और, न हो, यह चाहने के कारण, वही हो जाता है।

आपने अगर तय किया कि क्रोध न करेंगे तो आपसे क्रोध जल्दी होने लगेगा। नहीं, आप क्रोध की फिक्र छोड़ें, आप क्षमा करने की फिक्र करें। आप पॉजिटिव (विधायक) क्षमा की तरफ देखें, क्रोध की फिक्र छोड़ें। आप क्षमा करेंगे, इसकी फिक्र करें। आप क्रोध नहीं करेंगे, ऐसी नकारात्मक फिक्र मत करें। आप काम-वासना से बचेंगे, ऐसी नकरात्मक दृष्टि मत लें। आप ब्रह्मचर्य में प्रवेश करेंगे, ऐसी विधायक दृष्टि लें, नहीं तो आप 'लॉ ऑफ रिवर्स इफेक्ट' में फँस जायेंगे। अधिक लोग फँसे हुए हैं। इसलिए जो वे नहीं चाहते हैं कि हो, रोज-रोज वही होता है और जब वही होता है, तो संकल्प और कमजोर होता है कि इतना तो चाहा कि वह न हो फिर भी वही हुआ। अब अपने से कुछ भी न हो सकेगा। इस प्रकार संकल्प और कमजोर होता चला जाता है। संकल्प बढ़ता है: विधायक मार्ग से। वासनाओं का दबाना नकारात्मक है। यह अन्तर है——दमन और संकल्प में।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

और हे अर्जुन, बन्धन के भय से भी कर्मों का त्याग करना योग्य नहीं है। क्योंकि यज्ञ-कर्म के सिवाय अन्य कर्म में लगा हुआ ही यह मनुष्य कर्मों द्वारा बँधता है। इसलिए हे अर्जुन, आसक्ति से रहित हुआ उस परमेश्वर के निमित्त कर्म का भली प्रकार आचरण कर।

एक और भी अद्‌भुत बात कृष्ण कहते हैं। वे कहते हैं कि 'कर्मों के बन्धन से बचने के ही निमित्त जो आदमी कर्म से भागता है, वह उचित नहीं करता है।' मैं कह रहा था वही बात कि जो आदमी कर्मों के बन्धन से बचने के लिए ही कर्मों को छोड़ कर भागता है, वह उलटे परिणाम के नियम (लॉ ऑफ रिवर्स इफेक्ट) को उपलब्ध होगा। वह और बँध जायेगा। और कर्मों के बन्धन से भागने की जो इच्छा है, वह स्वयं की स्वतंत्रता की घोषणा नहीं, स्वयं की परतंत्रता की ही घोषणा है। कर्म के बन्धन से कोई भाग भी नहीं सकेगा। क्योंकि कहीं भी जाय, कुछ भी करे, कर्म करना ही पड़ेगा। तब क्या करे आदमी? कृष्ण कहते हैं, 'यज्ञ-रूपी कर्म कर।' कृष्ण कहते हैं, 'ऐसा कर्म कर जो प्रभु को समर्पित है——ऐसा कर्म जो मैं अपने लिए नहीं कर रहा हूँ। परमात्मा ने जीवन दिया, जन्म दिया, जगत् दिया। उसने ही कर्म दिया। उसके लिए ही कर रहा हूँ।' ऐसे यज्ञरूपी कर्म को जो करता है, वह बन्धन में नहीं पड़ता है।

इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो सिर्फ बन्धन से बचने के लिए जो भागता है, वह भाग नहीं पायेगा। वह नये बन्धनों में घिर जायेगा।

ध्यान रहे: बन्धन से बचने के लिए भागनेवाला शक्तिशाली व्यक्ति नहीं है। भागते सिर्फ कमजोर हैं। शक्तिशाली भागते नहीं, कमजोर ही भागता है। और जितना भागता है, उतना ही और कमजोर हो जाता है। भयभीत भागता है। और जो भयभीत है, वह यहाँ बन्धन में है। अतः जहाँ भी जायेगा, वहाँ बन्धन में पड़ जायेगा। कमजोर बन्धन से बचेगा कैसे!

एक आदमी गृहस्थी में है। वह कहता है कि घर बन्धन है। बड़े आश्चर्य की बात है। घर कहीं भी नहीं बाँधता। दरवाजे खुले हैं। घर कहीं भी लोहे की श्रृंखला नहीं बना हुआ है! घर कहीं पैर में जंजीर की तरह अटका नहीं है। घर कहीं नहीं बाँधता है। लेकिन, वह आदमी कहता है कि 'घर बाँधता है तो मैं घर छोड़ दूँ।'

अब समझना जरूरी है कि क्या उसको घर बाँधता है? यदि बाँधता हो तो घर छोड़ने से वह मुक्त हो जायेगा। लेकिन घर किसको बाँधेगा? घर तो बिलकुल जड़ है। वह न बाँधता है, न स्वतंत्र करता है। जब यह छोड़ कर जाने लगेगा, तब घर इतना भी नहीं कहेगा कि 'रुको, कहाँ जा रहे हो?' वह इसकी फिक्र ही नहीं करेगा! लेकिन वह आदमी कहता है कि घर बाँधता है। असल में कहीं न कहीं वह गलत समझ रहा है। वह घर को अपना मानता है, इसलिए बँधता है।

घर नहीं बाँधता। 'मेरा है घर'——आदमी इस 'मेरे' से बँधता है। लेकिन 'मेरा' तो इसके पास ही रहेगा। यह घर छोड़ कर भाग जायेगा, तब 'मेरा' आश्रम बनेगा। फिर मेरा आश्रम बाँध लेगा। वह 'मेरा' इसके साथ चला जायेगा। वह 'मेरा' इसकी कमजोरी है। घर तो छूट जायेगा। घर छोड़ने में क्या कठिनाई है! घर जरा भी नहीं रोकेगा कि रुकिये! बल्कि प्रसन्न ही होगा कि गये तो अच्छा हुआ, उपद्रव टला! लेकिन, आप उस तरकीब को तो साथ ही ले जायेंगे, जो गुलामी बनेगी। 'मेरा आश्रम' हो जायेगा, फिर वह बाँध लेगा।

पत्नी नहीं बाँधती। पत्नी को छोड़ कर भाग जायँ तो क्या! काम-वासना——पत्नी को छोड़ कर भागने के साथ——क्या पत्नी के पास छूट जायेगी? तो पत्नी जब नहीं थी आपके पास, तब काम-वासना नहीं थी क्या? जब यात्रा पर चले जाते हैं और पास में पत्नी नहीं होती है, तब काम-वासना नहीं होती है क्या? और जब पत्नी को छोड़ कर चले जायेंगे तो काम-वासना पत्नी के पास कैसे छूट जायेगी? वह आपके साथ ही चली जायेगी। और ध्यान रहे कि पत्नी तो पुरानी पड़ गयी थी, अब नयी स्त्रियाँ दिखायी पड़ेंगी जो बिलकुल नयी होंगी, तब वासना उन नयी पर और भी ज्यादा लोलुप होकर बँध जायेगी।

भागता हुआ आदमी यह भूल जाता है कि जिससे वह भाग रहा है, वह बाँधनेवाली चीज नहीं है। जो भाग रहा है, वही बँधनेवाला है। इसलिए कृष्ण कहते हैं:

'भागना व्यर्थ है, पलायन व्यर्थ है, एस्केप व्यर्थ है।'

ध्यान रहे : इस पृथ्वी पर एस्केप के खिलाफ, पलायन के खिलाफ कृष्ण से ज्यादा बड़ी आवाज दूसरी पैदा नहीं हुई।

पलायन व्यर्थ है, भागना व्यर्थ है। भागकर जाओगे कहाँ ? अपने से भागेंगे कैसे ? सबसे भाग जाओगे, खुद तो साथ ही रहोगे। और उस खुद में ही सारी बीमारियाँ हैं। इसलिए कृष्ण कहते हैं : कर्म से कोई अगर बंधन से छूटने के लिए भागता है, तो वह ना-समझ है। कर्म में कोई बंधन नहीं है। कर्म 'मेरा' है, यही बंधन है। इसलिए अगर कर्म को परमात्मा का है, ऐसा कहने का कोई साहस जुटा ले, तो कर्म यज्ञ हो जाता है और उसका बंधन गिर जाता है। क्यों गिर जाता है ? क्योंकि वह फिर मेरा नहीं रह जाता।

सार बात इतनी है कि 'मेरा' ही बंधन है। चाहे वह मेरा मकान हो, चाहे मेरा धन हो, चाहे मेरा बेटा हो, चाहे मेरा धर्म हो, चाहे मेरा कर्म हो, मेरा संन्यास हो--जो भी मेरा है, वह बंधन बन जायेगा। सिर्फ एक तरह का कर्म बंधन नहीं बनता है—ऐसा कर्म जो 'मेरा' नहीं, परमात्मा का है। ऐसे कर्म का नाम यज्ञ है।

यज्ञ बहुत पारिभाषिक शब्द है। इसका अनुवाद दुनिया की किसी भाषा में नहीं हो सकता है; असल में यज्ञ कर्म का एक बिलकुल ही नया रूप है, जिसमें 'मैं' कर्ता नहीं रहता, बल्कि परमात्मा कर्ता होता है। कर्म की एक बिलकुल नयी अवधारणा, कर्म का एक बिलकुल नया कन्सेप्शन--जिसमें मैं कर्ता नहीं होता, मैं सिर्फ निमित्त होता हूँ और कर्ता परमात्मा होगा। जिसमें मैं सिर्फ बाँसुरी बन जाता हूँ, गीत परमात्मा का, स्वर उसके।

यज्ञरूपी कर्म बंधन नहीं लाता है। इसलिए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू कर्म से मत भाग, बल्कि कर्म को यज्ञ बना ले। यज्ञ बना ले अर्थात् उसको तू परमात्मा को सर्मपित कर दे। तू कह दे पूरे प्राणों से कि मैं सिर्फ निमित्त हूँ और तुझे जो करवाना, हो, करवा ले।

नानक की जिंदगी में एक घटना है—जिस घटना से नानक संत बने, उस दिन से नानक का कर्म यज्ञ हो गया। छोटी-मोटी जागीरदारी में वे नौकर हैं। और काम उनका है—सिपाहियों को राशन बाँटना। तो वे दिन भर--सुबह से शाम तक गेहूँ, दाल, चना, तौलते रहते हैं और सिपाहियों को देते रहते हैं।

पर एक दिन कुछ गड़बड़ हो गयी। ऐसी गड़बड़ बड़ी सौभाग्यपूर्ण है और जब किसी की जिंदगी में यह हो जाती है, तो परमात्मा का प्रवेश हो जाता है। एक दिन सब अस्तव्यस्त हो गया, सब गणित टूट गया, सब नाप टूट गये। नापने बैठे थे; एक से गिनती शुरू की। बारह तक ठीक चला। लेकिन, तेरह की जो गिनती आयी तो

अचानक उन्हें तेरह से 'तेरे' का खयाल आ गया--उसका, परमात्मा का। बारह तक तो सब ठीक चला, तेरहवें पल्ले को उलटते वक्त उनको खयाल आ गया : 'तेरा'। वह जो १३ अंक है, वह तेरा। फिर चौदह नहीं निकल सका मुँह से। फिर दूसरा भी पलड़ा भरा और फिर भी कहा : 'तेरा'। फिर तीसरा भी पलड़ा भरा और कहा : 'तेरा'। लोग समझे कि पागल हो गये। भीड़ इकट्ठी हो गयी। उन्होंने कहा, 'यह क्या कर रहे हो, गिनती आगे नहीं बढ़ेगी ?' तो नानक ने कहा, 'उसके आगे अब और क्या गिनती होगी !' मालिक ने बुलाया और कहा, 'पागल हो गये हो !' नानकने कहा, 'अब तक पागल था। अब बस, इस गिनती के आगे कुछ नहीं। अब सब 'तेरा'।

फिर नौकरी तो छूट ही गयी। लेकिन, बड़ी नौकरी मिल गयी—परमात्मा की नौकरी मिल गयी। छोटे-मोटे मालिक की नौकरी छूटी, परम मालिक की नौकरी मिल गयी। और जब भी कोई नानक से पूछता कि तुम्हारी जिंदगी में कहाँ से आयी यह रोशनी ? तो वे कहते 'तेरे, तेरा--(तेरह) उस शब्द से यह रोशनी आयी।' जब भी कोई पूछता, कहाँ से आया यह नृत्य, कहाँ से आया यह संगीत, कहाँ से उठा यह नाद ? तो वे कहते : बस, एक दिन स्मरण आ गया कि तू ही है, तेरा ही है, मेरा नहीं।

तो जो कृष्ण कह रहे हैं, अर्जुन से, वह यही कह रहे हैं कि एक बार हिम्मत करके, संकल्प करके अगर तू जान पाये कि तेरा नहीं है कृत्य, तो फिर कोई बंधन नहीं। बंधन क्यों नहीं ? क्योंकि बंधन के लिए भी 'मैं' का भाव चाहिए। बँधेगा कौन ? मैं तो चाहिए ही--अगर बँधना है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि मैं अगर नहीं हूँ, तो बँधेगा कौन ? बँधूँगा कैसे ? 'मैं' चाहिए बँधने के लिए और 'मेरा' चाहिए बाँधने के लिए। यह दो सूत्र खयाल में ले लें।

'मैं' चाहिए बँधने के लिए और 'मेरा' चाहिए बाँधने के लिए। 'मैं' बनेगा कैदी और 'मेरा' बनेगा जंजीर। लेकिन जिस दिन कोई व्यक्ति कह पाता है : 'मैं' नहीं 'तू' ही है--'मेरा' नहीं, 'तेरा' ही है--उस दिन न तो बंधन बचता है और न बँधने वाला बचता है। ऐसे क्षण में व्यक्ति का जीवन यज्ञ हो जाता है। यज्ञ मुक्ति है; यज्ञ के भाव से किया गया कर्म स्वतंत्रता है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं को

देनेवाला होवे।

'यज्ञपूर्वक कर्म', इसे कहने के ठीक पीछे कृष्ण कहते हैं कि सृष्टि के प्रथम क्षण में स्रष्टा ने भी ऐसे ही यज्ञरूपी कर्म का विस्तार किया है। इसे थोड़ा समझ लेना उपयोगी है।

हम निरंतर परमात्मा को स्रष्टा कहते हैं। हम निरंतर परमात्मा को बनाने वाला, क्रिएटर कहते हैं। लेकिन बनाना, सृजन, निर्माण—किसी भी चीज का—दो ढंग से हो सकता है। अगर परमात्मा भी 'मैं' के भाव से सृजन करे तो वह यज्ञ नहीं रह जायेगा। परमात्मा के लिए यह सृजन बिलकुल 'इगोलेस', मैं-भाव से रिक्त और शून्य है। कहना चाहिए कि यह सारी सृष्टि परमात्मा के लिए सहज आविर्भाव है, स्पॉन्टेनियस फ्लॉवरिंग है। 'मैं सृजन करूँ, मैं बनाऊँ,' ऐसा कहीं कोई भाव हो ही नहीं सकता। क्योंकि, मैं सिर्फ वहीं पैदा होता है, जहाँ तू की संभावना हो। परमात्मा के लिए कोई भी 'तू' नहीं है, अकेला है वह। इसलिए 'मैं' का कोई भाव परमात्मा में नहीं हो सकता। और जिस दिन हम में भी 'मैं' का कोई भाव नहीं रह जाता, उसी क्षण हम परमात्मा के हिस्से हो जाते हैं।

यह सारी सृष्टि परमात्मा के भीतर की किसी वासना के कारण नहीं है, यह वासना का फल नहीं है। यह सारी सृष्टि, कहना चाहिए, परमात्मा का स्वभाव है, ऐसे ही जैसे बीज टूटकर अंकुर बन जाता है और जैसे अंकुर टूटकर वृक्ष बन जाता है और जैसे वृक्ष फूलों से भर जाता है, ठीक ऐसे ही परमात्मा के लिए सृष्टि अलग चीज नहीं है। वह परमात्मा का स्वभाव है।

इसलिए मैं निरंतर एक बात कहना पसंद करता हूँ कि हम परमात्मा को क्रिएटर कह कर थोड़ी-सी गलती करते हैं, स्रष्टा कह कर थोड़ी-सी गलती करते हैं। क्योंकि, जब हम परमात्मा को स्रष्टा कहते हैं, तो हम सृष्टि और स्रष्टा को अलग तोड़ देते हैं। ऐसा है नहीं। ज्यादा उचित होगा कि हम परमात्मा को स्रष्टा न कह कर, 'सर्जन की प्रक्रिया' कहें। ज्यादा उचित होगा कि हम परमात्मा को क्रिएटर न कह कर 'क्रिएटिविटी' कहें। ज्यादा उचित होगा कि हम सृष्टि और स्रष्टा को दो में न तोड़ें, बल्कि एक में ही रखें। वही है प्रथम दिन। कहने के लिए 'प्रथम दिन', बात करने के लिए 'प्रथम दिन' अन्यथा सृष्टि के लिए कोई प्रथम दिन नहीं है और कोई अंतिम दिन नहीं है।

कृष्ण कह रहे हैं प्रथम दिन जगत् का स्रष्टा जगत् को जो जीवन, गति और सर्जन देता है वह भी यज्ञ हुआ और जिस दिन कोई दूसरा व्यक्ति भी उसी तरह यज्ञरूपी कर्म में संयुक्त हो जाता है, वह भी स्रष्टा का हिस्सा हो जाता है, वह भी उसका अंग हो जाता है।

मीरा नाचती है। कोई अगर मीरा को पूछे कि क्या 'तू' नाचती है? तो मीरा कहेगी: 'नहीं, वही नचाता है वही नाचता है।' अगर कोई कबीर को कहे कि तुम कपड़े बुनते हो किसके लिए? तो कबीर कहते हैं: 'वही बुनता है, उसी के लिए बुनता है। इसलिए कबीर जब कपड़ा बुनते और गाँव की तरफ कपड़ा बेचने जाते तो राह पर जो भी मिलता उससे कहते 'राम! देखो कितना अच्छा कपड़ा तुम्हारे लिये बनाया है।' बाजार में बैठते तो ग्राहकों को कहते 'राम! कहाँ चले जा रहे हो? कितनी मेहनत की है!' ग्राहक भी मुश्किल में पड़ते। उनकी कल्पना में न होता यह कि उन्हें कोई 'राम' पुकारेगा।

और जब कबीर के पास हजारों, सैकड़ों भक्त आने लगे तो उन्होंने कहा, 'बंद करिये आप कपड़े बुनना। आपको कपड़ा बुनने की क्या जरूरत?' तब कबीर ने कहा, 'जब परमात्मा को भी बुनने की जरूरत है, तो मैं बुनने से कैसे बचूँ! अभी परमात्मा ही बुने जा रहा है—जीवन को और जगत् को। मैंने तो अपने को उसी के हाथ में छोड़ दिया है। अब उसकी अँगुलियाँ मेरी अँगुलियों से कपड़ा बुनती हैं। उसकी आँखें ही मेरी आँखों से देखती हैं। वह चाहेगा तो बंद हो जायेगा बुनना और वह चाहेगा तो जारी रहेगा। अब उसकी मरजी।' तो कबीर कपड़ा बुनना बंद नहीं करते, कपड़ा बुने चले जाते हैं। मेरे देखे कबीर ज्यादा गहरे साधु हैं—कपड़ा बुनना जारी रखते हैं। जो चलता था, चलता रहा। फर्क पड़ गया लेकिन। यज्ञ हो गया अब कर्म। अब वे कहते हैं 'वही बुनता है, उसी के लिए बुनता है। मैं हूँ ही नहीं। इसलिए ठीक है, जो उसकी मरजी।'

जीसस को जिस दिन सूली लगायी गयी, उस दिन सूली पर जब उनके हाथ पर कीले ठोंके गये तो एक क्षण को जीसस भी कँप गये। एक क्षण को जीसस भी डाँवाडोल हो गये। एक क्षण को जीसस के मुँह से निकल गया, 'हे परमात्मा! यह क्या कर रहा है? यह क्या दिखला रहा है?' शिकायत हो गयी। जीसस को खयाल में भी आ गयी और दूसरे ही वाक्य में उन्होंने कहा, 'क्षमा कर, माफ कर। भूल हो गयी। जो तेरी मरजी।' मेरे देखे इन दो वाक्यों के बीच में क्रांति घटित हुई।

जिस क्षण जीसस ने कहा, 'यह क्या कर रहा है?' उस समय जीसस का 'मैं' मौजूद है। अभी कर्म यज्ञ नहीं हुआ। दिखायी पड़ गया जीसस को कि भूल हो गयी। क्योंकि जब कोई कहता है परमात्मा से कि यह क्या कर रहा है? तो उसका मतलब यह है कि कुछ गलत कर रहा है। उसका मतलब यह है कि जो होना चाहिए था, वह नहीं हो रहा है। उसका मतलब यह है कि मैं तुझसे ज्यादा समझदार हूँ। मुझसे भी पूछ लेता तो यह करने की भूल न करता! भूल हो रही है ईश्वर से! जीसस जब जीसस कहते हैं, 'यह क्या कर रहा है?' तो यह गहरी शिकायत है।

अभी कर्म में हैं। अभी कर्म यज्ञ नहीं हो पाया। लेकिन एक ही क्षण में सारी क्रांति घटित हो गयी। तो मैं तो निरंतर कहता हूँ कि सूली पर जिस क्षण जीसस ने कहा, 'परमात्मा, यह क्या दिखला रहा है?' उस समय तक वे मरियम के बेटे जीसस हैं और एक क्षण बाद, जैसे ही उन्होंने कहा : 'जो तेरी मरजी; माफ कर; जो तू चाहे; (दाई विल बी डन) तेरी इच्छा पूरी हो', उसी क्षण वे क्राइस्ट हो गये। उसी क्षण क्रांति घटित हो गयी। वे मरियम के बेटे नहीं रहे। उसी क्षण वे परमात्मा के हिस्से हो गये। उसी क्षण में यज्ञ हो गया कर्म। अब अपनी कोई मरजी न रही; अपनी कोई बात न रही। 'जो उसकी मरजी'।

परमात्मा इस बड़े सृजन को फैला कर भी निरंतर यही कर रहा है, इस बड़ी धारा को चला कर निरंतर यही कर रहा है—पहले दिन, बीच के दिन, आखिरी दिन। एक ही बात है कि हम इस छोटे से 'मैं' को बीच में न ले आयें। उस 'मैं' के कारण सारा उपद्रव, सारा विघ्न, सारा उत्पात खड़ा हो जाता है। उस 'मैं' के आस-पास ही कर्म—बंधन बन जाता है।

कभी आपने खयाल किया कि परमात्मा कहीं दिखायी नहीं पड़ता। सृष्टि दिखायी पड़ती है और स्रष्टा दिखायी नहीं पड़ता है। लेकिन कभी सोचा आपने कि इसका कारण क्या होगा? अनेक लोग कहते हैं, 'ईश्वर कहाँ है?' असल में जिसका 'मैं' नहीं है, वह दिखायी कहाँ पड़े। असल में जिसको कभी खयाल ही नहीं आया कि मैंने सृष्टि बनायी है, वह दिखायी कहाँ पड़े! जो किया है, वह दिखायी पड़ रहा है और करने वाला बिलकुल दिखायी नहीं पड़ रहा है! कर्ता बिलकुल अदृश्य है और कर्म बिलकुल दृश्य है।

कृष्ण कह रहे हैं कि तू ऐसे कर्म में जूझ जा कि कर्म ही दिखायी पड़े और कर्ता बिलकुल दिखायी न पड़े; कर्ता रहे ही न।

परमात्मा को देखते हैं! कितना एब्सेन्ट (अनुपस्थित) है! जगत् बहुत प्रजेन्ट (उपस्थित) है। संसार बहुत मौजूद है और परमात्मा बिलकुल गैर-मौजूद है। असल में जिसके पास अहंकार नहीं, वह मौजूद हो भी कैसे सकता है! उसके मौजूद होने का कोई उपाय भी तो नहीं है, वह गैरमौजूद ही हो सकता है। उसकी एब्सेन्स ही उसकी प्रजेन्स है; उसकी अनुपस्थिति ही उसकी मौजूदगी है।

मैंने सुनी है एक कहानी कि एक ईसाई फकीर पर देवता प्रसन्न हो गये; और उन्होंने आकर उसके पैर पकड़ लिये। देवताओं ने कहा कि 'हम तुम्हें वरदान देने आये हैं। माँग लो तुम्हें जो कुछ माँगना हो।' तो उस फकीर ने कहा, 'बड़ी गलती की, बड़ी देर से आये। जब मेरे पास माँग थी, तब तुम्हारा कोई पता नहीं चला और अब जब मेरी कोई माँग न रही, तब तुम आये हो! अब तो कुछ माँगने को ही

नहीं बचा, क्योंकि माँगनेवाला ही नहीं बचा। अब तुम व्यर्थ परेशान हो रहे हो। तुम किससे कह रहे हो?' उन्होंने कहा, 'हम तुम से कह रहे हैं!' उस फकीर ने कहा, 'लेकिन मैं तो अब हूँ नहीं; तुम परमात्मा से ही पूछ लेना—अब तो वही है।'

लेकिन ऐसे आदमी पर देवता और प्रसन्न हो गये। उन्होंने बिलकुल उसके पैर ही पकड़ लिये और कहा कि 'कुछ माँगना ही पड़ेगा।' उसने कहा : 'लेकिन अब माँगे कौन? किससे माँगे? और अगर मैं माँगूँगा तो वह सबूत होगा इस बात का कि परमात्मा पर मेरा भरोसा नहीं। जो उसे देना होगा, देगा; जो उसे नहीं देना है, नहीं देगा। जो उचित होगा, वह होगा। जो उचित नहीं होगा, वह नहीं होगा। असल में जो होगा, वह उचित होगा और जो नहीं होगा, वह अनुचित होगा। इसलिए तुम जाओ। तुम गलत आदमी के पास आ गये हो।' लेकिन उन्होंने कहा, 'हम ऐसे ही आदमी की तलाश में रहते हैं; जो माँगता है, उसके पास तो हम कभी नहीं जाते। जो नहीं माँगता, हम उसके पास जाते हैं। जो 'होता' है, उसके पास तो हम कभी नहीं जाते। उसके भीतर जगह ही नहीं होती—हमारे आने लायक। जो 'नहीं हो जाता' है, हम उसके भीतर आते हैं। हम आ गये हैं। तुम जरूर माँगो।' तो उस फकीर ने कहा, 'जब तुम नहीं मानते तो तुम्हें कुछ देना है तो दे जाओ। मेरा माँगने का कोई सवाल नहीं है।'

तो देवताओं ने कहा, 'हम तुम्हें एक वरदान देते हैं कि तुम अगर मुरदे को छू दोगे तो वह मुरदा जिंदा हो जायेगा। अगर तुम बीमार पर हाथ रख दोगे तो वह स्वस्थ हो जायेगा। अगर तुम मुरझाये फूल की तरफ देख दोगे तो वह फिर से खिल जायेगा।' उस फकीर ने कहा, 'यह तो ठीक, लेकिन जब तुम दे ही रहे हो तो थोड़ी एक बात और दे दो।' 'और क्या? पहले तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा?' उसने कहा, 'पहले माँगने की जरूरत न थी। लेकिन, एक चीज जहाँ मिले, वहाँ चीजों की श्रृंखला शुरू हो जाती है। एक चीज और दे जाओ।' वह चीज क्या? उस फकीर ने कहा : एक यह और जोड़ दो इस वरदान में कि इसका मुझे पता न चले। मुरदा जिंदा हो तो हो लेकिन मुझे पता न चले कि जिंदा हो गया। बीमार ठीक हो, लेकिन मुझे पता न चले, क्योंकि, अब वापस मेरे 'मैं' को बुलाने की पीड़ा और नरक में मैं नहीं पड़ना चाहता हूँ। अब तुम मुझे क्षमा कर दो। यह वरदान खतरनाक है। जब मुरदा जिंदा होगा तो मुझे पता न चल जाय कि मैंने जिंदा किया है। तो तुम ऐसा करो कि यह वरदान मुझे मत दो, मेरी छाया को दे दो। मेरी छाया किसी मुरदे पर पड़ जायेगी, वह जिंदा हो जायेगा तो मुझे पता ही नहीं चलेगा। छाया पीछे पड़ेगी, बीमार ठीक हो जायेगा, फूल खिल जायेंगे; मुर्झाये हुए पौधे ठीक हो जायेंगे; मैं रहूँगा। कृपा करो तुम यह वरदान मेरी छाया को दे दो।

परमात्मा कहीं दिखायी नहीं पड़ता, सिर्फ उसकी छाया कभी-कभी कहीं-कहीं दिखायी पड़ती है। इतना सारा जगत् सिर्फ उसकी छाया से चलता है।

कृष्ण अर्जुन से यही कह रहे हैं—तू छाया भर हो जा। इस 'मैं' को जाने दे—तू जी, श्वास ले, कर्म कर। भाग मत। क्योंकि, भागने में भी तेरा अहंकार तो बना ही रहेगा कि मैं बच निकला, मैं भाग निकला। मैं हूँ। मैंने अपने को बंधन से बचा लिया, कर्म से बचा लिया। तेरा 'मैं' तो जायेगा नहीं; बंधन मौजूद होगा। तू तो इतना ही भर कर कि 'मैं' को छोड़ दे और यज्ञरूपी कर्म में प्रवृत्त हो जा। जैसे पूरा परमात्मा जगत् को यज्ञरूपी कर्म में निर्मित कर रहा है, ऐसे ही तू भी उसका एक हिस्सा हो जा, तो तू मुक्त हो जायेगा।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।११।।

तथा तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करें। इस प्रकार आपस में कर्तव्य समझ कर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओगे।

कृष्ण कह रहे हैं : इस भाँति यज्ञ रूपी कर्म करते हुए तुम देवताओं के सहयोगी बनो और वे देवता तुम्हारे सहयोगी बनें। इस भाँति तुम कर्त्तव्य को उपलब्ध हो सकते हो।

इस 'देवता' शब्द को थोड़ा समझना जरूरी है। इस शब्द से बड़ी भ्रांति हुई है। देवता शब्द बहुत पारिभाषिक शब्द है।

इस जगत् में जो भी साधारण लोग हैं, जो भी साधारण आत्माएँ हैं, उनके मरते ही उनका जन्म तत्काल हो जाता है। उनके लिए गर्भ तत्काल उपलब्ध होता है। लेकिन, बहुत असाधारण शुभ आत्मा के लिए तत्काल गर्भ उपलब्ध नहीं होता। उसे योग्य गर्भ के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। बहुत बुरी आत्मा, बहुत ही पापी आत्मा के लिए भी गर्भ तत्काल उपलब्ध नहीं होता। उसे भी बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ती है। साधारण आत्मा के लिए तत्काल गर्भ उपलब्ध हो जाता है। इसलिए साधारण आदमी इधर मरा और उधर जन्मा। इस मृत्यु और नये जन्म के बीच में बड़ा फासला नहीं होता। कभी क्षणों का भी फासला होता है। कभी क्षणों का भी फासला नहीं होता। चौबीस घण्टे और गर्भ उपलब्ध है; तत्काल आत्मा गर्भ में प्रवेश कर जाती है।

लेकिन श्रेष्ठ आत्मा नये गर्भ में प्रवेश करने के लिए प्रतीक्षा में रहती है। इस तरह की श्रेष्ठ आत्माओं का नाम देवता है। निकृष्ठ आत्माएँ भी प्रतीक्षा में होती हैं। इस तरह की आत्माओं का नाम प्रेतात्माएँ हैं—ऐसी आत्माएँ जो बहुत बुरा करते-करते मरी हैं। जैसे कोई हिटलर, कोई एक करोड़ आदमियों की हत्या जिस

आदमी के ऊपर है, इसके लिए कोई साधारण माँ गर्भ नहीं बन सकती, न कोई साधारण पिता गर्भदाता बन सकता है। ऐसे आदमी को तो गर्भ के लिए बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। लेकिन इसकी आत्मा इस बीच क्या करेगी ? इसकी आत्मा इस बीच खाली नहीं बैठी रह सकती। भला आदमी तो कभी खाली भी बैठ जाय, बुरा आदमी कभी खाली नहीं बैठ सकता। कुछ न कुछ करने की कोशिश जारी रहेगी।

तो जब भी आप कोई बुरा कर्म करते हैं, तब तत्काल ऐसी आत्माओं को आपके द्वारा सहारा मिलता है, जो बुरा करना चाहती है। आप वीहिकल (वाहन) बन जाते हैं; आप साधन बन जाते हैं। जब भी आप कोई बुरा कर्म करते हैं, तो ऐसी आत्मा अति प्रसन्न होती है और आपको सहयोग देती है।

प्रेत वह मृत-आत्मा है जिसे बुरा करना है, लेकिन उसके पास शरीर नहीं है। इसलिए कई बार आपको लगा होगा कि कोई बुरा काम आपने किया और पीछे आपको लगा होगा कि बड़ी हैरानी की बात है, इतनी ताकत मुझमें कहाँ से आ गयी कि मैं यह बुरा काम कर पाया ! यह अनेक लोगों का अनुभव है।

आप क्रोध में इतना बड़ा पत्थर उठा सकते हो, जितना आप शांति में नहीं उठा सकते, तब आपको कल्पना भी नहीं हो सकती कि कोई बुरी आत्मा भी आपके लिए सहयोग देती है। जब एक आदमी किसी की हत्या करने जाता है, तो उसकी साधारण स्थिति नहीं रह जाती। प्रेतात्माओं से वह पजेस्ड (आविष्ट) हो जाता है। अनेक हत्यारे अदालतों में यह कहते हैं कि 'हम मान नहीं सकते हैं कि हमने हत्या की, क्योंकि हमें तो खयाल ही नहीं आ सकता कि हम कैसे हत्या कर सकते हैं !' असल में आप में हत्या की वृत्ति उठे तो हत्या के लिए उत्सुक कोई आत्मा आपके ऊपर सवार हो सकती है। वह सहयोग कर सकती है।

ठीक इससे उलटा, कृष्ण अर्जुन से कहा रहे हैं कि 'अगर तू एक शुभ-कर्म में कर्ता को छोड़कर संलग्न होता है तो अनेक देवताओं का सहारा तुझे मिलता है।' जब आप कोई अच्छा कर्म करते हैं, तब भी आप अकेले नहीं होते। तब अनेक आत्माएँ, जो अच्छा करने के लिए आतुर एवं अभीप्सित होती हैं, वे तत्काल आपके आस-पास इकट्ठी और सक्रिय हो जाती हैं। तत्काल आपको उनका सहयोग मिलना शुरू हो जाता है। तत्काल आपके लिए अनन्त मार्गों से शक्ति मिलनी शुरू हो जाती है, जो आपकी नहीं है।

इसलिए अच्छा आदमी भी अकेला नहीं है इस पृथ्वी पर और बुरा आदमी भी अकेला नहीं है इस पृथ्वी पर। सिर्फ बीच के आदमी अकेले होते हैं जो न इतने अच्छे होते हैं कि अच्छे से सहयोग पा सकें, न इतने बुरे होते हैं कि बुरे से सहयोग पा सकें। सिर्फ साधारण, बीच के, मिडियाकर, मिडिल क्लास—पैसे के हिसाब से नहीं कह रहा

हूँ—आत्मा के हिसाब से जो मध्यवर्गीय हैं उनको, वे भर अकेले (लोनली) होते हैं। उनको कोई सहारा ज्यादा नहीं मिलता है। और कभी-कभी हो सकता है कि या तो वे बुराई में नीचे उतरें, तब उन्हें सहारा मिले या भलाई में ऊपर उठें, तब उन्हें सहारा मिले। लेकिन इस जगत् में अच्छे आदमी अकेले नहीं होते, बुरे आदमी अकेले नहीं होते।

जब महावीर जैसा आदमी पृथ्वी पर होता है या बुद्ध जैसा आदमी पृथ्वी पर होता है, तो चारों ओर से अच्छी आत्माएँ इकट्ठी सक्रिय हो जाती हैं। इसलिए जो आपने कहानियाँ सुनी हैं, वे सिर्फ कहानियाँ नहीं हैं। यह बात सिर्फ कहानी नहीं है कि महावीर के आगे और पीछे देवता चलते हैं। यह बात कहानी नहीं है कि महावीर की सभा में देवता उपस्थित थे। यह बात कहानी नहीं है कि जब बुद्ध गाँव में प्रवेश करते हैं, तो देवता भी गाँव में प्रवेश करते हैं। यह बात मिथॉलाजी नहीं है, पुराण नहीं है। इसलिए भी कहता हूँ कि पुराण नहीं है, क्योंकि अब तो वैज्ञानिक आधारों पर भी सिद्ध हो गया है कि शरीरहीन आत्माएँ हैं। हजारों की तादात में उनके चित्र भी लिये जा सके हैं।

अब तो वैज्ञानिक भी अपने प्रयोगशाला में चकित और हैरान हैं। अब तो उनकी भी हिम्मत टूट गयी है यह कहने की कि भूत-प्रेत नहीं है। कोई सोच सकता था कि कैलिफोर्निया या इलेनॉय ऐसी यूनिवर्सिटी में भूत-प्रेत का अध्ययन करने के लिए कोई डिपार्टमेंट होगा! पश्चिम के विश्वविद्यालय भी कोई डिपार्टमेंट खोलेंगे, जिसमें भूत-प्रेत का अध्ययन चलता होगा! पचास साल पहले पश्चिम पूर्व पर हँसता था कि 'सुपरस्टीटस' हो, अंध-विश्वासी हो। हालाँकि पूर्व में अभी भी ऐसे नासमझ हैं, जो पचास साल पुरानी पश्चिम की बातें अभी भी दुहराये चले जा रहे हैं।

पचास साल में पश्चिम ने बहुत कुछ समझा है और पीछे लौट आया है। उसके कदम बहुत जगह से वापस लौटे हैं। उसे स्वीकार करना पड़ा है कि मनुष्य के मर जाने के बाद सब समाप्त नहीं हो जाता। उसे स्वीकार कर लेना पड़ा है कि शरीर के बाहर कुछ शेष रह जाता है, जिसके चित्र भी लिये जा सकते हैं। उसे स्वीकार करना पड़ा है कि अशरीरी अस्तित्व संभव है, असंभव नहीं है। और यह छोटे-मोटे लोगों ने नहीं, ओलिवर लॉज जैसा नोबल प्राइज विनर (विजेता) गवाही देता है कि प्रेत हैं। सी. डी. ब्रॉड जैसा वैज्ञानिक चिंतक गवाही देता है कि प्रेत हैं, जे. बी. राइन और मॉयर्स जैसे जिंदगी भर वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग करनेवाले लोग कहते हैं कि अब हमारी हिम्मत उतनी नहीं है पूर्व को गलत कहने की, जितनी पचास साल पहले हमारी हिम्मत थी।

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि 'अगर तू अपने कर्ता को भूलकर परमात्मा के दिये

कर्म में प्रवृत्त होता है तो देवताओं का तुझे साथ है, सहयोग है। और न केवल तू अपना कर्तव्य निभाने में पूर्ण हो पायेगा, बल्कि बहुत से देवता भी जो अपना कर्तव्य निभाने के लिए आतुर हैं, तेरे माध्यम से वे भी अपने कर्तव्य को निभाने में पूर्ण हो जायेंगे।'

अकेला नहीं है अच्छा आदमी। अकेला नहीं है बुरा आदमी। इसलिए बुरा आदमी भी बड़ा शक्तिशाली हो जाता है और अच्छा आदमी भी बड़ा शक्तिशाली हो जाता है। यह शक्ति चारों तरफ अशरीरी आत्माओं से उपलब्ध होनी शुरू होती है।

चौथा प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, दिनांक ३१ दिसम्बर, १९७०
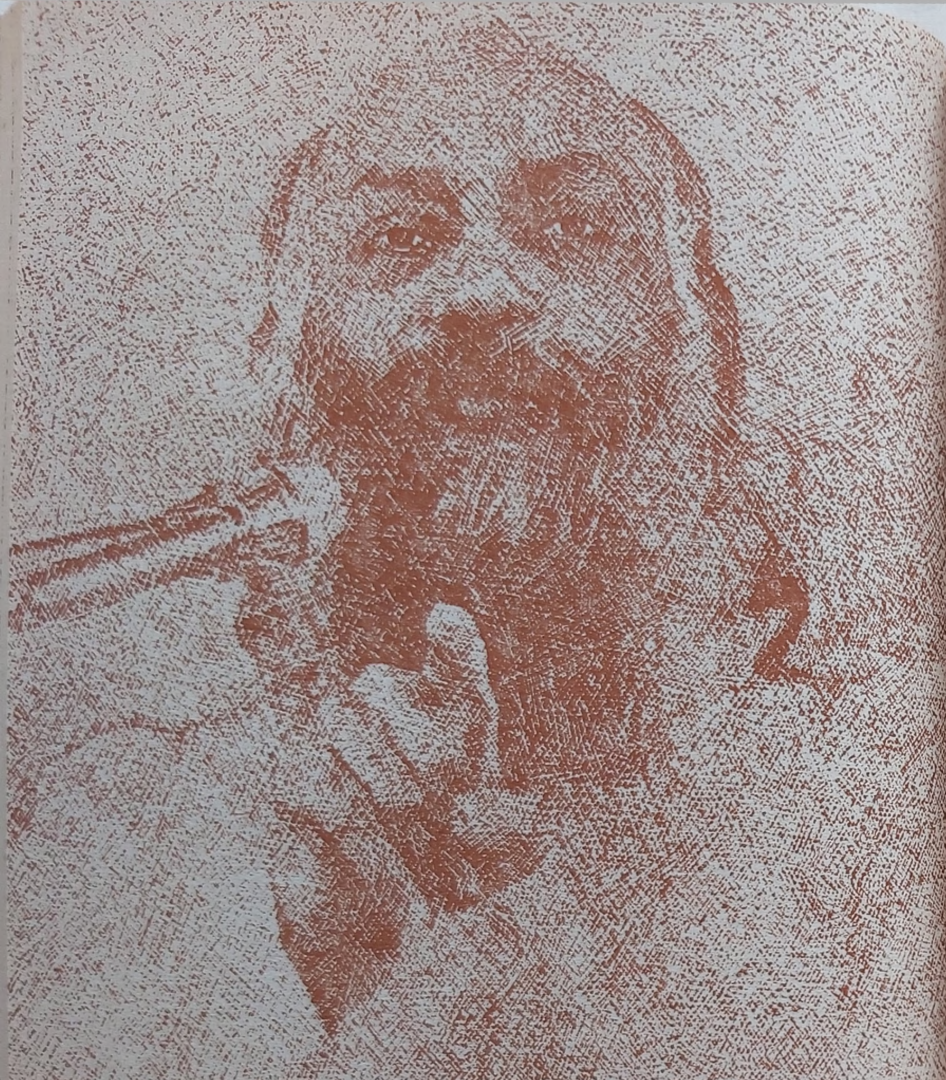
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

तथा यज्ञ द्वारा प्रेरित हुए देवता लोग तुम्हारे लिए, बिना माँगे ही प्रिय भोगों को देंगे। उनके द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष उनके लिए बिना दिये ही भोगता है, वह निश्चय चोर है।

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर पोषण के लिए ही पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं।

समर्पित जीवन का विज्ञान

इस सूत्र को हम आध्यात्मिक विवाद का जन्मदाता कह सकते हैं। इस सूत्र में दो बातें कही गयी हैं। एक तो सबसे पहली और बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि यज्ञरूपी कर्म से दिव्य शक्तियाँ प्रसन्न होकर बिना माँगे ही सब कुछ देती हैं।

जीवन के रहस्यात्मक नियमों में से एक नियम यह है कि जो माँगा जायेगा, वह नहीं मिलेगा; जो नहीं माँगा जायेगा, वही मिलता है। जिसके पीछे हम दौड़ते हैं, उसे ही खो देते हैं और जिसके पीछे हम दौड़ना छोड़ देते हैं, वह हमारे पीछे छाया की तरह चला आता है। इस नियम को न समझ पाने से जीवन में बड़ा दुःख और बड़ी पीड़ा है। और साधारण जीवन में शायद कभी हमें ऐसा भ्रम भी हो जाय कि माँगने से भी कुछ मिल जाता है, लेकिन दिव्य शक्तियों से तो कभी भी माँगने से कुछ नहीं मिलता। दिव्य शक्तियों के लिए जो अपने हृदय के द्वार खोल देता है, उसे सब मिल जाता है, लेकिन बिना माँगे ही।

जीसस का एक वचन है, जिसमें जीसस ने कहा है : 'फर्स्ट यी सीक द किंगडम ऑफ गॉड एण्ड ऑल एल्स शैल बी ऐडेड अनटु यू'—तुम पहले प्रभु के राज्य को खोज लो और शेष सब फिर तुम्हें अपने आप ही मिल जायेगा। लेकिन हम शेष सबको खोजते हैं, केवल प्रभु के राज्य को छोड़कर और शेष सब तो हमें मिलता ही नहीं और प्रभु का राज्य भी खो जाता है। जिसे जीसस ने 'किंगडम ऑफ गॉड' कहा है, प्रभु का राज्य कहा है, उसे ही कृष्ण दिव्य शक्ति, देवता आदि कह रहे हैं।

माँगने में होता क्या है? कामना करने में होता क्या है? इच्छा करने में होता क्या है? जैसे ही हम माँगते हैं, हमारा हृदय सिकुड़ जाता है माँगकर, और चेतना के द्वार तत्काल बंद हो जाते हैं। माँगें और देखें। भिखारी कभी भी फूल की तरह खिला हुआ नहीं होता है; हो नहीं सकता है। भिखारी सदा सिकुड़ा हुआ, अपने

में बंद (क्लोज) होगा।

जब भी हम कुछ माँगते हैं, तो मन एकदम बंद हो जाता है। जब हम कुछ देते हैं, तब मन खुलता है। दान से तो मन खुलता है, माँग से मन बंद होता है। जब कोई परमात्मा के सामने, दिव्य शक्तियों के सामने भी माँगने खड़ा हो जाता है, तो उसे पता नहीं कि माँगने के कारण ही उसके हृदय के द्वार बंद हो जाते हैं, वह पाने से वंचित रह जाता है।

जीसस का एक और वचन मुझे स्मरण आता है, जिसमें उन्होंने कहा है--'भिखारियों के लिए नहीं, सम्राटों के लिए'--जीसस ने कहा है, 'जिनके पास है, उन्हें और दे दिया जायेगा और जिनके पास नहीं है, उनसे और भी छीन लिया जायेगा।' बड़ी उल्टी बात है।

जब भी आप माँगते हैं, तब आप कह देते हैं, 'मेरे पास नहीं है' और जब भी आप देते हैं, तब आप खबर देते हैं कि 'मेरे पास है'। असल में इस सूत्र का भी अर्थ यही है कि जो बाँटता है, उसे मिल जायेगा और जो बटोरता है, वह खो देगा।

भिखारी बटोर रहा है। भिखारी के चित्त की दो-चार बातें और खयाल में ले लेनी चाहिए, क्योंकि एक अर्थ में हम सब भिखारी हैं। दानी होना बड़ा असंभव है। भिखारी होना बिलकुल आसान है। लेकिन, कठिनाई यही है कि भिखारियों को कुछ नहीं मिल पाता और देने वाले को सदा सब कुछ मिल जाता है।

जैसे ही कोई माँगता है, वैसे ही उसका मन तो सिकुड़ता ही है, चित्त के द्वार तो बंद हो ही जाते हैं, जैसे ही कोई माँगता है, वैसे ही भीतर डर भी समा जाता है कि पता नहीं मिलेगा या नहीं मिलेगा। माँगने वाला कभी निर्भय नहीं हो सकता। माँग के साथ भय, फीयर हमेशा मौजूद होता है। माँगा कि भय खड़ा है। और परमात्मा से केवल वही जुड़ सकते हैं, जो निर्भय हैं; जो भयभीत हैं, वे नहीं जुड़ सकते हैं।

जब भी आप माँगेंगे, तभी प्राण कँप जायेंगे और भयभीत हो जायेंगे और डर पकड़ जायेगा कि पता नहीं--मिलेगा या नहीं। वह जो डर है, यह भी मन को बंद कर देगा। और यह जो डर है, वह परमात्मा और स्वयं के बीच फासला पैदा कर देता है। परमात्मा के पास इसलिए जो माँगने जाता है, वह अपने हाथ में ही खोने का कारण बन जाता है।

तीसरी बात भी खयाल रखें कि जब भी हम माँगते हैं, तो हम गलत ही माँगते हैं। हम सही माँग ही नहीं सकते। हम सही इसलिए माँग नहीं सकते कि हमें सही का कुछ पता ही नहीं है। हम सही इसलिए नहीं माँग सकते हैं कि हम खुद सही नहीं हैं। और यह और मजे की बात है कि जो सही है, उसे माँगना नहीं पड़ता है; क्योंकि

जो सही है, उसे तत्काल मिलना शुरू हो जाता है। जो ठीक है, उस पर सम्पदा बरसने लगती है--जीवन के सब रूपों में। जो गलत है, वह वंचित रह जाता--और वही माँगता है; उसकी माँग भी गलत ही होगी; वह सही माँग नहीं सकता है। गलत आदमी गलत ही माँग सकता है।

एक छोटी-सी घटना से आपको समझाऊँ। विवेकानन्द के पिता मर गये। कर्ज छोड़ गये बहुत। चुकाने का कोई उपाय नहीं। खाने-पीने तक की सुविधा नहीं। घर में इतना मुश्किल से जुटा पाते कि एक बार एक जून का भोजन हो पाये। और दो थे घर में; एक माँ थी और विवेकानन्द थे। तो माँ उन्हें खिला दे और खुद भूखी रह जाय--पानी पीकर। तो विवेकानन्द उससे कहते कि आज फलाँ मित्र के घर में निमंत्रण है, मैं वहाँ जा रहा हूँ; सिर्फ इसलिए कि वह खाना खा लेगी। और वे सड़कों पर चक्कर लगाकर वापस बड़ी खुशी से घर लौटते और उन भोजनों की चर्चा करने लगते, जो उन्होंने किये नहीं। कोई मित्र के घर निमंत्रण नहीं रहता था। लेकिन, यह कितने दिन चलता!

रामकृष्ण को खबर लगी तो रामकृष्ण ने कहा, 'तू कैसा पागल है! तू जा और काली से माँग ले। माँग क्यों नहीं लेता है! जो चाहिए, मिल जाएगा; माँग ले।' विवेकानन्द को रामकृष्ण ने वस्तुतः धक्का दे दिया मंदिर में कि 'तू जा और माँ से माँग ले।' क्षण बीते, घड़ी बीती। रामकृष्ण बार-बार झाँककर भीतर देखें; विवेकानन्द खड़े हैं। वे बड़े हैरान हो रहे हैं कि इतनी-सी बात माँगनी है, इतनी देर! फिर विवेकानन्द लौटे तो रामकृष्ण ने कहा, 'माँगा?' तो विवेकानन्द ने कहा, 'अरे! काली के सामने पहुँचा तो माँग की बात ही भूल गयी!' तो रामकृष्ण ने कहा, 'पागल, भेजा तुझे माँगने को था; फिर से जा।' विवेकानन्द फिर गये, और फिर घड़ी बीती, रामकृष्ण दरवाजे पर बैठे राह देखते रहे और विवेकानन्द फिर वहाँ से आनन्दित लौटे। रामकृष्ण ने कहा, 'लगता है कि माँग पूरी हो गयी! मिल गया? माँग लिया?' विवेकानन्द ने कहा, 'कौन-सी माँग?' रामकृष्ण ने कहा, 'तू पागल तो नहीं है! तुझे माँगने भेजा था?' विवेकानन्द ने कहा, 'बड़ी मुश्किल मालूम होती है। जब तक मैं बाहर रहता हूँ, तब तक तो माँग का खयाल रहता है। जैसे ही मंदिर में प्रविष्ट होता हूँ और काली की मूर्ति सामने आती है, तो मैं खुद ही सम्राट् हो जाता हूँ। उनकी मौजूदगी में माँगने का सवाल ही नहीं उठता; गुंजाइश भी नहीं रह जाती।' और तीसरी बार भी यही हुआ। रामकृष्ण ने कहा, 'कैसा है तू!' विवेकानन्द ने कहा कि 'आप क्यों मेरी नाहक परीक्षा ले रहे हैं। मैं जानता हूँ कि अगर माँग लूँ, तो यह द्वार मेरे लिए सदा के लिए बंद हो जायेंगे।'

यह द्वार तो उन्हीं के लिए खुले हैं, जो माँगते नहीं; जो कहते हैं: उसकी मरजी।

जो ठीक है, वही हो रहा है। जो होना चाहिए, वही हो रहा। उससे अन्यथा चाहने का कोई कारण भी नहीं।

कृष्ण इस सूत्र में कहते हैं कि बिना माँगे यज्ञ की भाँति जो जीवन को जीता, यज्ञ-रूपी कर्म में जो प्रविष्ट होता, दिव्य शक्तियाँ उसे बिना माँगे सब दे जाती हैं। लेकिन हमें अपने पर--जरूरत से ज्यादा--खतरनाक भरोसा है। या तो हम कोशिश करते हैं : पा लें, तब हमारा कर्म यज्ञरूपी नहीं हो पाता और या फिर हम माँगते हैं कि मिल जाय, तब आकांक्षा से सब दूषित हो जाता है और दिव्य शक्तियों से हमारे सम्बन्ध टूट जाते हैं। इसलिए ध्यान रखें कि जो प्रार्थना भी माँग के साथ जुड़ी है, वह प्रार्थना नहीं रह जाती। जिस प्रार्थना में भी रंचमात्र माँग है, वह प्रार्थना, प्रार्थना नहीं रह गयी। जो प्रार्थना निपट प्रार्थना है--जिसमें कोई माँग नहीं, सिर्फ धन्यवाद है--उसका--जो मिला है, (जो मिलना चाहिए, उसकी माँग नहीं--) वही प्रार्थना है।

इसलिए ठीक प्रार्थना सदा ही धन्यवाद होता है। और गलत प्रार्थना सदा ही माँग होती है। मंदिर में ठीक आदमी वही गया है प्रार्थना करने, जो धन्यवाद करने गया है कि परमात्मा ने कितना दिया है! और गलत आदमी वह है, जो माँगने गया है --फलाँ चीज नहीं है, फलाँ चीज नहीं दी, यह और मिलनी चाहिए। माँग प्रार्थना में जहर बन जाती है, धन्यवाद प्रार्थना में अमृत बन जाता है।

यज्ञरूपी कर्म--धन्यवादपूर्वक परमात्मा जो कर रहा है जो करा रहा है, उसकी परम स्वीकृति, टोटल एक्सेप्टिबिलिटि है। और तब बड़े रहस्य की बात है कि सब मिल जाता है।

'सीक यी फर्स्ट द किंगडम ऑफ गॉड देन ऑल एल्स शैल बी ऐडेड अनटु यू--पहले खोज लो परमात्मा का राज्य और फिर सब उसके पीछे चला आता है।' जिसे कभी नहीं माँगा, वह मिल जाता है। जिसे माँग-माँगकर भी कभी नहीं पाया था, वह बिन माँगे मिल जाता है। यह तो पहला हिस्सा है, जिसे प्रार्थना करते समय, मंदिर में प्रवेश करते समय खयाल रखें, साधु-संत के पास जाते समय खयाल में रखें। और यह भी खयाल में रखें कि जो साधु-संत प्रलोभन देता हो कि 'आओ मैं यह दे दूँगा', वहाँ भूलकर भी मत जाना। क्योंकि वहाँ प्रार्थना घटित ही नहीं हो सकती। वहाँ प्रार्थना असंभव है।

और चूँकि लोग माँगते हैं, इसलिए देने वाले साधु पैदा हो गये हैं। उन्हें आपने पैदा किया है। आप नौकरी माँगते हैं, तो नौकरी देने वाले साधु हैं। धन माँगते हैं, तो धन देने वाले साधु हैं। स्वास्थ्य माँगते हैं, तो स्वास्थ्य देने वाले साधु हैं। राख माँगते हैं, तो राख देनेवाले साधु हैं। ताबीज माँगते हैं, तो ताबीज देनेवाले

साधु हैं।

जो-जो बेवकूफी हम माँगते हैं, उसे सप्लाई तो किसी को करना चाहिए! परमात्मा नहीं करता तो दूसरे लोग करते हैं। लेकिन, ध्यान रखें, वहाँ धर्म का फूल कभी नहीं खिलेगा, वहाँ प्रार्थना प्राणों से कभी नहीं निकलेगी। और जो माँग गूँजेगी बाजार में, वह भी बाजार का ही हिस्सा है। धर्म का उससे कोई लेना-देना नहीं है। यह पहला सूत्र है।

इस श्लोक का दूसरा हिस्सा है, जिसमें कृष्ण और भी गहरी बात कहते हैं। वे यह कहते हैं कि यज्ञरूपी कर्म से जो मिले उसे बाँट दो, उसमें दूसरों को साझीदार बना लो! --क्यों? उसे 'शेयर' करो!--क्यों? यह भी परम नियमों में से एक नियम है जीवन का कि जितना हम अपने आनन्द को बाँटते हैं, उतना वह बढ़ता है; और जितना उसे रोकते हैं, उतना सड़ता है। जितना हम अपने आनन्द में दूसरों को सहभागी बनाते हैं, शेयरिंग करते हैं, उतना वह अनन्त गुना होता चला जाता है। और जितना हम कंजूस की तरह अपने आनन्द को तिजोरी में बंद कर लेते हैं, तो आखीर में हम पाते हैं कि वहाँ सिर्फ सड़ांध और बदबू रह गयी और कुछ भी नहीं बचा है।

आनन्द का जीवन विस्तार में है, फैलाव में है। और खयाल रखें : जब आप दुःख में होते हैं, तो सिकुड़ जाते हैं। दुःख में मन करता है कि किसी कोने में दबकर बैठ जायँ, कोई मिले न, कोई देखे न, कोई बात न करे। बहुत दुःखी हों तो मन होता है कि मर ही जायँ। उसका मतलब यह है कि ऐसे कोने में चले जायँ, जहाँ से कोई सम्बन्ध जिंदगी से न रह जाय। लेकिन जब भी आप आनन्द में होते हैं, तब आप कोने में नहीं बैठना चाहते हैं, तब आप चाहते हैं कि मित्र के पास, प्रियजनों के पास जायँ।

कभी आपने खयाल किया कि बुद्ध जब दुःखी थे, तो जंगल में गये और जब आनन्द से भर गये, तो शहर में वापस लौट आये! महावीर जब दुःखी थे, तो पहाड़ों में गये और जब आनन्द भर गया जीवन में तो वापस भीड़ में लौट आये। मुहम्मद जब दुःखी हैं, तो पहाड़ पर और जब आनन्द से भर गये तो जिंदगी में, बाजार में। जहाँ भी आनन्द घटित होगा, आनन्द को बाँटना पड़ेगा। वैसे ही जैसे कि जब बादल पानी से भर जाते हैं, तो बरसते हैं; ऐसे ही जब आनन्द प्राणों में भरता है, तो बरसता है। बरसना ही चाहिए। अगर न बरसा तो रोग बन जायेगा।

इसलिए कृष्ण दूसरा सूत्र कहते हैं कि अर्जुन! यज्ञरूपी कर्म से दिव्य शक्तियाँ जब वह सब देने लगें--जिसकी कि प्राणों में सदा से प्यास और माँग रही--लेकिन कभी मिला नहीं और अब बिना माँगे मिल गया है--तो कंजूस मत हो जाना। उसे

रोक मत लेना, उसे बाँट देना। क्योंकि, जितना बाँटेंगे, उतना ही वह बढ़ता चला जाता है।

आनन्द का यह नियम खयाल में आ जाना चाहिए कि वह बाँटने से बढ़ता है। कबीर ने कहा है—'दोनों हाथ उलीचिये'। आनन्द को ऐसे ही उलीचना चाहिए जैसे नाव चलती हो और पानी नाव में भर जाय, तब दोनों हाथों से आदमी उसे उलीचने लगते हैं। आनन्द को भी ऐसे ही दोनों हाथ उलीचिये। उसे बाँट दीजिए, उसे रोकिये मत। उसे रोका कि वह सड़ा। वही नहीं सड़ेगा, बल्कि उसे रोकने से वह जो द्वार खुला था—अन-माँगा मिलने का—वह भी बंद हो जायेगा। क्योंकि वह द्वार उसी के लिए खुला रह सकता है, जो बिना माँगे खुद भी दे।

आप जानते हैं कि घर में अगर दो खिड़कियाँ हों तो आप एक नहीं खोलते। एक खोलने से कुछ मतलब नहीं होता। क्रॉस-व्हेन्टिलेशन (आमने-सामने खुला स्थान) चाहिए। एक खिड़की खोलते हैं, तो उससे हवा नहीं आती है, जब तक कि दूसरी खिड़की न खोलें, जिससे हवा बाहर जाय। एक खिड़की खोले बैठे रहें तो कमरे में हवा नहीं आयेगी। खिड़की तो खुली है, लेकिन हवा नहीं आयेगी कमरे में। ताजी हवाएँ कमरे में नहीं भरेंगी, क्योंकि कमरे से हवाओं को निकलने का कोई मार्ग ही नहीं है। इसलिए इसके पहले कि आप हवाओं को निमंत्रित करें, उस द्वार को भी खोल दें, जहाँ से हवाएँ आयें और जायें भी। आनन्द भी क्रॉस-व्हेन्टिलेशन है। इधर से परमात्मा की तरफ से आनन्द मिलना शुरू हो, तो दूसरी तरफ से बाँट दें। और जितना बाँटेंगे, उतना ही परमात्मा की तरफ से आनन्द बढ़ता चला जाता है। जितने रिक्त होंगे, खाली होंगे, उतने भर दिये जायेंगे।

इसलिए जीसस कहते हैं: 'जिसके पास हिम्मत नहीं है देने की, वह पाने का पात्र भी नहीं है। जिसमें देने की हिम्मत है, वह पाने का भी पात्र है।' हम सिर्फ पाना चाहते हैं और देना कभी नहीं चाहते। इसलिए कृष्ण ऐसे आदमी को कहते हैं कि वह चोर है। कृष्ण ने यह बात कही कि वह आदमी चोर है, जो परमात्मा से, जीवन से, जगत् से जो भी मिल रहा है, उसे रोक लेता है। मात्र अपने लिए, निजी अहंकार के आस-पास, इर्द-गिर्द सब इकट्ठा कर लेता है, वह चोर है।

प्रूधों (Proudhon) ने तो बहुत बाद में कहा कि लोग चोर हैं। मार्क्स ने तो बहुत बाद में कहा कि लोग चोर हैं। कृष्ण ने तो सबसे पहले कहा कि लोग चोर हैं, अगर वे शेयर नहीं करते, अगर वे बाँटते नहीं। अगर वे आनन्द में दूसरे को साझीदार नहीं बनाते, तो वे चोर हैं। लेकिन कृष्ण जब लोगों को चोर कहते हैं, तो बहुत और मतलब है। और जब मार्क्स और प्रूधों लोगों को चोर कहते हैं तो मतलब और है। जब मार्क्स और प्रूधों कहते हैं कि लोग चोर हैं, तो उनका मतलब यह है कि उनकी गरदन दबा दो; छीन लो—जो उसके पास है; बाँट दो—जो उनके पास है।

लेकिन कृष्ण जब कहते हैं कि चोर तुम हो, तब वे यह नहीं कहते कि कोई तुम्हारी गरदन दबा दे और सब छीन ले। वे यह कहते हैं कि तुम्हीं जानो कि तुम अपने ही दुश्मन हो। तुम्हें और बहुत मिल सकता था, लेकिन तुम रोककर बैठ गये हो और उस बड़े मिलने से वंचित रह गये हो। अतः तुम बाँट दो, ताकि तुम्हें और बड़ा मिलता चला जाय। तुम जितना बाँट सकोगे, उतने बड़े को पाने के लिए निरंतर अधिकारी और हकदार होते चले जाओगे।

और अगर कृष्ण कहते हैं कि ऐसा आदमी गलत कर रहा है, तो उनका मतलब यही है कि वह दूसरे के लिए तो गलत कर रहा है, यह ठीक ही है। लेकिन, वह गौण है। वह अपने लिए ही गलत कर रहा है। वह आदमी आत्मघाती है। उसको एक किरण मिली थी, लेकिन उसने दरवाजा बंद कर लिया कि कहीं वह निकल न जाय। एक किरण उतरी आपके घर में, आपने जल्दी से दरवाजा बंद कर लिया कि कहीं वह किरण निकलकर पड़ोसी के घर में न चली जाय। लेकिन आपको पता नहीं कि जब आप दरवाजा बंद कर रहे हैं, तभी वह किरण मर गयी और जिस दरवाजे से वह आयी थी, उसको ही आपने बंद कर दिया। अब आने का भी द्वार बंद हो गया। और किरणें बचती नहीं, आती रहें तो ही बचती हैं।

यह बात भी खयाल में ले लें कि आनन्द कोई ऐसी चीज नहीं कि मिल गया, तो मिल ही गया। आनन्द ऐसी चीज है कि आता ही रहे, तो ही रहता है। आनन्द एक बहाव है, प्रवाह है, एक धारा है। ऐसा नहीं कि गंगा आ गयी, तो आ ही गयी। आती ही रहे रोज, तो ही ठीक है। अगर एक दिन आयी और फिर, बस, आ गयी और दूसरे दिन से धारा बंद हो जाय, तो सिर्फ डबरा बन जायेगा, तब गंगा नहीं होगी। उस डबरे में गंदगी होगी, बास उठेगी, उसके पास रहना मुश्किल हो जायेगा। गंगा आये और जाये, आती रहे और जाती रहे। रुके ना, ठहरे ना। ऐसे ही जिस दिन कोई व्यक्ति अपने पूरे जीवन को परमात्मा को समर्पित करके जीता है, उसके जीवन में आनन्द की गंगा आती रहती है और बहती रहती है—आती रहती है और बहती रहती है। उसकी जिंदगी एक बहाव, एक सरिता की भाँति है—जीवित; रुके हुए सरोवर की भाँति नहीं—घेरों में बंद, रुकी हुई।

और कभी आपने खयाल किया कि कहाँ से लाती है यह गंगा पानी, और कहाँ ले जाती है? कभी आपने उस वर्तुल का खयाल किया कि गंगा जहाँ से लाती है, वहीं लौटा देती है। सागर की तरफ भागी चली जा रही है गंगा। सागर में गिरेगी—सूरज की किरणों पर चढ़ेगी, बादलों में उठेगी, हिमालय पर बरसेगी। फिर भागेगी। फिर सागर, फिर सूरज की किरणों पर चढ़ना, फिर बादल, फिर पहाड़,

फिर मैदान, फिर सागर। वर्तुल है, एक सर्कल है।

जीवन की सभी गतियाँ सरक्युलर हैं। आनन्द की भी वैसी ही गति है। परमात्मा से ही वह आता है, परमात्मा में ही जाता है। आप में आये तो तत्काल उसे आस-पास परमात्मा का जो रूप फैला है, उसे बाँट दें---ताकि वह सागर तक फिर पहुँच जाय। फिर बादलों में उठे, फिर आप में गिरे। अगर आपने कहा: 'नहीं, पता नहीं, फिर आया कि नहीं आया। रोक लें।' बस, उस रोकने से आदमी चोर हो जाता है।

सब तरह के आनन्द में जब भी रोकने का खयाल पैदा होता है, तभी चोरी (थेफ्ट) पैदा हो जाती है। और यह चोरी परमात्मा के खिलाफ है। जहाँ से आया है, वहाँ जाने दें। आप से गुजरा, यही क्या कम है? आप से गुजरता रहेगा, यही क्या कम है? और सतत गुजरता रहे, यही जीवन की धन्यता है।

●प्रश्न: भगवान् श्री! तेहरवें श्लोक के पहले हिस्से में कहा गया है: 'यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाला श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाता है।' कृपया 'यज्ञ से बचे हुए अन्न' का अर्थ स्पष्ट करें।

साधारणतः तो 'यज्ञ से बचे हुए अन्न' को अगर हम शाब्दिक अर्थों में लें, जैसा कि भूल से लिया जाता रहा है, तो यज्ञ की प्रक्रिया में जो सामग्री है, उसे सबको बाँट देने के बाद जो बच रहा, उसे लेने वाला श्रेष्ठ पुरुष है। और जो पहले ही ले ले और फिर जो बच रहे उसे बाँट दे, वह निकृष्ट पुरुष है। घर यदि मेहमान आये, तो पहले घर के लोग खा लें और फिर मेहमान को जो बच रहे, दे दें, तो वह निकृष्ट परिवार है। मेहमान को पहले दे दे, फिर जो बच रहे, उसे ही खाकर संतोष कर ले; अगर कुछ भी न बच रहे तो उसको ही भोजन हुआ ऐसा मानकर सो जाय, तो वह श्रेष्ठ पुरुष है, वह श्रेष्ठ परिवार है।

सामान्य अर्थ तो यह है। लेकिन और गहरे में यज्ञ का मैं जो अर्थ कर रहा हूँ, वह ऐसा कर्म है, जो परमात्मा को समर्पित है। ऐसे कर्म से जो उपलब्ध हो, उसे पहले बाँट देवे और जब कोई लेने वाला न बचे, तो जो बच रहे, उसको अपने लिए स्वीकार कर लेवे, तो ऐसा पुरुष श्रेष्ठ है।

मुहम्मद की जिंदगी में इस सूत्र की सीधी व्याख्या है। और कई बार बड़ी मजेदार बात होती है। जैसे, कृष्ण का सूत्र और मुहम्मद के जीवन में व्याख्या होती है। जिंदगी इतनी ही रहस्यपूर्ण है। लेकिन हिन्दू मुसलमान---जो पागलों के गिरोह हैं ---वे नहीं समझ पाते। मुहम्मद ने कह रखा था अपनी पत्नी को, अपने परिवार के लोगों को, अपने मित्रों को, प्रेम करने वालों को कि अगर तुम घर में भोजन बनाओ तो जहाँ तक उसकी सुगंध पहुँचे, समझो वहाँ तक निमंत्रण हो गया। निमंत्रण देने तुम गये नहीं, लेकिन तुम्हारे घर में बने हुए भोजन की सुगंध जहाँ तक पहुँच गयी,

वहाँ तक निमंत्रण हो गया। उन सबको खबर कर आना कि आ जाओ।---सुगंध भी पहुँचे तो निमंत्रण हो जाय! तो पहले उन सब को खिला देना, फिर बच रहे तो खुद खा लेना।

जिसने अपने जीवन को ही यज्ञ बना लिया है, वह जीवन में जो भी मिले---चाहे ज्ञान, चाहे धन, अन्न, चाहे शक्ति---जो भी जीवन में मिले, उसे पहले बाँट देता है और जब कोई और लेने वाला नहीं बचता तो जो आखिरी हिस्सा बच जाय---यदि बच जाय---तो वह अपने लिए उपयोग कर लेता है---ऐसा व्यक्तित्व श्रेष्ठ है।

लेकिन हमारा सारा व्यक्तित्व निकृष्ट है। अगर कभी हम बाँटते हैं तो तभी बाँटते हैं, जब वह हमारे काम का नहीं होता! जब हमारे लिए किसी अर्थ का नहीं होता और सिर्फ बोझ बनता है, तब हम देते हैं। ठीक है, न देने से तो अच्छा ही है; लेकिन निकृष्ट दान है। न देने से तो अच्छा है, अदान से तो बेहतर है; क्योंकि हो सकता है, किसी के काम पड़ जाय। लेकिन, दान से जो व्यक्तित्व का फूल खिलता है, वह इससे खिलने वाला नहीं है। क्योंकि, आप सिर्फ कचरा फेंक रहे हैं। आप कुछ भी मूल्यवान् नहीं दे रहे हैं। देने में आपके भीतर, कहीं भी, आपको अपने लिए कटौती नहीं करनी पड़ रही है। देने में आपके भीतर, कहीं भी, कोई प्रेम नहीं है। यह अर्थ है।

अगर कोई व्यक्ति इसका स्मरण रखे तो धीरे-धीरे हैरान होगा कि जो हम सोचते हैं कि बचा लेंगे और उससे आनन्द पायेंगे, तो हमें कुछ पता ही नहीं है। एक बार उसे देकर भी देखें और हैरान होंगे कि चीजें बचाने से उतना आनन्द कभी नहीं देतीं, जितना देने से दे जाती हैं। मगर हमें पता नहीं चलता, क्योंकि हमने कभी इसका कोई प्रयोग नहीं किया है। जीवन में वह हमारे लिए अपरिचित गली है, उस रास्ते से हम कभी गुजरे नहीं।

इस जीवन में जो भी श्रेष्ठतम अनुभव हैं, वे सभी किसी न किसी अर्थ में देने से पैदा होते हैं। प्रेम का जो अनुभव है, वह देने का अनुभव है। केवल वे ही लोग प्रेम अनुभव कर पाते हैं, जो दे सकते हैं। अन्यथा अनुभव नहीं कर पाते। प्रार्थना का जो अनुभव है, वह देने का अनुभव है। वे ही लोग प्रार्थना का अनुभव कर पाते हैं, जो अपने को परमात्मा के चरणों में दे पाते हैं। वैज्ञानिक को एक आनन्द की प्रतीति होती है, क्योंकि वह अपने समस्त जीवन को विज्ञान के लिए दे पाता है। एक चित्रकार को एक आनन्द का अनुभव होता है, क्योंकि वह अपने समस्त जीवन को कला को दे पाता है। एक संगीतज्ञ को आनन्द का अनुभव होता है, क्योंकि वह अपना समस्त, सब कुछ संगीत को दे पाता है।

जहाँ भी इस जगत् में आनन्द का अनुभव है, वहाँ पीछे सदा दान खड़ा ही रहता है,

चाहे वह दान दिखायी पड़ता हो या न दिखायी पड़ता हो। इसलिए कृष्ण कहते हैं : श्रेष्ठ है वह पुरुष, जो पहले बाँट देता है, फिर जो बच जाता है, उसे ही अपना भाग मान लेता है। लेकिन सदा ही बहुत बच जाता है उनके पास, जो बहुत देने में समर्थ हैं। और जो, कुछ रोकने में समर्थ हैं, उनके पास कभी कुछ भी नहीं बचता है। असल में वे रोकने में इतने समर्थ हैं कि जब खुद को भी देने का वक्त आता है—तब वे नहीं दे पाते।

जो आदमी रोकने में इतना समर्थ है कि कभी किसी को कुछ नहीं दिया, पक्का समझना कि यह आदमी अपने को परमात्मा को नहीं दे पायेगा। इसको देने की आदत ही नहीं है। यह अपने को भी वंचित रख लेगा, दूसरे को भी वंचित रख लेगा। यह सिर्फ चीज को सम्हाले हुए मर जायेगा; यह पागल है, यह विक्षिप्त है, ऑब्सेस्ड (ग्रसित) है। इस तरह के व्यक्ति के लिए वे कह रहे हैं कि ऐसा व्यक्ति श्रेष्ठ की, श्रेष्ठत्व की, गरिमापूर्ण जीवन की यात्रा पर नहीं निकल पाता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन यज्ञ नहीं बन पाता।

●प्रश्न : भगवान् श्री, एक मित्र पूछते हैं कि आपने अभी कहा कि आनन्द आदि जो मिले, उसे बाँट देना चाहिए। तो उसी तरह क्या दुःख को भी बाँट देना चाहिए? इस पर आप का क्या खयाल है?

दुःख बाँटा नहीं जा सकता। जैसे आनन्द को रोका नहीं जा सकता, सिर्फ चेष्टा की जा सकती है; उसी प्रकार दुःख बाँटा नहीं जा सकता है। लेकिन हम दुःख को बाँटने की कोशिश करते हैं और आनन्द—जो कि बाँटा जा सकता है—उसे हम रोकने की कोशिश करते हैं।

दुःखी आदमी दूसरे को दुःखी करना शुरू कर देता है। हजार तरकीबें निकालता है, दूसरे को दुःखी करने की। असल में उसे किसी को सुखी देखकर बड़ी बेचैनी और तकलीफ होने लगती है। अगर दुनिया सुखी है, तो उसकी पीड़ा हजार गुनी अधिक हो जाती है; उसका दुःख भारी हो जाता है। तो दुःखी आदमी दूसरे को दुःखी करना शुरू कर देता है, दुःखी देखने की आकांक्षा करनी शुरू कर देता है। दूसरों को दुःखी देखकर थोड़ा प्रसन्न होने लगता है। और दुःखी आदमी दूसरों से निरंतर अपने दुःख की बात करके भी उनको उदास करना चाहते हैं, दुःखी करना चाहते हैं। व्यवहार भी करता है, अगर एक दुःखी आदमी, तो वह दूसरे के साथ ज्यादा क्रोधित होगा; अगर आनन्दित है, तो ज्यादा क्रोधित नहीं होगा। आनन्दित आदमी क्रोधित हो नहीं सकता, दुःखी आदमी क्रोधित हो सकता है।

दुःखी आदमी दूसरे को दबाने, सताने के हजार उपाय करने लगेगा और दुःख की चर्चा तो करेगा ही, जो भी मिलेगा उससे दुःख की चर्चा करेगा और अगर आपके

चेहरे पर उसकी दुःख की चर्चा से कोई कालिमा नहीं आयी तो दुःखी होगा। अगर कालिमा आयी और आप भी उदास हुए, तो उसका चित्त हलका होगा।

दुःखी आदमी दुःख बाँटने की कोशिश करता है। लेकिन, दुःख बाँटा नहीं जा सकता और जो बाँटता है, उसका भी उसी तरह दुःख बढ़ जाता है—जैसा आनन्द बाँटने से बढ़ जाता है। उसको भी समझ लेना जरूरी है।

बाँटना बहुत मुश्किल प्रक्रिया है। क्यों मुश्किल प्रक्रिया है? आंतरिक स्वभाव से (इन्ट्रेन्जिकली) मुश्किल है। आनन्द इसलिए बाँटा जा सकता है कि दूसरे आनन्द लेने को तैयार है। दुःख लेने को कोई तैयार नहीं है, इसलिए दुःख नहीं बाँटा जा सकता। आखिर बाँटियेगा किसी को, तो वह तैयार भी होना चाहिए न लेने को! तभी बात सफल है। बाँटने में दूसरा भी तो मौजूद है, आप अकेले नहीं हैं।

आनन्द बाँटा जा सकता है, क्योंकि दूसरे उसे लेने को तैयार हैं। दुःख बाँटा नहीं जा सकता, क्योंकि कोई उसे लेने को तैयार नहीं है। जिसके दरवाजे पर जायेंगे, वही दरवाजा बंद कर लेगा। आप और दुःखी होकर वापस लौटेंगे कि हम गये थे दान करने और दरवाजा बंद कर लिया! जिसके भिक्षा-पात्र में दुःख डालेंगे, वह भिक्षा-पात्र छिपा कर भाग खड़ा होगा। आप और दुःखी होकर लौटेंगे।

दुःख बाँटा नहीं जा सकता, क्योंकि कोई दुःख लेने को तैयार नहीं है। दुःख ऐसे ही इतना ज्यादा है कि अब और आपसे कौन लेने को तैयार होगा! लोग आनन्द लेने को तैयार हैं; क्योंकि लोग दुःखी हैं। लोग दुःख लेने को तैयार नहीं हैं; क्योंकि लोग दुःखी पहले से ही काफी हैं। लेकिन दुःख देने की कोशिश चलती है और देने में आपका दुःख उसी तरह बढ़ेगा, जिस तरह आनन्द देने में बढ़ता है। लेकिन, बढ़ने की प्रक्रिया दोनों की अलग होगी। परिणाम एक होगा।

आनन्द इसलिए बढ़ेगा कि जैसे ही आप किसी को आनन्द देते हैं, आपकी आत्मा विस्तीर्ण होती है। असल में दूसरे को आनन्द देने की कल्पना करने से भी आप बड़े होते हैं, छोटे नहीं रह जाते। असल में दूसरे को आनंदित देखना ही आत्मा का फैलाव है। दूसरे के आनन्द में आनंदित होना बड़ी कठिन बात है। दूसरे के दुःख में दुःखी होना उतनी कठिन बात नहीं है। दूसरे के आनन्द में आनंदित होना बड़ी कठिन बात है। किसी के घर में आग लग गयी है तो आप दुःखी तो हो पाते हैं, लेकिन आपके बगल में किसी ने एक महल खड़ा कर लिया हो, तो सुखी नहीं हो पाते। किसी की पत्नी मर गयी है, तो आप दुःखी हो पाते हैं, लेकिन किसी को सुंदर पत्नी मिल गयी है, तो आप फिर दुःखी होते हैं, सुखी नहीं हो पाते।

दूसरे के सुख में सुख अनुभव करना बहुत बड़ा आत्मिक फैलाव है। लेकिन इससे भी बड़ा फैलाव तो तब होगा, जब हम दूसरे को आनन्द देने में भी समर्थ होंगे। यह

जो दूसरे का अपना आनन्द है, उसमें हम आनंदित हों तो भी आत्मा बड़ी होती है; दूसरे को आनन्द देना तो और भी बड़ी घटना है---जिसको कहें : एक्सपेन्शन ऑफ कॉन्शसनेस, चेतना का विस्तार है।

चेतना का विस्तार होता है आनन्द को देने से और जब चेतना का विस्तार होता है तो आपका परमात्मा से आनन्द लेने का आयतन बढ़ जाता है। जितनी बड़ी आत्मा है आपके पास, उतनी ही परमात्मा की वर्षा आप पर हो सकती है। छोटी-सी आत्मा है, छोटा-सा पात्र है, तो उतनी वर्षा होती है---आत्मा बड़ी हो जाती है तो उतना बड़ा। जिस दिन किसी के पास पूरे ब्रह्माण्ड जैसी आत्मा हो जाती है, तो ब्रह्म का सारा आनन्द उस पर बरस पड़ता है। तो पात्रता चाहिए।

लेकिन ध्यान रहे: दुःख में इसका उलटा होता है। जब आप किसी को दुःख देना चाहते हैं, तो आप और छोटे हो जाते हैं। आपने कभी दुःख दिया हो तो आपको पता लगेगा : एक संकोच का; किसी फिजिकल (भौतिक) संकोच का पता चलता है; भीतर कुछ सिकुड़ जाता है। किसी को मारें एक चाँटा, तो आपको पता लगेगा कि कोई चीज भीतर सिकुड़ गयी। किसी के घाव पर मलहम-पट्टी रखें, तो भौतिक रूप से आपको अनुभव होगा कि भीतर-भीतर कुछ चीज फैल गयी---समथिंग एक्सपेन्डेड। रास्ते पर गिर पड़े किसी व्यक्ति को उठायें और भीतर देखें तो आपको पता लगेगा : कोई चीज बड़ी हो गयी। किसी की छाती में छुरा भोंक दें तो आपको पता लगेगा कि भीतर कोई चीज एकदम छोटी हो गयी।

दुःख जब आप दूसरे को देते हैं, तब आप एकदम सिकुड़ जाते हैं और जितने सिकुड़ जाते हैं, उतना ही आनन्द पाने में असमर्थ हो जाते हैं।

अब यह बड़े मजे की बात है कि आनन्द के लिए बड़ा हृदय चाहिए और दुःख के लिए छोटा हृदय चाहिए। दुःख छोटे हृदय को पात्र बनाता है और आनन्द बड़े हृदय को पात्र बनाता है। दुःख चूहों जैसा है, छोटी-छोटी पोलों में प्रवेश करता है। जितना छोटा हृदय होता है, दुःख उतने जल्दी प्रवेश करता है। क्योंकि, जितना छोटा हृदय रहता है, उतना ही कम प्रकाशित होता है। तो वहाँ प्रकाश मुश्किल है पहुँचना। अँधेरा, गंदगी, वह सब वहाँ होगी।

और जब आप दूसरे को दुःख देने चले जाते हैं तो धीरे-धीरे हृदय सिकुड़कर पत्थर की भाँति कड़ा हो जाता है। हम ऐसे ही नहीं कहते हैं भाषा में कि फलाँ आदमी पाषाण-हृदय है; हम ऐसे ही नहीं कहते कि पत्थर जैसा उसका हृदय है! पत्थर जैसे हृदय में क्या बात होती है?---पत्थर में बिलकुल ही जगह नहीं होती प्रवेश की। वह ठोस होता है, उसमें कहीं से कोई चीज प्रवेश नहीं कर सकती। और दूसरे को दुःख देने में हृदय पत्थर जैसा ही हो जाता है। दूसरे को दुःख देने के लिए पत्थर जैसा

होना जरूरी है, अन्यथा दूसरे को दुःख नहीं दे सकते। और जितने पथरीले हो जायेंगे, उतने ही आनन्द को पाने की क्षमता क्षीण हो जायेगी।

दुःख है क्या? आनंद को पाने की जो अक्षमता है, आनंद को पाने की जो इनकैपेसिटी है, जो अपात्रता है, वही दुःख है। जितना हम कम आनन्द को पा सकते हैं, उतने दुःखी हो जाते हैं। और जितना हम दुःख बाँटते हैं, उतने ही दुःखी होते चले जाते हैं। क्योंकि, कोई दुःख लेता नहीं। दुःख लौट-लौट कर आ जाता है। हर जगह द्वार बंद मिलते हैं। हृदय क्रोधित होता है और दुःख लौट आता है। हृदय क्रोधित होता है और हम बाँटने जाते हैं। इस तरह दरवाजे बंद होते चले जाते हैं। आखीर में दुःखी आदमी पाता है कि वह 'आइलेण्ड' (द्वीप) बन गया, अकेला रह गया, 'लोनली' हो गया। कोई नहीं है उसका संगी-साथी। दुःख में कोई मित्र होता है? दुःख में कोई संगी-साथी होता है? दुःख में आप अकेले हो जाते हैं।

एक पंक्ति मुझे याद आती है बचपन में पढ़ी हुई। एक आंग्ल कवि की पंक्ति है : 'रोओ और तुम अकेले रोते हो' (वीप एण्ड यू वीप एलोन), हँसो और सारा जगत् तुम्हारे साथ हँसता है (लाफ एण्ड द होल वर्ल्ड विल लाफ विथ यू)। देखें करके : रोओ, और तुम अकेले रोते हो। हँसो, और सारा जगत् तुम्हारे साथ हँसता है।

जितना दुःखी आदमी, उतना अकेला रह जाता है। जितना आनंदित आदमी, उतना ही सबके साथ एक हो जाता है। इसलिए दुःख बाँटा नहीं जा सकता, लेकिन बाँटा जाता है। आनंद बाँटा जा सकता है, लेकिन बाँटा नहीं जाता है। आनन्द को जो बाँटता है, उसका आनन्द बढ़ जाता है। दुःख जो बाँटता है, उसका दुःख बढ़ जाता है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। और वृष्टि यज्ञ से होती है। और यह, यज्ञ-कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।

इस सूत्र को समझने के लिए कुछ और बातें भी भूमिका के रूप में समझनी जरूरी है।

पूर्व और पश्चिम के दृष्टिकोण में एक बुनियादी फर्क है। और चूँकि आज सारी दुनिया ही पश्चिम के दृष्टिकोण से प्रभावित है---पूर्व भी---इसलिए इस सूत्र को समझना बहुत कठिन हो गया।

पूर्व ने सदा ही प्रकृति को और मनुष्य को दुश्मन की तरह नहीं, मित्र की तरह लिया। प्रकृति को हमने कहा : 'माँ', पृथ्वी को हमने कहा : 'माता', आकाश को हमने कहा : 'पिता'। यह सिर्फ काव्य नहीं है, यह एक दृष्टि है, जिसमें हम जीवन को समग्रीभूत

—एक परिवार मानते हैं—इस सारे विश्व को एक परिवार मानते हैं। इसलिए हमने कभी प्रकृति को जीतने (कॉन्करिंग द नेचर) की भाषा नहीं सोची। पश्चिम में प्रकृति और आदमी के बीच बुनियादी शत्रुता की दृष्टि है। इसलिए वे कहते हैं: जीतना है प्रकृति को। अब माँ को कोई जीतता नहीं! लेकिन पश्चिम में प्रकृति और जीवन, जगत् और मनुष्य के बीच एक शत्रुता का भाव है—जीतना है, लड़ना है, हराना है।

बर्ट्रेन्ड रसेल की एक किताब है: 'कॉन्क्वेस्ट ऑफ नेचर'। पश्चिम का ही कोई दार्शनिक लिख सकता है—'प्रकृति की विजय'। लेकिन कोई कणाद, कोई कपिल, कोई महावीर, कोई बुद्ध, कोई कृष्ण—पूर्व का कोई भी दार्शनिक नहीं कह सकता है—'प्रकृति की विजय'। क्योंकि, हम प्रकृति के ही तो हिस्से हैं, अंश हैं; उसकी विजय हम कैसे करेंगे? यह विजय वैसा ही पागलपन है, जैसे मेरा हाथ सोचे कि शरीर की विजय कर ले। पागलपन है। मेरे हाथ शरीर की विजय कैसे करेंगे! मेरा हाथ मेरे शरीर का एक हिस्सा है। मेरा हाथ मेरा शरीर ही है। हाथ लड़ेगा किससे? जीतेगा किससे?

जीतने की भाषा ही खतरनाक है। लेकिन पश्चिम कॉन्फ्लिक्ट, द्वंद्व की भाषा में सोचता है। वह सोचता है कि प्रकृति और हम—दुश्मन हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है। और इसलिए पश्चिम में अगर बेटा बाप का दुश्मन हुआ जा रहा है, तो ठीक 'कोरोलरी' है। उसका यही परिणाम होने वाला है। क्योंकि प्रकृति माँ है अगर, और आदमी उसका दुश्मन है, तो अपनी माँ से दोस्ती कितने दिन चलेगी? इस माँ से भी दुश्मनी हो ही जाने वाली है।

इस सूत्र के लिए मैं यह सब क्यों कह रहा हूँ—यह समझ लेना जरूरी है। यह समझ लेना इसलिए जरूरी है कि जब लोग अत्यंत सरल भाव से जीते हैं और जीवन को और अपने को तोड़कर नहीं देखते—उनके बीच कोई गल्फ, कोई खाई नहीं देखते, तो फिर उस स्थिति में सब कुछ परिवर्तित होता है—और ढंग से परिवर्तित होता है।

कृष्ण कहते हैं: 'अन्न से बनता है मनुष्य।' हम कहेंगे: 'अन्न से? बड़ी मटीरियॅलिस्ट, बड़ी भौतिकवादी बात कहते हैं कृष्ण; और कृष्ण जैसे आध्यात्मिक व्यक्ति से ऐसी बात!' फिर पश्चिम का दृष्टिकोण दिक्कत देता है। असल में पश्चिम कहता है कि सारा जीवन पदार्थ है। पूर्व तो कहता ही नहीं कि पदार्थ है। पूर्व तो कहता है: सभी परमात्मा है। अन्न भी पदार्थ नहीं है, वह भी जीवंत परमात्मा है।

इसलिए कृष्ण जब कहते हैं: 'अन्न से निर्मित होता है मनुष्य', तो कोई इस भूल में न पड़े कि वे वही कह रहे हैं जैसा कि भौतिकवादी कहता है कि बस, खाना-पीना—इसी से निर्मित होता है जीवन; मनुष्य—मिट्टी, पदार्थ, तत्त्व—इन्हीं से निर्मित

होता है। वे यह नहीं कह रहे हैं। यहाँ मामला बिलकुल उलटा है। वे कह रहे हैं: 'अन्न से निर्मित होता है मनुष्य।' और जब अन्न से मनुष्य निर्मित होता है तो अन्न भी जीवंत है, पदार्थ नहीं है। और अन्न आता है वृष्टि से। वह आता है वर्षा से। वर्षा न हो तो अन्न न हो। यहाँ वे जोड़ रहे हैं, जीवन और प्रकृति को, गहरे में।

वे कहते हैं: 'अन्न आता है वर्षा से'।—और वर्षा कहाँ से आती है?—अब वर्षा कैसे आती है? कृष्ण कहते हैं: यज्ञ से। वैज्ञानिक कहेगा: 'बेकार की बात कर रहे हैं! वर्षा—और यज्ञ से? पागल हैं!' वैज्ञानिक कहेगा: 'वर्षा? वर्षा यज्ञ से नहीं आती, वर्षा बादलों से आती है।' लेकिन कृष्ण पूछना चाहेंगे कि 'बादल कहाँ से आते हैं?' विज्ञान उत्तर देता चला जायेगा, 'समुद्र से आता है, नदी से आता है।' लेकिन अंततः सवाल यह है कि क्या मनुष्य में और आकाश में चलनेवाले बादलों के बीच कोई आत्मिक सम्बन्ध है, या नहीं है?

कृष्ण जब कहते हैं, 'वर्षा आती है यज्ञ से', तो वे यह कह रहे हैं कि वर्षा और हमारे बीच भी सम्बन्ध है। वर्षा हमारे लिए आती है; हमारी कामनाओं, हमारी आकांक्षाओं, हमारी भूख, हमारी प्यास को पूरा करने आती है। वे यह कह रहे हैं कि वर्षा हमारी प्रार्थनाएँ सुनकर आती है।

समझने की बात सिर्फ इतनी है कि प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई लेन-देन, कोई कम्यूनिकेशन है या नहीं है? पश्चिम कहता है—कोई कम्यूनिकेशन नहीं है; प्रकृति बिलकुल अंधी है; उसे मनुष्य से कोई मतलब नहीं है। लेकिन ऐसा दिखायी नहीं पड़ता। वैज्ञानिक खोजों से भी दिखायी नहीं पड़ता। दो-चार उदाहरण मैं देना चाहूँगा, ताकि खयाल में बात आ सके।

शायद आपको पता न हो—जब भी युद्ध होते हैं, तब युद्ध के बाद जो बच्चे पैदा होते हैं, उनमें पुरुष बच्चों की संख्या एकदम से बढ़ जाती है, और स्त्री बच्चों की संख्या कम हो जाती है। बड़ी हैरानी की बात है। अब वैज्ञानिक मुश्किल में पड़ा है—दो युद्धों के बाद। क्योंकि, कोई अर्थ समझ में नहीं आता कि इसका युद्ध से क्या मतलब—कि पुरुष ज्यादा पैदा हों और स्त्रियाँ कम पैदा हों! युद्ध से क्या सम्बन्ध! लेकिन युद्ध के बाद आमतौर से लड़के ज्यादा पैदा होते हैं। सौ लड़कियाँ पैदा होती हैं, तो एक सौ सोलह लड़के पैदा होते हैं। हमेशा अनुपात यही है। यह अनुपात भी बड़ा मिस्टीरियस (रहस्यपूर्ण) है। क्योंकि पन्द्रह साल के होते-होते सौ लड़कियाँ रह जाती हैं और सौ लड़के रह जाते हैं, सोलह लड़के मर जाते हैं। लड़के का शरीर, स्त्री के शरीर से रेजिस्टेन्स (प्रतिरोध शक्ति) में कमजोर है। इसलिए लड़कियाँ सोलह कम पैदा होती हैं; लड़के सोलह ज्यादा पैदा होते हैं; क्योंकि विवाह की उम्र आते-आते तक बराबर संख्या रह जानी चाहिए। अगर बराबर लड़के-लड़कियाँ

पैदा हों, तो लड़के कम पड़ जायेंगे। लेकिन, युद्ध के बाद अनुपात बहुत हैरानी का हो जाता है, अनुपात एकदम बढ़ जाता है। पुरुष बहुत बड़ी संख्या में पैदा होते हैं। क्योंकि युद्ध पुरुषों को मार डालता है।

अगर प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई बहुत आंतरिक सम्बन्ध नहीं है, तो यह घटना नहीं घटनी चाहिए। अगर आंतरिक सम्बन्ध नहीं है, तो इसकी कोई भी जरूरत नहीं कि कितने लड़के पैदा हों, कितनी लड़कियाँ पैदा हों!—कितने ही हों। कभी ऐसा भी नहीं हो सकता है कि किसी जमाने में पुरुष इतने ज्यादा हो जायँ कि स्त्रियाँ बहुत कम पड़ जायँ। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि स्त्रियाँ बहुत ज्याद हो जायँ और पुरुष कम पड़ जायँ? लेकिन ऐसा कभी नहीं होता है। जरूर स्त्री और पुरुष के पैदा होने के पीछे प्रकृति कोई हार्मनी, कोई व्यवस्था, कोई संतुलन बनाये रखती है।

जीवन और हम जुड़े हैं—गहरे में जुड़े हैं। अभी एक नयी साइंस निर्मित हुई है —इकोलॉजी; अभी वह विकसित हो रही है। आज नहीं कल इकोलॉजी जब बहुत विकसित हो जायेगी, तब कृष्ण का वचन पूरी तरह समझ में आ सकेगा। यह इकोलॉजी नया विज्ञान है जो पश्चिम में विकसित हो रहा है; क्योंकि वहाँ मुश्किल खड़ी हो गयी, क्योंकि उन्होंने सारी की सारी प्रकृति को अस्तव्यस्त कर दिया है।

पिछली बार तिब्बत में एक गाँव में ऐसा हुआ कि डी. डी. टी. छिड़का गया। तिब्बत के ग्रामीण लोगों ने बहुत कहा कि 'मत छिड़किये, मच्छड़ हैं, कोई हर्जा नहीं; हमारे साथी हैं। वे हैं और हम भी हैं। और हम सदा से साथ रह रहे हैं। ऐसी कोई ज्यादा अड़चन भी नहीं है।' लेकिन एक्स्पर्ट (विशेषज्ञ) तो मान नहीं सकता! उसने डी. डी. टी. छिड़क कर सारे मच्छड़ मार डाले। गाँव के बूढ़े प्रधान लामा ने कहा भी कि 'भई, मच्छड़ तो मर जायेंगे, वह तो ठीक है, लेकिन मच्छड़ों के मरने से कोई और दिक्कत तो हमारे लिए खड़ी नहीं हो जायेगी? क्योंकि वे सदा से थे और हमारे जीवन के हिस्से थे; उनके मरने से कहीं और गड़बड़ी तो नहीं हो जायेगी?' लेकिन विशेषज्ञों ने कहा, 'क्या पागलपन की बातें करते हैं!' लेकिन हुआ वही—मच्छड़ तो मरे सो मरे, बिल्लयाँ भी गयीं। उसी डी. डी. टी. के छिड़काव में, बिल्लियाँ मर गयीं। और बिल्लयाँ मर गयीं तो चूहे बढ़ गये। मच्छड़ मर गये और चूहे बढ़ गये; तो मलेरिया गाँव के बाहर हुआ, लेकिन प्लेग गाँव के भीतर आ गया।

गाँव के प्रधान लामा ने कहा कि 'बड़ी मुश्किल में हमको डाल दिया! मलेरिया फिर भी ठीक था, यह प्लेग और भी मुसीबत है। फिर मलेरिया से तो हम लड़ ही लेते थे, अब यह प्लेग हमारे लिए बिलकुल नयी घटना है। अब इसके लिए हम क्या करें?' तो एक्स्पर्ट ने कहा, 'ठहरो, हम दूसरा पावडर लाते हैं, जिसमें हम चूहों को

मार डालेंगे।' लेकिन उस बूढ़े ने कहा, 'अब हम तुम्हारी नहीं मानेंगे। क्योंकि पहले ही हमने तुमसे पूछा था कि मच्छड़ मर जायँ तो कोई और दिक्कत तो नहीं आयेगी; लेकिन तुमने कहा, कोई दिक्कत नहीं आयेगी। अब हम तुमसे पूछते हैं कि अगर चूहे मर जायँ और प्लेग गाँव के बाहर हो और कोई महाप्लेग गाँव के भीतर आ जाय, तो जिम्मेदार कौन होगा? और अब हम तुम पर भरोसा नहीं कर सकते।' उस एक्स्पर्ट ने कहा, 'फिर तुम क्या करोगे?' तो उस बूढ़े आदमी ने कहा, 'हम पुरानी व्यवस्था फिर से निर्मित कर देंगे।' उसने आस-पास के गाँव से बिल्लियाँ उधार मँगवायीं और गाँव में छोड़ी। बिल्लियाँ आयीं, चूहे कम हुए तो मच्छड़ वापस लौट आये।

इकोलॉजी का मतलब है कि जिंदगी एक परिवार है, उस परिवार में सब चीजें जुड़ी हैं; सब संयुक्त है, एक ज्वाइंट फैमिली है। सड़क के किनारे पड़ा हुआ पत्थर भी आपकी जिंदगी का हिस्सा है। अब सारी दुनिया में हमने वृक्ष काट डाले, तब हमको पता चला कि हम मुश्किल में पड़ गये। क्योंकि वृक्ष कट गये, तो बादल अब वर्षा नहीं करते। लेकिन हमें पहले पता नहीं था कि वृक्ष काटने से बादल वर्षा नहीं करेंगे। हमने कहा, 'क्या चिंता है—जमीन साफ करो।' लेकिन, वे वृक्ष बादलों को निमंत्रित करते थे। अब वे वृक्ष निमंत्रण नहीं भेजते बादलों को। अब बादल चले जाते हैं, उनको कोई रोकता नहीं है।

अभी हमने जब चाँद पर पहली दफा अपना अंतरिक्ष यान भेजा, तो हमें पता नहीं कि हमने क्या-क्या किया है। यह पता चलने में शायद पचास वर्ष लगेंगे। पृथ्वी के दो सौ मील के बाद, जहाँ हवा समाप्त होती है, वहाँ एक बड़ी पर्त अनेक गैसों व ऊर्जाओं से बनी हुई है, जो सदा से पृथ्वी को घेरे हुए है। उसकी एक दिवाल की तरह मोटी पर्त पूरी पृथ्वी को घेरे हुए है। उस पर्त के कारण सूरज की वही किरणें पृथ्वी तक आ पाती हैं, जो जीवन के लिए हितकर हैं और वे किरणें बाहर रह जाती हैं, जो हितकर नहीं हैं। लेकिन, अब वैज्ञानिकों को पता चला है कि हमने जहाँ-जहाँ से अंतरिक्षयान भेजे हैं, वहाँ-वहाँ विन्डोज (खिड़कियाँ) पैदा हो गयी हैं। जहाँ-जहाँ से वह पर्त तोड़-कर यान गया है, वहाँ खिड़कियाँ पैदा हो गयी हैं। उन खिड़कियों से सूरज की वे किरणें भी भीतर आने लगीं, जो कि जीवन के लिए अत्यंत खतरनाक हैं।

कृष्ण यह कह रहे हैं, इस छोटे से सूत्र में, कि जीवन एक संयुक्त घटना है। आकाश में बादल भी चलता है, तो वह भी हमारे प्राणों की धड़कन से जुड़ा है; सूरज भी चलता है, तो वह भी हमारे हृदय के किसी हिस्से से संयुक्त है। अभी सूरज ठंडा हो जाय तो हम सब यहीं ठंडे हो जायेंगे। दस करोड़ मील दूर है सूरज। हमको पता ही नहीं चलेगा कि वह कब ठंडा हो गया। क्योंकि, वहाँ से कोई अखबार भी नहीं निकलता है! वहाँ से कोई सूचना भी नहीं आयेगी। हमको यह भी पता नहीं चलेगा कि वह ठंडा

हो गया। क्योंकि, उसके ठंडे होने के ठीक आठ मिनट बाद हम भी ठंडे हो जायेंगे। इतनी देर इसलिए लगेगी क्योंकि आठ मिनट तक उसकी पुरानी किरणें जो सूरज के ठंडे होने के पहले चल चुकी हैं, वे हमारे काम आती रहेंगी, पर आठ मिनट बाद हम ठंडे हो जायेंगे।

इससे उलटा भी सच है, अगर सूरज से हम जुड़े हैं और अगर सूरज के बिना हम ठंडे हो जायेंगे, तब दूसरी बात आपसे कहता हूँ—जो इस मुल्क ने अकेले हिम्मत की है कहने की, वह है कि अगर हम भी ठंडे हो जायँ तो सूरज भी कुछ गवाँ देगा।

अब यह जरा कठिन पड़ता है समझना। लेकिन, यह समझ में आ सकेगा। अगर जीवन इण्टररिलेटेड है, अगर पति के मरने से पत्नी में कुछ कम हो जाता है, तो पत्नी के मरने से पति में भी कुछ कम होगा। अगर सूरज के मिटने से पृथ्वी ठंडी हो जाती है, तो पृथ्वी के ठंडे होने से सूरज से भी कुछ टूटेगा और बिखरेगा। क्योंकि सारी सृष्टि, सारा जीवन संयुक्त है, जुड़ा हुआ है।

तो जब कृष्ण कहते हैं, 'अन्न से बनता है मनुष्य', तो वे यह कह रहे हैं कि पदार्थ और चेतना में कोई बुनियादी भेद नहीं है। दोनों एक ही चीज है। पदार्थ से ही बनती है आत्मा। आत्मा का मतलब सिर्फ इतना है कि पदार्थ भी पदार्थ नहीं है। वह भी छिपी हुई, लेटेन्ट आत्मा है। वह भी गुप्त आत्मा है। आप अन्न खाते हैं, वह खून बनता है, हड्डियाँ बनता है, चेतना बनता है, होश बनता है, बुद्धि बनता है। निश्चित ही जो अन्न से बनता है, वह उसमें छिपा है। वह भी जीवन है। कहना चाहिए कि 'बिल्ट इन' (अंतर्गभित) जीवन है उसके भीतर, जो आपमें आकर फैल जाता और खिल जाता है।

अन्न आता है वर्षा से, वर्षा आती है यज्ञ से। यज्ञ का यहाँ क्या अर्थ है?

यहाँ कृष्ण यह कह रहे हैं कि जब मनुष्य अच्छे काम करता है और जब मनुष्य परमात्मा पर सर्मपित होकर जीता है, तो परमात्मा उसकी फिक्र करता है। सब तरह से पूरी प्रकृति उसकी चिंता करती है। सब तरफ से बादल वर्षा डालते हैं, वृक्ष फलों से भर जाते हैं—नदियाँ बहती हैं, सूरज चमकता है। जीवन में एक मौज और एक खुशी और एक रंग और एक सुगंध होती है। और जब आदमी बुरा होना शुरू होता है और आदमी जब अहंकार से भरता है और आदमी कहने लगता है कि 'मैं ही सब कुछ हूँ, कोई परमात्मा नहीं', तब जीवन सब तरफ से विकृत होना शुरू हो जाता है।

यज्ञ का अर्थ है: परमात्मा को सर्मपित लोगों का कर्म। परमात्मा को सब कुछ सर्मपित कर वे जीवन को ऐसा सामंजस्य, ऐसी हार्मनी देते हैं कि सारी प्रकृति उनके लिए अपना सब कुछ लुटाने को तैयार हो जाती है। अब उसको एक छोटा-सा

उदाहरण देकर मैं आपके खयाल में लाना चाहूँ, तो शायद समझ में आ जाय।

ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में एक छोटी-सी प्रयोगशाला है—डि ला बार (De-La Barr)। वहाँ वे कुछ बहुत गहरे प्रयोग कर रहे हैं। उसमें एक प्रयोग मैं आपको याद दिलाना चाहता हूँ। वह प्रयोग है कि उन्होंने दो क्यारियों में बीज बोये। एक-से बीज, एक-सी खाद, एक-सी क्यारी, एक-सा सूरज का रुख, लेकिन एक क्यारी के ऊपर उन्होंने पॉप म्यूजिक बजाया। पॉप म्यूजिक जो आज सारी दुनिया के नये जनरेशन (पीढ़ी) का संगीत है। संगीत कम है, विसंगीत ज्यादा है। लेकिन उसका नाम तो संगीत ही है। तो एक क्यारी पर पॉप म्यूजिक बजाया—रोज एक घंटे और दूसरी क्यारी पर क्लासिकल (शास्त्रीय) संगीत बजाया—बिथोवान, मोझर्ट, बेजनर आदि का संगीत बजाया। शास्त्रीय संगीत जो कि सही अर्थों में स्वरों का संगम और सामंजस्य है। इसमें वैज्ञानिकों को बड़ी हैरानी का अनुभव हुआ।

जिस क्यारी पर पॉप म्यूजिक बजाया गया, उस क्यारी के बीजों ने फूटने से इनकार कर दिया। और जिस क्यारी पर शास्त्रीय संगीत बजाया गया, उसके बीज जल्दी फूट गये, समय के पहले। पॉप संगीतवाली क्यारी के बीज बा-मुश्किल फूटे भी तो उनमें जो अंकुर आये, वे अर्द्धमृत थे, पहले से ही मरे हुए थे। उनमें फूल तो लग ही न सके। और शास्त्रीय संगीतवाली क्यारी पर, जैसे फूल साधारणतः उन बीजों से आने चाहिए थे, उनसे डेढ़ गुने बड़े फूल आये और डेढ़ गुने ज्यादा बड़ी संख्या में आये।

अब डिलाबार लेबोरेटरी (प्रयोगशाला) के वैज्ञानिकों का कहना है कि संगीत की जो तरंगें पैदा हुईं, उन्होंने अंतर पैदा किया है।

क्या संगीत से जब तरंगें पैदा होती हैं, तो आदमियों के कर्मों से तरंगें पैदा नहीं होतीं? और अगर संगीत से तरंगें पैदा होती हैं, तो क्या आदमी की चित्त की अवस्थाओं से तरंगें पैदा नहीं होतीं? क्या अहंकार से भरा हुआ आदमी अपने चारों तरफ विसंगीत नहीं फैलाता? क्या अहंकार से शून्य विनम्र आदमी अपने चारों ओर शास्त्रीय संगीत को नहीं फैलाता?

कृष्ण जब कह रहे हैं कि यज्ञ से होती है वर्षा, तो वे यह कह रहे हैं कि जब निरहंकारी लोग इस पृथ्वी पर जीते हैं, तो सारा जीवन इनके लिए सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाता है—बादल भी वर्षा करते हैं, पौधे भी अन्न से भर जाते हैं। और जब व्यक्ति गलत तरंगें अपने चारों ओर फैलाने लगते हैं, तो जीवन दरिद्रताओं से भर जाता है।

आप कहेंगे कि अस्तित्व और व्यक्ति से निकलनेवाली तरंगों का क्या सम्बन्ध? व्यक्ति से कोई तरंगें उठती हैं?

आपमें से बहुतों को निरंतर अनुभव हुआ होगा कि जब आप किसी एक व्यक्ति के पास जाते हैं, तो अचानक रिपल्सिव मालूम होता है कि हट जायँ; जैसे कि कोई

चीज आपको धक्का देती है। किसी के पास जाते हैं, तो लगता है कि आलिंगन में भर लें, कोई जैसे पास बुलाता है। कोई चीज खींचती है, अट्रैक्ट करती है।

खैर, ये तो मनोभाव हैं—हो सकता है, कल्पना हो। लेकिन अब तो फ्रांस के एक वैज्ञानिक ने एक यंत्र विकसित किया है, जो बताता है कि व्यक्ति से जो तरंगें निकल रही हैं—वे रिपल्सिव हैं या अट्रेक्टिव। जैसे आप वजन तौलने की मशीन पर खड़े होते हैं और काँटा घूमकर वजन बताता है, ऐसा ही उस मशीन के सामने खड़े हो जाते हैं और काँटा घूमकर बताना शुरू कर देता है कि इस व्यक्ति से जो किरणें निकल रही हैं, वे लोगों को दूर हटानेवाली होंगी कि पास खींचने वाली होंगी।

आज नहीं कल जब हम मनुष्य के जीवन में और थोड़ी गहराई से घुस पायेंगे, तो हमें इन सत्यों का पता चलेगा। और अगर आज वर्षा खो गयी है, और आज अगर अन्न खो गया है, और आज अगर सब कुछ खो गया है, और सब दुर्दिन और दुःख से भर गया है, तो उसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि जनसंख्या बढ़ गयी है; उसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि पृथ्वी की पैदा करने की क्षमता कम हो गयी है; उसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि हम वैज्ञानिक खाद नहीं डाल पा रहे हैं। नहीं, उसके और गहरे कारण भी हैं।

मनुष्य से जो तरंगें निकलती थीं और सारी प्रकृति से उन तरंगों का जो तालमेल था, वह टूट गया है; जो इनर हार्मनी थी, वह टूट गयी है। मनुष्य ने अपने हाथ से ही सब तालमेल तोड़ डाला है, वह अकेला खड़ा हो गया है—दुश्मन की तरह। न बादलों से कोई दोस्ती है, न नदियों से कोई प्रेम है।

वे लोग आज हमें पागल ही मालूम पड़ते हैं, जो किसी नदी को नमस्कार करते हैं। पागल हैं; नदी को नमस्कार कर रहे हैं। लेकिन जिन लोगों ने पहली बार नदी को नमस्कार किया था, उनके भाव का आपको कुछ खयाल है? जिन्होंने पहली बार नदी के चरणों में सिर रखा था, उनके भाव का कुछ खयाल है? जरूर उन्होंने नदी से एक मैत्री, एक हार्मनी का अनुभव किया था। जो पहाड़ों पर चढ़कर नमस्कार करने लगे थे, उनके भाव का आपको कोई खयाल है? लेकिन आज की दुनिया में भाव बिना कीमत की चीज है; उसका कोई मूल्य ही नहीं है। भावपूर्ण होना मूर्खतापूर्ण होना हो गया है, हालाँकि भावहीन होने से बड़ी मूर्खता दूसरी नहीं हो सकती है।

कृष्ण ठीक कह रहे हैं कि यज्ञपूर्ण कर्मों से, यज्ञपूर्ण प्रार्थनाओं से वर्षा होती है। तो इसका अर्थ यह नहीं है कि आप आग जलाकर, उसमें गेहूँ डालकर वर्षा कर लेंगे। यह मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं उससे कहीं ज्यादा गहरी बात कह रहा हूँ। मैं आपसे यह कह रहा हूँ कि यह तभी संभव हो पायेगा, जब प्रकृति और मनुष्य दुश्मन की तरह नहीं, मित्रों की तरह, प्रेमियों की तरह, एक ही चीज के हिस्से की तरह जीते हैं।

तब हमारा पूरा जीवन यज्ञ हो जाता है। और उस क्षण में अगर हम आग जलाकर भी बादलों से बात करते हैं, तो उसका कोई अर्थ होता है। आज नहीं हो सकता यह, लेकिन उस दिन जब इतने भाव से भर कर हम यज्ञ की वेदी बनाते थे और उसके चारों तरफ नाचकर बादलों से प्रार्थना करते थे, तब इसका परिणाम होता था।

मैंने सुना है: एक गाँव में बहुत दिनों से वर्षा नहीं हुई। गाँव के बाहर यज्ञ हो रहा है। सारे गाँव के लोग प्रार्थना करने जा रहे हैं। एक छोटा बच्चा छाता लगाकर निकल आया घर से—बगल में छाता दबाकर। लोगों ने— बड़े-बूढ़ों ने कहा 'पागल, छाता घर में फेंक कर आ। वर्षा तो हो नहीं रही है दो साल से —छाता को लेकर क्या करेगा? उसने कहा, 'आप सब लोग यज्ञ में जा रहे हैं, मैंने सोचा, आपको भरोसा होगा कि आपकी प्रार्थना सुनी जायेगी। इसलिए मैं छाता लेकर चल रहा हूँ।'

आपको ही भरोसा नहीं तो जलाओ आग, डालो गेहूँ उसमें और जो वह पास में है, उसे भी खराब करो। उससे कुछ होनेवाले नहीं है।

वह एक छोटा बच्चा भर उस गाँव में यज्ञ करने का अधिकारी था; बाकी सब पूरा गाँव अधिकारी नहीं था। लेकिन घर के बड़े-बूढ़ों ने डाँटा-डपटा और छाता रखवा लिया। कहा, 'रख छाता, पागल कहीं का। कोई छीन ले, छुड़वा ले, भीड़भाड़ में टूट जाय। पानी दो साल से नहीं गिर रहा है। गिर गया ऐसे पानी!

यह एक ही बच्चा यज्ञ का अधिकारी हो सकता था और यह एक ही बच्चा पूरे प्राणों से प्रार्थना करे, तो बादल भी आ सकते हैं; क्योंकि हम सब जुड़े हैं। हम इतने अलग नहीं हैं, जितने बादल और हम दिखायी पड़ते हैं। इस जगत् में कुछ भी अलग अलग नहीं है, सब संयुक्त है।

इस जगत् में दूर से दूर का तारा भी आपके हाथों से जुड़ा है। अनन्त-अनन्त दूरी पर जो तारे हैं, वे भी मेरे शब्दों की ध्वनि से प्रतिध्वनित होते हैं। अनन्त दूरी पर जो है, वह भी मेरे हृदय की झंकार से झंकृत होता है, मेरा हृदय भी उनकी झंकार से झंकृत होता है। जीवन एक इकोलॉजी है—एक परिवार है। इस बात को खयाल में रखें, तो कृष्ण का यह सूत्र समझ में आ सकता है।

● प्रश्न : कुछ दिन पहले गुजरात में होने वाले कोटिचंडी यज्ञ को आपने मूर्खतापूर्ण बताया था। इस पर दो शब्द कहें कि इसका क्या कारण था?

वह तो मैं अब भी कह रहा हूँ। आपके कोई कोटिचंडी यज्ञ काम के नहीं हैं। क्योंकि यज्ञ करने के पीछे जो भाव, मनःस्थिति, जो मनुष्य चाहिये, वह मौजूद नहीं है। वह सब रिच्युअल (कर्म-काण्ड) है—मुरदा, मरा हुआ। इसमें कोई अर्थ नहीं है। यज्ञ न भी करें लेकिन वह आदमी वापस लौटा लें, जो यज्ञ का अधिकारी है, तो बिना कोटिचंडी यज्ञ किये वर्षा शुरू हो सकती है। सवाल असल में कृत्य का नहीं है। सवाल असल

भाव का है। आप क्या करते हैं, यह सवाल नहीं है; वह करने वाला चित्त कौन है, इसका सवाल है। वह तो नहीं है। वह तो बिलकुल नहीं है।

यज्ञ की वेदी पर जो इकट्ठे हुये हैं, उनका चित्त प्रार्थनापूर्ण जरा भी नहीं है। जब यज्ञ पूरा हो जाय, तो जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ करवाया उनके झगड़े देखिये जाकर! किसी को फीस कम मिली, किसी को दक्षिणा कम मिली; कोई नीचे बैठ गया, कोई ऊपर बैठ गया! इन लोगों ने यज्ञ करवाया है! कोई दस रुपये रोज की फीस पर आया है, कोई पन्द्रह रुपये रोज की फीस पर आया है। इनके द्वारा आप बादलों तक संदेश पहुँचायेंगे?

एक मित्र हैं मेरे। कुछ दिन हुये मिलने आये थे। पूरी जिंदगी उन्होंने जैन साधु-साध्वियों को शिक्षण देने में बितायी। साधु-साध्वियों को धर्म की शिक्षा देते थे। पूरी जिंदगी बीत गयी। न मालूम कितने साधु-साध्वियों को उन्होंने ट्रेन्ड (प्रशिक्षित) किया है। मैंने उनसे पूछा कि 'जिंदगी हो गयी, आप अब तक साधु नहीं बने? उन्होंने कहा कि 'मेरा काम तो सिर्फ साधु-साध्वियों को शिक्षा देने का है। सीखना क्या है? सिखाते हैं कि साधु ठीक से कैसे होना। साधु के नियम क्या हैं? साधु की साधना क्या है?' मैंने कहा: 'चालीस वर्ष तक दूसरों को सिखाने के बाद भी अभी तक आपको ऐसा नहीं लगा कि आप साधु हो जायँ, तो जिनको आपने सिखाया उनको लगा होगा?' कैसे लगेगा? कभी नहीं लगने वाला है।

अब भी कहता हूँ कि आपके कोटिचंडी यज्ञ कोई काम नहीं करेंगे, क्योंकि यज्ञ करने वाली चेतना नहीं है। वह होनी चाहिये। वही है अर्थपूर्ण और वह हो तो पूरा जीवन ही यज्ञ हो जाता है। और वह हो तो ये यज्ञ जो आप करते हैं, ये भी सार्थक हो सकते हैं।

मैं निरंतर इनके खिलाफ बोलता हूँ। कई लोगों को भ्रम पैदा हो जाता है कि शायद मैं यज्ञ के खिलाफ हूँ। मैं, और यज्ञ के खिलाफ कैसे हो सकता हूँ? लेकिन जिसे आप यज्ञ कह रहे हैं, वह सिर्फ पाखंड है, दिखावा है, धोखा है, व्यर्थ का जाल है। कभी सार्थक रहा होगा। लेकिन जिन लोगों की वजह से वह सार्थक था, वे लोग अब नहीं हैं। उन लोगों को पैदा करें, यज्ञ फिर सार्थक हो सकता है।

मैंने एक छोटी-सी कहानी सुनी है। मैंने सुना है कि एक घर में छोटे बच्चे थे। बाप बूढ़ा था। बच्चे छोटे ही थे, तभी बाप मर गया। लेकिन बच्चों ने देखा था कि बाप खाना खाने के बाद उठकर चौके में से, दीवार पर जाता था। दीवार पर एक आला था। उस में आले में से कुछ उठाता, कुछ करता था। बच्चे बड़े हुये तो उन्होंने उस आले को सम्हाल कर रखा। बाप कुछ करता नहीं था विशेष। आले में उसने एक सींक रख छोड़ी थी, दाँत साफ करने के लिये। लेकिन छोटे बच्चों ने देखा था कि बाप खाना खाने के बाद रोज आले पर जाता था, अब बाप की याद में वे भी जाने लगे। उनको पता तो नहीं था कि सींक वहाँ रखी है, जिससे दाँत साफ करते। तब उनके

दाँत भी इस योग्य नहीं थे कि उन्हें साफ करने की जरूरत पड़े। उन्होंने सोचा था, करना क्या वहाँ जाकर, तो वे नमस्कार कर लेते थे।

बड़े हुए तो फिर उन्हें बड़ा अटपटा लगा कि नमस्कार तो करते हैं, लेकिन आले में कुछ है तो नहीं; सिर्फ एक सींक रखी है। बाप गरीब था, लेकिन लड़कों ने काफी पैसे कमाये तो उन्होंने सोचा, हटाओ सींक को। उन्होंने एक चंदन की लकड़ी खुदवाकर रख ली। फिर और पैसा कमाया, और बड़े हुए। फिर नया मकान बनाया, तो उन्होंने कहा, वह आला तो बनाना ही पड़ेगा। उन्होंने कहा, अब आला क्यों बनाना, एक छोटा मंदिर ही बना लो। चंदन की लकड़ी छोटी पड़ी, मंदिर बड़ा हो गया तो उन्होंने कहा कि एक बड़ा स्तंभ ही बना लो। तो उन्होंने एक सोने का स्तंभ मंदिर के बीच में बनाकर रख दिया। रोज खाना खाकर उसको नमस्कार करते और अपने काम पर चले जाते।

मैंने सुना है कि अब भी उनके घर में वही हो रहा है। आपके घर में भी वही हो रहा है। सभी घरों में वही हो रहा है! कभी वे बातें सार्थक होती हैं, लेकिन जब वे व्यक्तित्व खो जाते हैं, बोध खो जाते हैं, और उनके पीछे उनकी प्रक्रिया खो जाती है, तब कोरे रिच्युअल, डेड रिच्युअल, मरे हुये क्रियाकांड शेष रह जाते हैं। फिर हम उनको करते चले जाते हैं। और अगर उन क्रिया-कांडों से कुछ नहीं होता तो भी हम सजग नहीं होते कि बहुत मूल बात व्यक्तित्व है, मनुष्य की चेतना है। वह चेतना वापस हो तो यज्ञ आज भी संभव है। लेकिन हम चेतना वापस लौटाने के लिये उत्सुक नहीं हैं, क्योंकि चेतना को वापस लौटना कठिन काम है।

हम यज्ञ करने के लिये बिलकुल तैयार हैं। ले जाओ दस रुपये, कर डालो यज्ञ। इससे कुछ बनना-बिगड़ना नहीं है; बहुत हुआ, तो दस रुपये का नुकसान होगा। हम यज्ञ करने में उत्सुक हैं, यज्ञ की चेतना में हम उत्सुक नहीं हैं। मेरा जोर इस पर है कि वह यज्ञ करनेवाली चेतना हो तो सारा जीवन ही यज्ञ हो जाता है। फिर इस यज्ञ की जो वेदी बनती है, उस पर जो होता है, उसकी भी सार्थकता हो सकती है। वह हमेशा करने वाले आदमी पर निर्भर है, वह कभी की जाने वाली क्रिया पर निर्भर नहीं।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माऽक्षर समुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

तथा उस कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इससे सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि ऐसे कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान। वेद शब्द का अर्थ होता है ज्ञान। वेद शब्द का अर्थ सिर्फ वेद के नाम से चलती हुई संहिताएँ

नहीं है। जिस दिन हमने यह ना-समझी की कि हमने वेद को सीमित किया संहिताओं पर, चार वेद पर, उसी दिन भारत के भाग्य में बड़ी से बड़ी दुर्घटना हो गयी। वेद है ज्ञान और ज्ञान सतत गतिमान है, डायनेमिक है, स्टैटिक नहीं है। करोड़ों-अरबों संहिताओं में भी पूरा नहीं होता है ज्ञान। संहिताएँ सब चूक जायेंगी, तो भी ज्ञान नहीं चूकता है। वह अनन्त है। कृष्ण कहते हैं: 'वेद को तू ऐसे ज्ञान से उत्पन्न हुआ जान।'

दो तरह के कर्म हैं। एक अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म, जो हम करते हैं। और एक ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म, जिसकी कृष्ण सूचना कर रहे हैं। अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म, कौन-सा कर्म है? अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म, वह कर्म है, जिसमें कर्ता और अहंकार मौजूद हैं। जिसमें हम कहते हैं: 'मैं कर रहा हूँ', वह अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है। उसमें अहंकार और अज्ञान संयुक्त घटना है। जहाँ अज्ञान है, वहीं अहंकार हो सकता है। और जहाँ अहंकार है, वहीं अज्ञान हो सकता है। यह दोनों अलग-अलग नहीं हो सकते। ऐसा नहीं हो सकता कि अहंकार चला जाय और अज्ञान रह जाय। और ऐसा भी नहीं हो सकता कि अज्ञान चला जाय और अहंकार रह जाय। अज्ञान और अहंकार संयुक्त घटना है। ज्ञान और निरहंकार संयुक्त घटना है। तो कृष्ण कह रहे हैं कि यज्ञ ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है—यज्ञ-रूपी कर्म, ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म है। और ज्ञान परमात्मा से उत्पन्न होता है।

जो हम यह कहते हैं कि वेद परमात्मा ने रचे, यह सिम्बॉलिक (सांकेतिक) है। कोई किताब परमात्मा नहीं रचता; रच नहीं सकता। रचने का कोई कारण नहीं है। कोई किताब परमात्मा नहीं रचता, लेकिन परमात्मा बहुत-सी चेतनाओं में उतरता है और ज्ञान बनता है। जो चेतनाएँ भी अपने-अपने अहंकार को बिदा करने में समर्थ हैं, परमात्मा उनमें उतर आता है। और वे चेतनाएँ किताब लिखती हैं। इसलिए उन चेतनाओं के द्वारा लिखी गयी किताब को अगर हम परमात्मा के द्वारा लिखी हुई किताब कहें, तो एक अर्थ में सही है। इसी अर्थ में सही है कि उन्होंने वही लिखा है, जो परमात्मा ने उनके भीतर उतर कर उन्हें जताया। अपौरुषेय हैं, वे किताबें। लिखनेवाले यह नहीं कह रहे हैं कि हम इनके लेखक हैं। वे इतना कह रहे हैं कि हम सिर्फ मीडियम हैं, माध्यम हैं; लेखक परमात्मा ही है। लेकिन जब भी किसी व्यक्ति के भीतर ज्ञान उतरता है, तो वह परमात्मा से उतरता है। ज्ञान परमात्मा का स्वभाव है, प्रकाश की भाँति। अज्ञान अहंकार का स्वभाव है।

हम अहंकार से भरे हों, तो जीवन में जो भी कर्म होता है, वह कर्म अज्ञान से ही निकला हुआ कर्म है। और अज्ञान से निकले हुए कर्म की पहचान और परख क्या है? जिस कर्म से बंधन, दुःख, संताप और पीड़ा पैदा हो, वह कर्म अज्ञान से निकला हुआ

जानना। वह उसका लक्षण है। जिस कर्म से बन्धन पैदा न हो, जिस कर्म से आनन्द पैदा हो; जिस कर्म से चिन्ता न आये—निश्चिन्तता आये; जिस कर्म में गुलामी न हो, मुक्ति हो, उस कर्म को ज्ञान से निकला हुआ कर्म जानना। और ज्ञान से वह तभी निकलेगा, जब अहंकार भीतर न हो। और जब अहंकार नहीं है तो परमात्मा है।

अहंकार की अनुपस्थिति परमात्मा की उपस्थिति बन जाती है। जिस दिन हम मिटते हैं, उसी दिन परमात्मा हमारे भीतर प्रकट हो जाता है। जब तक हम मजबूती से बने रहते हैं, तब तक परमात्मा को जगह ही नहीं मिलती, हमारे भीतर प्रवेश की।

एक छोटी सी कहानी आपसे कहूँ फिर हम अपनी बात पूरी करें। सुना है मैंने कि एक झेन फकीर हुआ बांकेई। टोकियो यूनिवर्सिटी का एक प्रोफेसर उससे मिलने गया; दर्शनशास्त्र का अध्यापक था। बांकेई का नाम सुना और सुना कि सत्य उसे पता चल गया है, तो पता लगाने गया। जाकर बैठा। दोपहर थी, थका था, पहाड़ चढ़ा था झोपड़े तक। पसीना झर रहा था। बैठते ही उसने पूछा 'मैं जानने आया हूँ: (व्हाट इज ट्रुथ?) सत्य क्या है? मैं जानने आया हूँ: परमात्मा क्या है? (व्हॉट इज गॉड?) मैं जानने आया हूँ: धर्म क्या है? (व्हॉट इज रिलीजन?)' बांकेई ने कहा: 'जरा धीरे, और जरा आहिस्ता। जरा बैठ जायँ, पसीना बहुत ज्यादा है माथे पर, थक गये हैं। श्वास चढ़ी है, जल्दी न करें। मैं एक कप चाय बना लाऊँ। चाय ले लें, थोड़ा विश्राम कर लें, फिर हम बात करें। और यह भी हो सकता है कि बात करने की जरूरत न पड़े, चाय पीने से ही जो आप पूछने आये हैं, उसका उत्तर भी मिल जाय।'

प्रोफेसर ठनका, सोचा कि नाहक मेहनत की पहाड़ चढ़ने की। पागल है यह आदमी। कह रहा है: चाय पीने से उत्तर मिल जायेगा! क्या मैंने कोई ऐसा सवाल पूछा है कि चाय पीने से उत्तर मिल जाय? तो चाय तो हम घर ही पी लेते। घर पीते ही हैं। इस पहाड़ पर, इस दुपहरी में, इस श्रम को करने की क्या जरूरत थी! निढाल होकर बैठ गया। लेकिन सोचा कि अब चाय तो पी ही लें और कोई आशा नहीं है। चाय पीकर वापस लौट जायँ।

बांकेई भीतर से चाय बनाकर लाया। उसने प्रोफेसर के हाथ में कप और प्याली दी। केतली से चाय ढाली। भीतर का बर्तन पूरा भर गया, फिर भी वह चाय ढालता गया। फिर तो नीचे का बर्तन भी पूरा भर गया, फिर भी वह चाय ढालता गया। वह प्रोफेसर चिल्लाया: 'रुकिये! मैं तो पहले ही समझ गया था कि आपका दिमाग ठीक नहीं मालूम होता। चाय नीचे गिर जायेगी, अब एक बूँद चाय रहने की जगह प्याली में नहीं है।'

बांकेई ने कहा: 'यहीं मैं तुमसे कहना चाहता था। एक बूँद भी जगह तुम्हारे

भीतर कुछ रखने के लिए नहीं है और तुम सत्य, परमात्मा, धर्म——इतने-इतने बड़े लोगों को मेहमान बनाना चाहोगे——सत्य, परमात्मा, धर्म ! जगह है, स्पेस है भीतर ? लेकिन, प्याली में एक बूंद जगह नहीं है, यह तुम्हें दिखायी पड़ता है और तुम्हारे मन की प्याली में एक बूंद भी जगह नहीं है, यह तुम्हें दिखायी नहीं पड़ता ! जाओ, जगह बनाकर आओ।'

घबराहट में प्रोफेसर चाय भी न पी सका। घबड़ाकर उठ गया। बात तो ठीक मालूम पड़ी। उसने कहा, 'जब खाली कर लूँगा तो आऊँगा।' तो बांकेई खिलखिलाकर हँसने लगा। उसने कहा, 'पागल, जब तू खाली कर लेगा, तो परमात्मा खुद वहाँ आ जायेगा। तुझे यहाँ आने की कोई जरूरत ही नहीं है।'

जहाँ अहंकार मिटा, जहाँ भीतर जगह खाली हुई, इनर स्पेस हुआ, वहीं ज्ञान उतर आता है, वहीं प्रभु उतर आता है।

यज्ञरूपी कर्म जो करता है, उसके भीतर ज्ञान से कर्म विकसित होते हैं, निकलते हैं। और ज्ञान से निकलता हुआ कर्म मुक्तिदायी है।

पाँचवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, दिनांक १ जनवरी, १९७१

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।१६।।
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।१८।।

हे पार्थ, जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए सृष्टि-चक्र के अनुसार नहीं बर्तता है (अर्थात् शास्त्र के अनुसार कर्मों को नहीं करता है), वह इन्द्रियों के सुख को भोगनेवाला पाप-आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

परन्तु, जो मनुष्य आत्मा ही में प्रीतिवाला और आत्मा ही में तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट होवे, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।

क्योंकि, इस संसार में उस पुरुष का किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा इसका सम्पूर्ण भूतों में कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है। तो भी उसके द्वारा केवल लोक-हितार्थ कर्म किये जाते हैं।

पूरब की जीवन-कला : आश्रम प्रणाली

कृष्ण पहली बात इस सूत्र में कह रहे हैं—'सृष्टि के क्रम के अनुसार...।' इसे समझ लें, तो बाकी बात भी समझ में आ सकेगी। जीवन दो ढंग से जिया जा सकता है। एक तो सृष्टि के क्रम के प्रतिकूल—विरोध में, बगावत में, विद्रोह में। और एक सृष्टि के क्रम के अनुसार—सहज, सरल, प्रवाह में। एक तो जीवन की धारा के प्रतिकूल तैरा जा सकता है और एक धारा में बहा जा सकता है।

संक्षिप्त में कहें तो ऐसा कह सकते हैं कि दो तरह के लोग हैं। एक—जो जीवन की धारा से लड़ते हैं, उलटे तैरते हैं। और एक वे—जो धारा के साथ बहते हैं, धारा के साथ एक हो जाते हैं। सृष्टि-क्रम के अनुसार दूसरी तरह का व्यक्ति जीता है जीवन की धारा के साथ—जीवन से लड़ता हुआ नहीं, जीवन के साथ बहता हुआ। धार्मिक व्यक्ति का यही लक्षण है। अधार्मिक व्यक्ति का इसके प्रतिकूल लक्षण है।

अधार्मिक व्यक्ति अगर कहता है कि 'ईश्वर नहीं है', तो इसलिये नहीं कि उसे पता चल गया है कि ईश्वर नहीं है। ईश्वर के न होने का पता तो किसी को भी नहीं चल सकता है। ईश्वर के न होने का पता तो तभी चल सकता है, जब कि कुछ भी जानने को शेष न रह जाय। जब तक कुछ भी जानने को शेष है, तब तक कोई आदमी हकदार नहीं कि कह सके कि ईश्वर नहीं है, क्योंकि जो शेष है, उसमें ईश्वर हो सकता है। ईश्वर के न होने का पता इसलिये किसी को भी नहीं चल सकता है। लेकिन ढेर लोग हैं, जो कहते हैं कि ईश्वर नहीं है; बिना पता चले वे क्यों कहते होंगे कि ईश्वर नहीं है? असल में वे चाहते हैं कि ईश्वर न हो।

ईश्वर न हो, तो फिर जीवन के क्रम के साथ बहने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। ईश्वर न हो, तो फिर जीवन से लड़ा जा सकता है। ईश्वर हो, तो जीवन से लड़ा नहीं जा सकता। ईश्वर हो, तो जीवन के साथ एक ही हुआ जा सकता है। ईश्वर नहीं है,

ऐसा कोई अनुभव में किसी के कभी नहीं आता है। लेकिन, जो लोग जीवन से लड़ना चाहते हैं, वे 'ईश्वर नहीं है', ऐसा बिना माने लड़ नहीं सकते। इसलिये जीवन से लड़नेवाले सभी शास्त्र, जीवन से लड़नेवाले सभी वाद ईश्वर को इनकार करने से शुरू होते हैं। आश्चर्यजनक लगती है यह बात कि मार्क्स या एन्जिल्स या लेनिन या स्टैलिन या माओ : जो लोग जीवन से लड़ने की धारणा मन में लिये हुए हैं, उनको अपने वाद का प्रारम्भ 'ईश्वर नहीं है', इस बात से करना पड़ता है। असल में लड़ना हो, तो ईश्वर को अस्वीकार कर देना जरूरी है।

ईश्वर से लड़ा नहीं जा सकता; उससे तो सिर्फ प्रेम ही किया जा सकता है; उससे तो प्रार्थना ही की जा सकती है।

इस सूत्र में 'जीवन के क्रम के अनुसार' का अर्थ है कि सारा जगत् हमसे भिन्न नहीं है, हमसे अलग नहीं है। हम उसमें ही पैदा होते हैं और उसमें ही लीन हो जाते हैं। इसलिये जो व्यक्ति भी इस जगत् की जीवन-धारा से लड़ता है, वह रुग्ण, डिसीज्ड हो जाता है; वह बीमार हो जाता है। जो व्यक्ति भी परिपूर्ण स्वस्थ होना चाहता है, उसे जीवन के क्रम के साथ बिलकुल एक होना चाहिये। इस जीवन के क्रम के आधार पर ही भारत ने जीवन की एक सहज धारणा विकसित की थी। वह मैं आपसे कहना चाहूँगा।

वर्ण के सम्बन्ध में कल मैंने कुछ आपसे कहा। आज आश्रम के सम्बन्ध में कुछ आपसे कहना चाहूँगा। तभी आप समझ सकेंगे कि 'सृष्टि के क्रम के अनुसार कर्म' का मौलिक अर्थ क्या है। और शास्त्र-सम्मत कर्म करने का अर्थ क्या है।

कृष्ण जब शास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं, तो वे ठीक वैसा ही करते हैं जैसा आज हम साइंस (विज्ञान) शब्द का प्रयोग करते हैं। अगर आप एलोपैथिक चिकित्सक के पास जाते हैं, तो हम कहेंगे : आप विज्ञान-सम्मत चिकित्सा करवा रहे हैं। और अगर आप किसी 'नीम-हकीम' से इलाज करवाने जाते हैं, तो हम कहेंगे कि आप विज्ञान-सम्मत चिकित्सा नहीं करवा रहे हैं। कृष्ण जब भी कहते हैं : शास्त्र-सम्मत, तो कृष्ण का शास्त्र से अर्थ यही है। शास्त्र का अर्थ भी गहरे में यही है। उस दिन तक जो भी जानी गयी साइंस थी, विज्ञान था, उसके द्वारा जो सम्मत कर्म हैं, उस कर्म की ओर वे इशारा कर रहे हैं।

जितना विज्ञान हम आज जानते हैं, वह एक अर्थ में आंशिक है—टोटल नहीं है, खण्डित है। हम सिर्फ पदार्थ के सम्बध के विज्ञान को जानते हैं, जीवन के सम्बन्ध में हमारे पास और कोई विज्ञान नहीं है।

कृष्ण के सामने एक पूर्ण विज्ञान था। पदार्थ और जीवन को खण्ड-खण्ड में बाँटने वाला नहीं, वरन् जीवन को अखण्ड इकाई में स्वीकार करनेवाला। उस विज्ञान ने जीवन को चार हिस्सों में बाँट दिया था। जैसे, व्यक्तियों को चार टाइप (प्रकार) में बाँट

दिया था, ऐसे एक-एक व्यक्ति की जिंदगी को चार हिस्सों में बाँट दिया था। वे हिस्से जीवन की धारा के साथ थे।

पहले हिस्से को हम कहते थे : ब्रह्मचर्य आश्रम। यदि १०० वर्ष आदमी की उम्र स्वीकार करें, तो २५ वर्ष का काल ब्रह्मचर्य आश्रम का था। दूसरे २५ वर्ष गृहस्थ आश्रम के थे, तीसरे २५ वर्ष वानप्रस्थ आश्रम के थे और चौथे २५ वर्ष संन्यास आश्रम के थे।

पहले २५ वर्ष जीवन-प्रभात के हैं, जबकि ऊर्जा जगती है, शरीर सशक्त होता है, इंद्रियाँ बलशाली होती हैं, बुद्धि तेजस्वी होती है। जीवन उगता है। इस २५ वर्ष के जीवन को हमने ब्रह्मचर्य आश्रम कहा था। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

पहले २५ वर्ष संयम के क्यों थे? क्योंकि जिसके पास शक्ति है, वही जीवन के भोग में उतर सकेगा। जो अशक्त है, वह जीवन के भोग से वंचित रह जायेगा। जिसके पास जितनी शरीर की और मन की सम्पदा है, संरक्षित शक्ति है, वह जीवन के रस में उतने ही गहरे जा सकेगा। इसलिये पहले २५ वर्ष शक्ति-संचय के वर्ष हैं—जीवन की तैयारी के।

और यह बहुत मजे की बात है कि जो ठीक से भोग सकेगा, वही ठीक से त्याग को उपलब्ध होता है। कमजोर भोग नहीं पाता, इसलिये कभी त्याग को उपलब्ध नहीं हो पाता। असल में कमजोर जान ही नहीं पाता कि भोग क्या है, इसलिये उसके पार कभी नहीं हो पाता। जीवन का एक अनिवार्य नियम है—हम जिसे ठीक से जान लेते हैं, उससे मुक्त हो जाते हैं। जिसे हम ठीक से नहीं जानते, उससे हम कभी मुक्त नहीं हो पाते हैं।

अब यह बड़ी उलटी बात मालूम पड़ेगी कि २५ वर्ष तक हम व्यक्ति को ब्रह्मचर्य की साधना में से गुजारते थे, ताकि वह काम-वासना से किसी दिन मुक्त हो सके। २५ वर्ष हम उसे ब्रह्मचर्य साधना में रखते थे, ताकि वह २५ वर्ष काम-उपभोग की गहराई में उतर सके; वह सेक्स की जो गहरी से गहरी अनुभूतियाँ हैं, उनमें जा सके। क्योंकि वही सेक्स के बाहर जा सकेगा, जो उसमें गहरा गया है। जो उसमें गहरा नहीं गया है, वह बाहर नहीं जा सकेगा। आज बूढ़े आदमी भी काम-वासना के बाहर नहीं जा पाते। क्योंकि काम-वासना में जाने के लिये जितनी शक्ति की जरूरत है, वह हम कभी नहीं जुटा पाते। इतनी प्रगाढ़ (इन्टेन्स) और तीव्र शक्ति चाहिये कि हम अनुभव कर सकें और अनुभव के बाहर जा सकें। उतनी शक्ति कभी इकट्ठी नहीं हो पाती। इसलिये यह २५ वर्ष दोहरे अर्थ के थे।

कृष्ण इस वचन में कहते हैं कि इंद्रियों के सुख जो भोगते हैं, उनके लिये भी जीवन के क्रम से ही जाना उचित है। जीवन का अगर क्रम खण्डित, टूटा, केऑटिक (अराजक) हो जाय, तो कोई भी जीवन के चरम शिखर को उपलब्ध नहीं होता है। इसलिये जीवन

के पहले २५ वर्ष शक्ति के संचय के थे। कल फिर शक्ति के व्यय के क्षण आयेंगे।

कभी आपने सोचा है कि कमजोर आदमी कभी भी काम-वासना से मुक्त नहीं हो पाता। जितना कमजोर, उतना काम में गिर जाता है। यह उलटी बात लगती है। लेकिन, यही सच है। जितना शक्तिशाली व्यक्ति, उतना काम-वासना के शीघ्र बाहर हो जाता है। इसलिये जितने शक्तिशाली युग थे, वे कामुक युग नहीं थे। और जितने कमजोर युग होते हैं, उतने ही सेक्सुअल (कामुक) युग होते हैं। काम-वासना कमजोर करती है और कमजोरी काम-वासान को बढ़ाती है। शक्ति काम-वासना से मुक्त करती है और काम-वासना से मुक्ति आती है, तो शक्ति बढ़ती है। ये दोनों जुड़ी हुई बातें हैं। कमजोर आदमी वासना के बाहर कभी नहीं जा पाता। असल में कमजोर आदमी वासना में ही नहीं जा पाता, सिर्फ वासना का चिंतन करता है। सेरिब्रल (मस्तिष्कगत), मानसिक हो जाता है उसका सारा काम। शक्ति न होने से मन में ही सोचता है।

स्वस्थ युग काम-वासना को कभी मन में नहीं ले जाते। अस्वस्थ युग काम-वासना को मन में ले जाते हैं। जितना युग अस्वस्थ व कमजोर होता है, उतनी काम-वासना काम के केंद्र से हट कर मस्तिष्क के केंद्र पर गतिमान हो जाती है। यह वैसा ही पागलपन है, जैसे कोई आदमी पेट में भोजन न पचाये और मस्तिष्क में पचाने की सोचने लगे। जैसे कोई आदमी पैर से न चले और मस्तिष्क में चलने की योजनाएँ, कल्पनाएँ और स्वप्न देखता रहे, वह विक्षिप्त हो जायेगा। मस्तिष्क से चला नहीं जा सकता, मस्तिष्क से सिर्फ सोचा जा सकता है। पैर से सोचा नहीं जा सकता, पैर से सिर्फ चला जा सकता है। मस्तिष्क अपना काम करे, पैर अपना काम करे। लेकिन, अगर पैर कमजोर हों, तो आदमी दौड़ने के सपने देखने लगता है। अगर पेट कमजोर हो, तो आदमी भोजन की योजनाएँ बनाने लगता है—भोजन नहीं करता। सेक्स की ऊर्जा कमजोर हो, तो आदमी सेक्स की चिंता करने लगता है।

पहले २५ वर्ष हमने व्यक्ति के जीवन में शक्ति-संचय के वर्ष निर्णीत किये थे। जितनी शक्ति इकट्ठी करनी है, कर लो। क्योंकि जितनी तुम्हारे पास शक्ति होगी, उतने गहरे तुम इन्द्रियों के अनुभव में जा सकोगे। और जितने गहरे जाओगे, उतने इंद्रियों से मुक्त हो जाओगे। जब इंद्रियों के सब अनुभव जान लिये जाते हैं, तो आदमी जानता है कि उनमें कुछ भी पाने योग्य नहीं है। बात समाप्त हो जाती है। लेकिन हम इंद्रियों के अनुभवों को ही उपलब्ध नहीं हो पाते। इसलिये पढ़ते रहते हैं शास्त्रों में कि इंद्रियों में कुछ नहीं है; लेकिन, सोचते रहते हैं कि इंद्रियों में ही सब कुछ है। सुनते रहते हैं, इंद्रियाँ दुश्मन हैं—और मानते रहते हैं कि इंद्रियों के सिवाय और कुछ भी प्रीतिकर नहीं है। इंद्रियों के खिलाफ प्रवचन सुनते हैं—और इंद्रियों के पक्ष में चित्र, फिल्म, उपन्यास, कविता देखते हैं। वही आदमी प्रवचन सुनता है: इंद्रियों के विपरीत, सुखों

के विपरीत; वही आदमी जाकर नाटक देखता है, वही नृत्य देखता है, वही वेश्या के घर भी दिखायी पड़ता है। बात क्या हो गयी है?

जीवन के क्रम के साथ व्यक्ति नहीं है। जीवन का पहला क्रम है: शक्ति-संचय। और इसमें एक दूसरी बात और खयाल में ले लेनी जरूरी है। इस ब्रह्मचर्य के २५ वर्ष के आश्रम में हमने एक दूसरी और अत्यधिक गहरी मनोवैज्ञानिक बात जोड़ी थी, जो आज नहीं कल जगत् को वापस लौटा लेनी पड़ेगी—अन्यथा जगत् का बचना असंभव है और वह थी कि २५ वर्ष 'हार्डशिप' का, कठिन श्रम का समय था।

अब यह बड़े मजे की बात है कि जिस व्यक्ति का बचपन जितना ही श्रम का हो, उसकी शेष जिंदगी उतनी ही सुख की होती है। और जिसका बचपन जितना सुख का हो उसकी शेष जिंदगी उतनी ही विषाद और दुःख की होती है। बचपन में जो चटाई पर सोया, बचपन में जिसने रूखी-सूखी रोटी खायी, बचपन में जिसने कुदाली चलायी, लकड़ी चीरी, गायें चरायीं, जिंदगी उसे जो भी देगी, वह इससे सदा ज्यादा होगा। और सुख तो सदा तुलना में, कम्पेरिजन में है। जिंदगी जो भी देगी, वह सदा इससे ज्यादा होगा।

आज हम ठीक उलटा पागलपन करते हैं—बाप को जो सुख नहीं है, वह बेटे को मिल जाता है; घर में जो सुख नहीं है, वह हॉस्टल में, छात्रावास में मिल जाता है। २५ वर्ष बीतते हैं—बिलकुल बिना श्रम के, बिना काम के, बिना 'हार्डशिप के', बिना स्ट्रगल (संघर्ष) के और २५ साल के बाद जिंदगी में आता है संघर्ष, आता है श्रम। इसलिये फिर जो भी मिलता है, वह तृप्त नहीं कर पाता—कम्पेरेटिवली (तुलनात्मक ढंग से) जो भी मिलता है, वह सब बेकार लगता है। जो भी मिलता है, वह आशाओं के प्रतिकूल लगता है।

२५ वर्ष का पहला आश्रम श्रम का, साधना का, संकल्प का आश्रम था। इसलिये जिंदगी जो भी देती थी—रूखी-सूखी रोटी भी देती थी, तो इतनी स्वादिष्ट थी कि जिसका कोई हिसाब नहीं। रोटी अब इतनी स्वादिष्ट नहीं है। सच बात: रोटी तो बहुत स्वादिष्ट है, लेकिन खानेवाला स्वाद लेने की कला भूल गया है। रोटी आज दुनिया में पहले से बहुत ज्यादा स्वादिष्ट है। लेकिन, स्वाद लेनेवाला पहले से बहुत कमजोर है, स्वाद लेने वाला बिलकुल बीमार है। मकान दुनिया में आज जैसे हैं, ऐसे कभी न थे। सम्राटों को—अकबर को, अशोक को जो मकान नहीं मिले थे, वे आज साधारण आदमी को मिल सकते हैं, मिल गये हैं। लेकिन, आज मकानों में रहने में कोई सुख नहीं है; क्योंकि रहने वालों के पास सुख को तौलने का कोई मापदण्ड नहीं है, सुख को अनुभव करने की कोई क्षमता नहीं।

२५ वर्ष ब्रह्मचर्य के कठिन श्रम के वर्ष थे। बाद की जिंदगी प्रतिपल कम श्रम की होती चली जाती थी। यह ठीक क्रम है। अधिक शक्ति है जब हाथ में, तो अधिक श्रम

कर लेना चाहिये। आज बच्चे कम श्रम कर रहे हैं और बूढ़े ज्यादा श्रम कर रहे हैं। यह बिलकुल उलटा क्रम है। बच्चों के पास शक्ति है, बूढ़ों की शक्ति क्षीण हो गयी है। लेकिन, बूढ़े जुते हैं बैलों की तरह, बच्चे आराम कर रहे हैं। फिर आराम करते बच्चे अगर यूनिवर्सिटीज में आग लगायें, अगर ये आराम करते बच्चे पत्थर फेंकें, काँच फोड़ें, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। इनके पास काम नहीं है। ये बिलकुल बेकाम हैं। इन्हें कुछ काम चाहिये। इन्हें कुछ तोड़ने को चाहिये। ये जंगल की लकड़ी काट लेते थे, तब ये गुरु के झोपड़े पर पत्थर नहीं फेंकते थे। लकड़ी काटने में ही इनकी इतनी शक्ति लग जाती थी कि ये हलके हो जाते थे। अब काटने-पीटने, ठोकने जैसा कुछ उनके हाथ में नहीं है, इसलिये अब वे पत्थर फेंक रहे हैं।

पहले आश्रम में, जब कि व्यक्ति के जीवन में प्रभात है, यह शक्ति के संचय, प्रयोग, क्षमता के विकास का समय है—विश्राम का नहीं। विश्राम का समय धीरे-धीरे आयेगा। आखिरी क्षण, जिंदगी के सूर्यास्त के समय विश्राम का क्षण होगा। तो हमने ७५ साल के बाद आखिरी संन्यास के आश्रम में पूर्ण विश्राम की व्यवस्था की थी। पहला पूर्ण श्रम, अंतिम पूर्ण विश्राम। बीच में दो सीढ़ियाँ थीं।

इस पहले आश्रम को एक तरफ से और समझ लें कि व्यक्ति का जो भी विकास है, वह करीब-करीब २५ वर्ष में पूरा हो जाता है। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि और जल्दी पूरा हो जाता है। इसलिये इसके पहले कि विकास का समय पूरा हो जाय, व्यक्ति की पूरी पोटेन्सियॅलिटी को जगा लेने कि कोशिश की जानी चाहिये। इसके पहले कि विकास का क्षण बीत जाय, व्यक्ति के भीतर जो भी शक्ति छिपी है—बीज-रूप, वह सब वृक्ष बन जानी चाहिये, वह वास्तविक हो जानी चाहिये। इसलिये रत्ती भर विश्राम का मौका २५ वर्ष में नहीं था। सतत श्रम था। कठोर श्रम था। अथक् श्रम था। इसके दो परिणाम होते थे : एक तो वह व्यक्ति अपनी पूरी शक्तियों को जगाकर जीवन में जाने के योग्य हो जाता था और दूसरा इसके बाद जीवन उसे जो भी देता, वह उसके लिये संतोष और आनन्द बनता था।

आज की दुनिया में कोई भी चीज संतोष नहीं बन सकती। आज हमारी व्यवस्था ऐसी है कि हर चीज असंतोष ही बनेगी। उसे असंतोष बनना ही पड़ेगा। क्योंकि, संतोष की एक कला थी, वह जीवन के क्रम के साथ थी। जब वृक्ष पर फूल आते हैं, तभी आने चाहिये। और जब वृक्ष के पत्ते झड़ते हैं, तभी झड़ने चाहिये। जब वृक्ष बूढ़ा हो जाय, तब हमें उससे ऐसी आशा नहीं रखनी चाहिये, जैसे जब वृक्ष जवान था, तब हमने आशा रखी थी। बड़ी हैरानी की बात है कि आज जवान से हम कोई आशा ही नहीं रखते, जिससे सर्वाधिक आशा रखी जानी चाहिये। इस ब्रह्मचर्य के काल में एक तीसरी और प्रक्रिया थी, जो आपको खयाल दिला दूँ, वह भी जीवन का हिस्सा थी।

इस ब्रह्मचर्य के काल में चाहे किसी परिवार से कोई व्यक्ति आये, जीवन साम्यवादी था, कम्यून का था। विद्यार्थी चाहे गरीब का लड़का हो, चाहे अमीर का हो या सम्राट् का लड़का हो—कोई भी हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। ब्रह्मचर्य के २५ वर्ष सह-जीवन के वर्ष थे और समान जीवन के वर्ष थे। सम्राट् का लड़का भी लकड़ियाँ चीरता, वह भी गाय-बैल को चलाने जाता, वह भी गोबर से सफाई करता, वह भी गुरु के पैर दबाता। ये २५ वर्ष कम्यून के, समानता के वर्ष थे। और इन २५ वर्षों में जो भी हृदय में प्रविष्ट हो जाता, वह जीवन भर साथ रहता था। इसलिये चाहे समाज में असमानता दिखायी पड़ती रही हो, व्यक्तियों के चित्तों में कभी असमानता नहीं थी। और समानता की कोई पागल प्यास भी नहीं थी—जिसको स्पर्धा कहें—दूसरे से—वह इन २५ वर्षों में इन अर्थों में पैदा ही नहीं हो पाती थी; क्योंकि सब समान था। इसलिये हमने एक नॉन-कॉम्पिटीटिव, एक स्पर्धामुक्त, महत्त्वाकांक्षा-शून्य समाज के निर्माण का प्राथमिक आधार रखा था।

दूसरा आश्रम था—गृहस्थ का। शायद इस पृथ्वी पर, इस देश ने मनुष्य को जितनी वैज्ञानिकता से स्वीकार किया है, इतनी वैज्ञानिकता से किसी ने कभी स्वीकार नहीं किया है। अब कैसी हैरानी की बात है कि २५ वर्ष तक हम उसे ब्रह्मचर्य का पाठ देते और २५ साल के बाद उसे गृहस्थ जीवन में भेज देते—विवाहित-जीवन में—काम-वासना, इंद्रियों के सुख में प्रवेश का मौका देते।

कोई कहेगा कि यह क्या पागलपन है! २५ वर्ष तक जब ब्रह्मचर्य सिखाया, तो अब क्यों उसे वासना में भेज रहे हैं? ब्रह्मचर्य उसे सिखाया ही इसलिये कि अब वह तौल भी सकेगा कि आनन्द ब्रह्मचर्य में है कि वासना में। और जो आनन्द उसने ब्रह्मचर्य में जाना, वह आनन्द वासना से उसे कभी नहीं मिल सकेगा। इसलिये वासना सिर्फ कर्तव्य रह जायेगी। इसलिये वासना कभी भोग की तृष्णा नहीं बनेगी, वह मात्र कर्तव्य रह जायेगी। और उसके प्राणों का पंछी निरंतर इसी आशा में रहेगा कि कब ५० वर्ष पूरे हो जायँ और मैं ब्रह्मचर्य की दुनिया में वापस लौट जाऊँ। इसलिये काम-वासना का जितना सुख हम सोचते हैं, उतना सुख वास्तव में है नहीं।

जिन लोगों के जीवन में ब्रह्मचर्य की किरण उतरी, उन्हें हैरानी होती है कि पागल हैं आप! लेकिन, आपके पास तुलना का कोई उपाय भी तो नहीं है। ब्रह्मचर्य का तो कोई आनन्द कभी जाना ही नहीं, इसलिये तौलें किससे! तौलने का कोई उपाय नहीं। हाँ, एक ही उपाय है। वह यह कि एक आदमी एक स्त्री के साथ संबंधित होता है; नहीं सुख पाता, तो सोचता है कि शायद दूसरी स्त्री से संबंधित होने में सुख मिले; दूसरी से नहीं, तो तीसरी से मिले। इस पुरुष से नहीं मिलता, दूसरे पुरुष से मिलेगा; दूसरे से नहीं मिलता तो सोचते हैं कि तीसरे से मिलेगा। लेकिन, तौलने का कोई उपाय नहीं है।

व्यक्ति बदलो तो शायद मिल जाय, परिस्थिति बदलो तो शायद मिल जाय। लेकिन ब्रह्मचर्य के आनन्द की हमारे मन में कोई कल्पना पैदा नहीं होती। क्योंकि और किसी अवस्था का हमें पता ही नहीं है।

इसलिये वासना के जगत् में यात्रा करने के पहले ब्रह्मचर्य का अनुभव अनिवार्य है, अन्यथा वासना मरने तक, कब्र तक नहीं छोड़ेगी पीछा। क्योंकि तौलने का कोई उपाय नहीं रह जाता है। और ब्रह्मचर्य के सुख को, शांति को, आनन्द को जिसने जाना—ब्रह्मचर्य की शक्ति को, ब्रह्मचर्य की ऊर्जा को, ब्रह्मचर्य के आह्लाद को जिसने जाना और ब्रह्मचर्य ने जिसके प्राणों में नृत्य किया, संगीत बजा ब्रह्मचर्य का, उसके सामने जब वासना की दुनिया आयेगी तो वह तौल सकेगा कि वह बहुत फीकी है। फीकी भी कहना बेकार है। उसमें कुछ बहुत स्वाद नहीं है। अत्यंत साधारण है। तब वह उसे कर्तव्य की भाँति निभा पायेगा। ठीक है; विक्षिप्त होकर काम-वासना उसे पकड़ने वाली नहीं है।

इसलिये इस देश के शास्त्र कह सके कि जो व्यक्ति संतान के लिये ही संभोग में उतरता है, वह यद्यपि पुराने अर्थों में ब्रह्मचारी नहीं रहा, फिर भी ब्रह्मचारी है। 'संतान के लिये ही जो संभोग में उतरता है, वह भी ब्रह्मचारी है'—इस देश के शास्त्र यह कह सके, इसीलिये कि सीधा कोई काम-वासना में नहीं उतरता था। जो एक बार ब्रह्मचर्य को जान ले, उसके लिए काम-वासना सिर्फ एक कर्तव्य है, एक ड्यूटि है, जिसे निभा देना और मुक्त हो जाना है। ५० वर्ष में उसके बच्चे आश्रम से लौटने के योग्य होने लगेंगे। उसके बच्चे २५ वर्ष के होने के करीब आ जायेंगे।

इस देश ने एक और गहरी बात खोजी और वह यह कि एक ही घर में बाप भी संभोग करे और बेटा भी संभोग करे—यह बहुत अनैतिक है। है भी, क्योंकि बाप भी फिर बचकाना है। बेटा शादी करके आ जाय, वह बच्चे पैदा करे और बाप भी बच्चे पैदा कर रहा हो उस घर में, तो यह बहुत शर्म की बात है। बेटा क्या सोचेगा? बाप चाइल्डिश है, बाप बचकाना है, प्रौढ़ नहीं है। अभी तक वासना से, काम से मुक्त नहीं हो पाया है!

इसलिये इस मुल्क को खयाल था कि जिस घर में बेटा विवाहित हो जाय, उसी दिन बाप समझे कि वानप्रस्थ का समय हो गया—माँ समझे कि वानप्रस्थ का समय हो गया। वानप्रस्थ का मतलब समझते हैं? जिसका मुंह जंगल की तरफ हो गया है। अभी चले नहीं जाना है। सिर्फ 'टुवर्डस द फॉरेस्ट'—अभी सिर्फ मुंह हो गया जंगल की तरफ—वानप्रस्थ। जंगल की तरफ प्रस्थान की तैयारी अब उसे कर लेनी है। अभी अगर वह जंगल चला जाय, तो क्रम में बाधा पड़ेगी। बच्चे अभी ब्रह्मचर्य के आश्रम से घर लौट रहे हैं। इस बाप ने २५ साल में जिंदगी का जो अनुभव किया है, वह उन बच्चों को देना जरूरी है—अन्यथा वह अनुभव उन्हें कहाँ से मिलेगा। इसलिये जिंदगी से जो

जाना है, वह बच्चों को सँभलवा देना जरूरी है। उसने जिंदगी से जो पाया है, वह सौंप देना जरूरी है। घर की, ज्ञान की, अनुभव की सारी चाबियाँ बच्चों को दे देनी है। अब वह वानप्रस्थ हो जायेगा, बच्चों को देता जायेगा।

और ७५ साल की उम्र में इसके बच्चों के बच्चे जंगल से आने शुरू हो जायेंगे। तब तक इसके बच्चे ५० साल के हो गये होंगे। अब तो वे भी वानप्रस्थी होने के करीब आ गये। अब यह उनसे नमस्कार ले लेगा और जंगल चला जायेगा। अब यह संन्यासी हो जायेगा। जीवन की संध्या आ गयी। संसार को देखने की यात्रा पूरी हुई—सुबह हुई, दोपहर हुई और अब साँझ होने लगी। सूरज लौटने लगा अपने घर वापस। अब इस व्यक्ति के २५ वर्ष प्रभु-स्मरण के हैं।

और बड़े मजे की बात है कि २५ वर्ष वानप्रस्थ-आश्रम में रहकर जो संन्यास आश्रम में गया है, वह व्यक्ति ही, जो बच्चे समाज से आयेंगे, उनके लिये गुरु का काम कर देगा। और जिस समाज में बूढ़े गुरु न हों, उस समाज में गुरु होते ही नहीं। आज विद्यार्थी और गुरु के बीच दो-चार साल का ही फासला होता है। कभी-कभी नहीं भी होता और कभी-कभी विद्यार्थी भी उम्र में ज्यादा हो जाता है। अब अगर विद्यार्थी ही उम्र में ज्यादा हो गुरु से तो वे संबंध निर्मित नहीं हो सकते, जो ७५ साल के जीवन की सारी अनुभूतियों को लिये हुए आदमी के साथ छोटे बच्चों के हो सकते हैं।

जीवन का शिखर था वह आदमी। उसके रोयें-रोयें में जीवन अपनी छाप छोड़ गया है। उसकी साँस-साँस में जीवन अपना अनुभव छोड़ गया है। उसकी धड़कन-धड़कन में जीवन सारी संपत्ति छोड़ गया है। उसके चेहरे की झुर्री-झुर्री में जीवन की प्रौढ़ता और जीवन का सब कुछ छिपा है। जब छोटे बच्चे जंगल आकर और इस ७५ साल—८० साल—१०० साल के बूढ़े के पास बैठते, तो स्वाभाविक था कि उनके मन में आदर और पूजा का भाव उठता। इस आदमी में कोई वासना न होती, निर्वासना हो जाता वह। वह पूज्य मालूम पड़ता, वह भगवान् मालूम पड़ता था।

इसलिये वे बच्चे कह सके कि गुरु ब्रह्मा है। आज के गुरु को वैसा नहीं कहा जा सकता। तब वह बिलकुल परमात्मा जैसा ही लगता था—जिसमें वासना विलीन हो गयी, जिसको कोई इच्छा न रही, जिसको चीजों का कोई मोह न रहा; घटनाएँ कुछ भी घट जायँ, उसको एक-सा ही लेने लगा; जिसका चित्त अनासक्त हुआ; जिसके लिये सब बचे तो, न बचे तो—सब बराबर हो गया, ऐसे जीवन के शिखर पर बैठे हुए वृद्ध के पास आकर बच्चे अनुभव करते कि वह परमात्मा है, तो आश्चर्य नहीं।

लेकिन आज का गुरु सोचे कि उसे कोई परमात्मा माने, तो वह पागल है। उसे परमात्मा मानने का कारण ही नहीं रह गया है। सारी बुनियाद गिर गयी है और हम कहते थे कि गुरु होने के योग्य ही वही हुआ, जो सारे जीवन को जान कर आ गया, अन्यथा

गुरु नहीं हो सकता था। आज जो गुरु है, वह सिर्फ इनफॉर्मेटिव है; उसके पास कुछ सूचनाएँ हैं, जो विद्यार्थी के पास नहीं हैं; लेकिन जहाँ तक जीवन का, एक्जिस्टेन्स का, अस्तित्व का सम्बन्ध है, उसमें और विद्यार्थी में कोई बुनियादी फर्क नहीं है।

अकसर ऐसा हो जाता है कि यूनिवर्सिटी में लड़के भी उसी लड़की को प्रेम करने लग जाते हैं और शिक्षक भी। तब सब कॉम्पिटीटिव हो जाता है। एक ही लड़की के लिये स्पर्धा हो सकती है कक्षा में, तब, इस बच्चे के मन में इस गुरु के प्रति कौन-सा आदर हो सकता है? यह गुरु भी उसी पान की दुकान पर पान खाता है, यह लड़का भी उसी पान की दुकान पर पान खाता है। यह गुरु भी उसी फिल्म को देखता है, उसी की बगल में बैठ कर उसका विद्यार्थी भी देखता है! और जब फिल्म में नंगा चित्र आता है, तो गुरु की भी रीढ़ सीधी होती है और लड़के की भी रीढ़ सीधी हो जाती है। इन दोनों के बीच कोई जीवनगत भेद नहीं है। लेकिन हमने सोचा यह था कि जब तक जीवनगत भेद न हो, तब तक गुरु-शिष्य का सम्बंध निर्मित नहीं हो सकता।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सिर्फ सूचनागत (इनफॉर्मेटिव) नहीं है, (अस्तित्वगत) एक्जिस्टेन्शियल है। और सिर्फ इस पृथ्वी पर, इस देश में ही हमने एक्जिस्टेन्शियल, अस्तित्वगत भेद पैदा किया था कि गुरु होना चाहिये जीवन का अस्त और विद्यार्थी होना चाहिये जीवन का उदय। इन दोनों के बीच ५०, ६०, ७० साल का फासला—६० साल, ७० साल के अनुभव का फासला होता था। और अनुभव सिर्फ ज्ञान नहीं देता, अनुभव वासनाओं से भी मुक्ति दिला देता है। और वे सब क्षुद्रताएँ जो कल बड़ी महत्त्वपूर्ण थीं, अनुभव से उनका अंत हो जाता है। और कल तक के वे सब जो विकार—क्रोध, काम, लोभ आदि थे, अनुभव से उन सबसे छुटकारा हो जाता है। और जब ऐसे व्यक्ति के पास बच्चे इकट्ठे होते थे, तो वे जीवन का दान लेकर वापस लौटते थे, वे चिर ऋणी होकर वापस लौटते थे। यह चौथा आश्रम संन्यास का आश्रम था। जीवन-क्रम की व्यवस्था ऐसी शास्त्र-सम्मत थी।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि जो इस भाँति शास्त्र-सम्मत जीवन की क्रम व्यवस्था में प्रवेश करता है, जीवन के अनुकूल बहता है, वह इन्द्रियों के सुखों को तो उपलब्ध हो ही जाता है, अंततः वह आत्मा के आनन्द को भी उपलब्ध हो जाता है और इस जीवन के क्रम में प्रवाहित होकर अंत में जरूर वह ऐसी जगह पहुँच जाता है, जब 'करने' और 'न-करने' में कोई फर्क नहीं रहता है।

अर्जुन से कृष्ण यह क्यों कह रहे हैं? अर्जुन से वे यह कह रहे हैं कि अभी तू उस जगह नहीं है, जहाँ से तू संन्यस्थ हो सके। अभी तू उस जगह नहीं है, जहाँ से संन्यास फलित हो सके। अभी तू उस जगह नहीं—जीवन के क्रम में—जहाँ से तू मुक्त हो सके कर्म से। अभी तुझे 'करने' और 'न-करने' में समानता नहीं हो सकती। अभी अगर तू

'न-करने' को चुनगा, तो जो भी चुनेगा, वह तेरी चॉयस (चुनाव) होगी। लेकिन एक ऐसी घड़ी भी आती है, जीवन के प्रवाह में, जब 'करना' और 'न-करना' बराबर हो जाता है। चुनाव नहीं होता, चॉयसलेस हो जाता है सब, चुनावरहित हो जाता है सब।

तो कृष्ण ने पहले जोर दिया अर्जुन को कि तू क्षत्रिय है। वह इस मुल्क के द्वारा खोजे गये विज्ञान का एक हिस्सा था—वर्ण। और अब वे एक दूसरे विज्ञान के हिस्से पर जोर दे रहे हैं—आश्रम, वर्णाश्रम पर।

मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में बड़ा से बड़ा कॉन्ट्रिब्यूसन, बड़ा से बड़ा दान जो हम जगत् को दे सके हैं, वह वर्ण और आश्रम की धारणा है।

अब कृष्ण दूसरी बात कह रहे हैं; अब वे कह रहे हैं कि तू शास्त्र-सम्मत आचरण कर। इसका यह मतलब नहीं कि वेद में लिखा है—इसलिये। इसका कुल मतलब यह हुआ कि उस दिन तक जितने भी समझदार लोग हुए थे, सब ये यही कहा—इसलिये। सब ने निरपवाद रूप से यही कहा—इसलिये। जो भी जाना गया है, वह इसकी सहमति देता है कि तू ऐसे जीवन के साथ बह और एक दिन वह घड़ी आयेगी जिस दिन 'करना' और 'न-करना' बराबर हो जायेगा। लेकिन उसे आने दे, उसके लिये दौड़-धूप मत कर। भाग कर उसे नहीं पाया जा सकता। जिंदगी से बच कर तू उसे नहीं ला सकता। जिंदगी में उतर गहरा और जिंदगी को ही तुझे पार निकालने दे, जिंदगी ही तुझे पार कर दे।

पानी का एक नियम इस सम्बन्ध में खयाल रखें कि अगर कभी आप पानी में गिर गये हों और तैरना न जानते हों, या तैरना जानते हों और कभी पानी के भँवर में पड़ गये हों, उसमें आप फँस गये हों, तो कृष्ण के इस सूत्र को याद रखना। यह नदी के भँवर का सूत्र जीवन के भँवर में भी काम आता है। अगर नदी के भँवर में फँस गये हैं, तो हम साधारणतः क्या करेंगे? लड़ेंगे भँवर से। लड़ेंगे, तो डूबेंगे—लड़े कि डूबे। क्योंकि जितने जोर से आप भँवर से लड़ेंगे, उतनी ही आपकी शक्ति कम होगी, भँवर की शक्ति कम नहीं होगी। और जितनी कमजोर होगी आपकी शक्ति, भँवर की ताकत उतनी ज्यादा हो जायेगी—तुलनात्मक (कम्परेटिवली)। थोड़ी देर में आप थक गये होंगे और भँवर अपनी ताकत में होगा—उतनी ही ताकत में, जितना तब था, जब लड़ाई शुरू हुई थी। फिर वह आप—कमजोर आदमी को नीचे डूबा लेगा। इसलिये जो लोग तैरने का शास्त्र जानते हैं, वे कहते हैं कि अगर भँवर में फँस जाओ, तो लड़ना मत। अपनी तरफ से भँवर में डूब जाना। भँवर के साथ ही डूब जाना।

भँवर के साथ खूबी यह है कि भँवर नदी की सतह पर बड़ा होता है और नीचे छोटा होता जाता है; उसके वर्तुल छोटे होते जाते हैं। नीचे उसका स्क्रू छोटा होता जाता है। ऊपर से निकलना बहुत मुश्किल है। नीचे वह इतना छोटा हो सकता है कि उसके भीतर

रहना मुश्किल है, आप एकदम बाहर हो जाते हैं। और अगर लड़े तो बहुत मुश्किल है, अगर नहीं लड़े—उसके साथ डूब गये, तो खुद भँवर ही आपको अपने बाहर कर देता है।

जीवन के भँवर से भी अगर हम लड़ें, तो उलझ जाते हैं। कृष्ण कहते हैं कि जीवन का, सृष्टि का जो क्रम है, उसके साथ ही बह, जल्दी मत कर। जल्दी हो नहीं सकती; जल्दी मत कर। धैर्य से उसके साथ बह। अपने-आप वह घड़ी आ जाती है—जीवन के समस्त कर्मों को करते हुए, अपने को कर्ता भर मत मान और वह घड़ी आ जाती है—जिस दिन 'करना' और 'न-करना', हार और जीत, जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख सब बराबर हो जाते हैं।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।। १९ ।।
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।। २० ।।

इससे तू अनासक्त हुआ निरंतर कर्तव्य-कर्म का अच्छी प्रकार आचरण कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है। जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति-रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं—इसलिये—तथा लोक-संग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करने को ही योग्य है।

कृष्ण कह रहे हैं कि इस भाँति तू कर्म से मत भाग; भागने की मत सोच। न तो यह संभव है, न उपादेय। संभव भी यही है—उपादेय भी यही है कि तू अनासक्त कर्म में प्रवृत्त हो। इस 'अनासक्त' शब्द को थोड़ा समझें। साधारणतः हमारे जीवन में अनासक्त होने का कोई अनुभव नहीं होता है। इसलिये यह शब्द हमारे लिये बहुत विजातीय, फॉरेन है। यह हमारे अनुभव में कहीं होता नहीं, इसलिये इसे और भी ठीक से समझना पड़ेगा।

हमारे अनुभव में दो शब्द जाते हैं—आसक्त और विरक्त; अनासक्त कभी नहीं आता। या तो हम किसी चीज कि तरफ आर्कषित होते हैं या किसी चीज से विकर्षित होते हैं, या तो अट्रैक्ट होते हैं या रिपेल्ड होते हैं। सुंदर हुआ कुछ तो आर्कषित होते हैं, कुरूप हुआ कुछ तो विकर्षित होते हैं। सुंदर हुआ, तो आसक्ति बनती है मन में—पाने की। सुंदर नहीं हुआ, तो विरक्ति बनती है मन में—छोड़ने की। या तो हम दौड़ते हैं—किसी चीज को पाने के लिये और या हम दौड़ते हैं—किसी चीज से बचने के लिये। ये दो हमारे अनुभव हैं। या तो हम किसी चीज की तरफ जाते हैं या किसी चीज की तरफ से आते हैं। लेकिन अनासक्ति बड़ी और बात है—इन दोनों से अलग। अनासक्ति इन दोनों का मध्यबिंदु है—द मिडिल प्वाइंट—ठीक इन दोनों के बीच में, जहाँ न तो अॅट्रैक्शन (आकर्षण) काम करता है, न रिपल्सन (विकर्षण) काम करता है।

बहुत अद्‌भुत बिंदु है अनासक्ति का, जहाँ से न तो हम किसी चीज के लिये आतुर होकर पागल होते हैं और न आतुर होकर बचने के लिये पागल होते हैं; जहाँ हम किसी चीज के प्रति कोई रुख (रुचि) ही नहीं लेते; जहाँ किसी चीज के प्रति हमारी कोई दृष्टि ही नहीं रहती; हम बस, साक्षी ही होते हैं। अनासक्त का अर्थ है : विरक्त भी नहीं, आसक्त भी नहीं।

विरक्त होना बहुत आसान है—आसक्ति का ही दूसरा हिस्सा है, इसलिये। और जिस चीज में हमारी आसक्ति होती है, उसमें ही आज नहीं कल हमारी विरक्ति अपने-आप हो जाती है। आज एक मकान में बहुत आसक्ति है, कल यह मिल जायेगा, परसों उसमें रहेंगे। दस दिन बाद भूल जायेंगे, आसक्ति खो जायेगी। फिर धीरे-धीरे विरक्ति आ जायेगी। जिस दिन आपको कोई दूसरा मकान दिख जायेगा—आसक्ति पकड़ने के लिये—उसी दिन इस मकान से विरिक्ति हो जायेगी। जिस चीज से भी हम आर्कषित होते हैं, किसी न किसी दिन उससे विकर्षित होते हैं। जो चीज हमें खींचती है, किसी दिन हम उससे हटते हैं। आकर्षण और विकर्षण, अट्रैक्सन और रिपलसन एक ही प्रक्रिया के दो हिस्से हैं। अनासक्ति इस पूरी प्रक्रिया के पार है, ट्रांसेन्डेन्ट है। वह उन दोनों प्रक्रियाओं के ऊपर, अलग, अतीत है।

अनासक्त का मतलब है कि न हमें खींचती है चीज, न हमें हटाती है; न हमें बुलाती है; न हमें भगाती है। हम खड़े रह गये हैं। बुद्ध ने इस अनासक्ति के लिये 'उपेक्षा' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थ यही है—न इस तरफ, न उस तरफ; दोनों तरफ से उपेक्षा है। न आसक्ति, न विरक्ति—दोनों तरफ से इन्डिफरेन्स है। न तो धन खींचता है, धन भगाता है। कृष्ण ने अनासक्ति का प्रयोग किया है, महावीर ने वीतराग शब्द का प्रयोग किया है। राग, विराग और वीतराग। ये तीन भिन्न शब्द हैं। महावीर कहते हैं कि न राग हो, न विराग हो—वीतराग हो। दोनों के पार हो जायँ। बुद्ध कहते हैं, जहाँ न आकर्षण, जहाँ न विकर्षण—उपेक्षा हो, इंडिफरेन्स हो; दोनों बराबर हो जायँ। कृष्ण कहते हैं : अनासक्ति—जहाँ न आसक्ति हो, न विरक्ति हो; दोनों ही न रह जायँ। लेकिन आसक्त भी कर्म करता है और विरक्त भी कर्म करता है। अनासक्त क्या करेगा?

आसक्त जो कर्म करता है, विरक्त उससे उलटा कर्म करता है। अगर आसक्त धन कमाने का काम करता हो, तो विरक्त धन छोड़ने का, त्यागने का कर्म करता है। अगर आसक्त पदों का लोलुप होता है और पदों की सीढ़ियाँ चढ़ने के लिये दीवाना होता है, तो विरक्त पदों से भागने के लिये, सीढ़ियाँ उतरने को आतुर व उत्सुक होता है। आसक्त और विरक्त दोनों कर्म में रत होते हैं, लेकिन दोनों के रत होने का ढंग विपरीत होता है। वे एक-दूसरे की तरफ पीठ किये होते हैं।

अनासक्त क्या करेगा? अनासक्त न तो आसक्त की तरह कर्म करता है और न

विरक्त की तरह। अनासक्त के कर्म करने की क्वालिटी (गुण) बदल जाती है। इसे समझ लें।

विरक्त का काम करने का रुख उलटा हो जाता है। भीतर चित्त जरा भी नहीं बदलता है, सिर्फ कर्म की दिशा प्रतिकूल हो जाती है। अगर आसक्त सीधा खड़ा है, तो विरक्त शीर्षासन लगाकर खड़ा हो जाता है और कोई फर्क नहीं होता। भीतर आदमी वही का वही होता है। क्वालिटी जरा भी नहीं बदलती, गुण जरा भी नहीं बदलता, भीतर आदमी वही का वही होता है।

एक आदमी है, उसके पास रुपया ले जाओ तो उसके मुँह में पानी आने लगता है। एक दूसरा आदमी है, उसके सामने रुपया ले जाओ तो वह आँख बंद कर लेता है; वह राम-राम जपने लगता है। दोनों एक-से आदमी हैं। रुपया दोनों के लिये सिगनिफिकेन्ट है, महत्त्वपूर्ण है। हाँ, एक के लिये महत्त्वपूर्ण है—लार टपकती है। दूसरे के लिये भी महत्त्वपूर्ण है, इसलिये घबड़ा कर उसकी आँख बंद हो जाती है। लेकिन दोनों शीर्षासन——एक-दूसरे के प्रति——कर रहे हैं। लेकिन, रुपये के मामले में दोनों का गुण-धर्म एक है। दोनों रुपयों में बहुत उत्सुक हैं——एक पक्ष में, दूसरा विपक्ष में; एक मित्र की तरह, एक शत्रु की तरह। लेकिन, रुपयों के प्रति किसी की उपेक्षा नहीं है।

एक है—जो स्त्री के पीछे भागता है; एक है कि स्त्री दिखी कि भागा। इन दोनों में बुनियादी गुणात्मक फर्क नहीं है। इनके कृत्य में फर्क है। फर्क है दिशा का। इनके चित्त में फर्क नहीं है। इसके चित्त का बिंदु, इनके चित्त का आब्जेक्ट, इनके चित्त का विषय एक ही है। काम-वासना के एक पक्ष में है, एक विपक्ष में है।

अनासक्त का गुण-धर्म बदलता है। अनासक्त दोनों काम कर सकता है—जो विरक्त करता है, वह भी कर सकता है; जो आसक्त करता है, वह भी कर सकता है। लेकिन करने वाला चित्त बिलकुल और ढंग का होता है। उस चित्त का क्या फर्क है, वह खयाल में लेना है।

न तो आसक्त साक्षी (विटनेस) हो सकता है, न विरक्त साक्षी हो सकता है, क्योंकि दोनों में राग है। आपने कभी खयाल किया कि राग शब्द का क्या मतलब होता है? इसका मतलब होता है : रंग, कलर। राग का मतलब होता है : रंग। दोनों के चित्त रंगे हुए हैं—उसी से जिन पर उनकी नजर है। आसक्त का चित्त रँगा हुआ है, रुपये से—मित्र की तरह। विरक्त का चित्त रँगा हुआ है, रुपये से——शत्रु की तरह। अनासक्त का चित्त रँगा हुआ नहीं है; रुपया उस पर कोई प्रतिबिम्ब ही नहीं बनाता; रुपया उसको रंगता ही नहीं। रुपया वहाँ और अनासक्त यहाँ। उन दोनों के बीच डिस्टेन्स होता है। अर्थात् अनासक्त साक्षी होता है। वह देखता है कि यह स्त्री है, यह रुपया है—बात खत्म हो गयी। मैं, मैं हूँ——यह रुपया है; यह मकान है; यह स्त्री है; यह

पुरुष है।

बुद्ध एक जंगल में बैठे हैं। पूर्णिमा की रात्रि है। एक गाँव से कुछ मनचले युवक एक वेश्या को लेकर चले आये हैं। पूर्णिमा की रात, झील का तट। उन्होंने आकर खूब शराब पी ली। उस वेश्या को नग्न कर दिया, उसके वस्त्र छिपा दिये। जब वे शराब में काफी बेहोश हो गये, तो वह वेश्या निकल भागी, लेकिन नग्न ही, कपड़े तो उसे मिले नहीं। जब आधी रात बीते, उन्हें थोड़ा होश आया, तो उन्हें खयाल हुआ कि हम जिसको उपस्थित मान कर राग-रंग कर रहे हैं, वह नदारद है। वे उस वेश्या को उपस्थित मानकर बातें किये जा रहे थे, गीत गाये जा रहे थे, नाचे चले जा रहे थे! आधी रात गये उन्हें पता चला कि हम बड़ी भूल में पड़े हैं, वह स्त्री तो नदारद है। वह यहाँ है ही नहीं। बड़ी मुश्किल में पड़े, उसे कहाँ खोजें! खोजने निकले।

थोड़ी ही दूर एक वृक्ष के नीचे बुद्ध बैठे थे। रात है, पूर्णिमा का चाँद है। वे देख रहे हैं चाँद को। यहाँ तक रास्ता एक ही है, इसलिये स्त्री यहाँ से तो निकली ही है। तो उन्होंने जाकर हिलाया और कहा कि 'सुनो, एक नग्न स्त्री, सुंदर वेश्या यहाँ से भागती हुई गयी है, जरूर तुमने देखी होगी।' बुद्ध ने कहा कि 'तुम मुझे बड़ी मुश्किल में डालते हो, क्योंकि आदमी को वही दिखायी पड़ता है, जो वह देखना चाहता है।' उन्होंने कहा कि 'अंधे तो हो नहीं। आँख तो है ही। यहाँ से एक सुंदर स्त्री निकली है—हजारों की भीड़ में भी दिखायी पड़ जाय, ऐसी स्त्री। यहाँ तो जंगल का सन्नाटा है।' बुद्ध ने कहा, 'कोई निकला जरूर, क्योंकि मैं देखता था चाँद को, तो कोई छाया बीच से गुजरी। लेकिन, स्त्री थी या पुरुष था, कहना मुश्किल है। क्योंकि, जब तक मेरा पुरुष बहुत आतुर था स्त्रियों के लिये, तभी तक फर्क भी कर पाता था। अब फर्क करने का कोई कारण भी तो नहीं रहा। और सुंदर थी या असुंदर यह तो और भी कठिन सवाल है। क्योंकि जबसे अपने को जाना, तब से न कुछ सुंदर रहा, न कुछ असुंदर रहा। चीजें जैसी हैं, हैं। कुछ को लोग सुंदर कहते, कुछ को लोग असुंदर कहते। वह उनकी अपनी पसंदगियों के ढंग हैं। क्योंकि एक ही चीज को कोई सुंदर कहता है, कोई असुंदर। जब से अपनी कोई पसंदगी ही न रही, कोई नापसंदगी न रही, तब से न कुछ सुंदर रहा, न कुछ असुंदर रहा।' उन्होंने कहा कि 'हम भी कहाँ के पागल से उलझ गये हैं। हम खोजें। इस आदमी से कुछ सहारा न मिलेगा।

बुद्ध खूब हँसने लगे और उन्होंने कहा कि 'कब तक उसे खोजते रहोगे। अच्छा हो, इतनी अच्छी रात है, अपने को ही खोजो और वह मिल भी जायेगी तो क्या मिलेगा? अपने को खोज लो, तो शायद कुछ मिल भी जाय।' पता नहीं, उन्होंने सुना या नहीं! नहीं सुना होगा। आदमी बहुत बहरा है; दिखायी पड़ता है, सुनता हुआ——सुनता नहीं है। दिखायी पड़ता है देखता हुआ——देखता नहीं है। दिखायी पड़ता है समझता

हुआ—समझता नहीं है।

यह जो बुद्ध ने कहा, यह अनासक्त की चित्त दशा का गुण है। देखते हुए भी भेद नहीं करता—क्या सुंदर है, क्या असुंदर। करता हुआ भी भेद नहीं करता, जीते हुए भी भेद नहीं करता—क्या पकड़ूँ, क्या छोड़ूँ। क्या लाभ है, क्या हानि है? साक्षी की तरह, विटनेस की तरह, एक गवाह की तरह जिंदिगी में चलता है।

राम अमेरिका गये। एक जगह से निकल रहे थे, कुछ लोगों ने पत्थर फेंके, और गालियाँ दीं। राम बहुत हँसते हुए वापस लौटे और मित्रों से कहने लगे, 'आज तो बड़ा मजा आ गया। राम को आज बड़ी गालियाँ पड़ीं! कुछ लोगों ने पत्थर भी मारे।' लोग कहने लगे कि 'किसकी बात कर रहे हैं आप!' तो उन्होंने कहा कि 'इस राम की बात कर रहा हूँ।' अपनी छाती की तरफ हाथ करके कहा: 'इस राम की बात कर रहा हूँ। आज इन पर काफी गालियाँ पड़ीं, आज इन पर काफी पत्थर पड़े।' लोगों ने कहा, 'आप पर ही पड़े ना?'

राम ने कहा, 'नहीं, हम तो देखते थे। हम पर पड़े नहीं, हम देखते थे। हम साक्षी थे, हम गवाह थे। हमने देखा कि पत्थर पड़ रहे हैं। हमने देखा कि गालियाँ दी जा रही हैं। तीन थे वहाँ—गाली देनेवाले थे; जिसको गाली दी जा रही थी वह था; एक और भी था—मैं भी था वहाँ, जो देख रहा था।' अनासक्त का यह गुण-धर्म है।

अनासक्त देखता है जिंदगी को; न इस तरफ भागता है, न उस तरफ भागता है। और परमात्मा जो ले आता है जिंदगी में, उसमें से चुपचाप साक्षी की भाँति गुजर जाता है। इसलिये कृष्ण ने उल्लेख किया जनक का। कृष्ण जब उल्लेख करें तो सोचने जैसा है।

कृष्ण ने उल्लेख किया कि जनक का कि 'जनक जैसा ज्ञानी'। और अर्जुन तो इतना ज्ञानी नहीं है। उनका मतलब साफ है। वे यह कह रहे हैं कि तू इतना ज्ञानी नहीं है कि वैराग्य की बात करे। जनक जैसा ज्ञानी भी छोड़ने को, भागने को आतुर न हुआ! जनक जैसा ज्ञानी चुपचाप वहीं जिये चला गया, जहाँ था।

क्या था सूत्र—जनक का। सूत्र था—अनासक्ति-योग। सूत्र था कि जहाँ हमें दो दिखायी पड़ते हैं, वहाँ तीसरा भी दिखायी पड़ने लगे—'द थर्ड फोर्स'।

दो तो हमें सदा दिखायी पड़ते हैं, तीसरा दिखायी नहीं पड़ता है। आसक्त को भी दो दिखायी पड़ते हैं—मैं, और वह, जिस पर मैं आसक्त हूँ। विरक्त को भी दो दिखायी पड़ते हैं—मैं, और वह, जिस पर मैं विरक्त हूँ। अनासक्त को तीन दिखायी पड़ते हैं। वह जो आकर्षण का केंद्र है या विकर्षण का। वह जो आकर्षित हो रहा है और वह जो विकर्षित हो रहा है। और, एक और भी—जो दोनों को देख रहा है।

यह जो दोनों को देख रहा है—अर्जुन से कृष्ण कहते हैं—तू इसी में प्रतिष्ठित हो

जा। इसमें तेरा हित तो है ही, इसमें तेरा मंगल तो है ही, इसमें लोक-मंगल भी है। क्यों, इसमें क्या लोक-मंगल है? यह मेरी समझ में तो पड़ता है; क्या यह आपकी भी समझ में पड़ता है कि इसमें अर्जुन का मंगल है?

अनासक्त कोई हो जाय, तो जीवन में परम आनंद के द्वार खुल जाते हैं। आसक्त भी दुःखी होता है, विरक्त भी दुःखी होता है। आसक्त भी सुखी होता है, विरक्त भी सुखी होता है। बुद्ध ने कहा है: जिससे हम प्रेम करते हैं, वह आ जाय तो सुख देता है; जिससे हम घृणा करते हैं, वह चला जाय तो सुख देता है। जिससे हम घृणा करते हैं, वह आ जाय तो दुःख देता है, जिससे हम प्रेम करते हैं, वह चला जाय तो दुःख देता है। फर्क क्या है? दोनों ही दोनों काम करते हैं। हाँ, किसी के आने से सुख होता है, किसी के जाने से। किसी के जाने से दुःख होता है, किसी के आने से—बस इतना ही फर्क है।

मित्र भी सुख देते हैं, मित्र भी दुःख देते हैं! शत्रु भी सुख देते हैं, शत्रु भी दुःख देते हैं। असल में जो भी सुख देता है, वही दुःख भी देगा। और जो भी दुःख देगा, वह सुख भी देगा। क्योंकि सुख और दुःख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो ऊपर होता है, वह हमें दिखायी पड़ता है; जो नीचे होता है, वह छिप जाता है। थोड़ी देर बाद, जब एक पहलू से ऊब जाते हैं और उलटते हैं, तब दूसरा पहलू दिखायी पड़ता है।

लेकिन कृष्ण कह रहे हैं कि तेरा तो मंगल होगा ही, लोक-मंगल भी होगा। लोक-मंगल क्या होगा? सबका मंगल क्या होगा?

असल में जो आसक्त हैं, वे भी और जो विरक्त हैं, वे भी, जगत् को आनन्द के मार्ग पर ले जानेवाले नहीं बनते। नहीं बनते हैं दो कारणों से। एक तो जो स्वयं ही आनन्द के मार्ग पर नहीं हैं, उनके जीवन से किसी को भी आनन्द नहीं मिल सकता। क्योंकि हम वही दे सकते हैं, जो हमारे पास है। हम वह नहीं दे सकते, जो हमारे पास नहीं है।

दूसरा: जो व्यक्ति जितना ही आसक्त या विरक्त होकर कर्म में लगता है, उतना ही तनावपूर्ण, उतना ही टेन्स उसका व्यक्तित्व होता है।

ध्यान रहे कि हम करीब-करीब ऐसे ही हैं, जैसे कोई पानी में पत्थर फेंके। झील है, एक पत्थर फेंक दिया है, तो वह पत्थर तो थोड़ी देर में नीचे बैठ जाता है—तलहटी में, भूमि में बैठ जाता है। लेकिन पत्थर से उठी लहरें फैलती चली जाती हैं; दूर अनंत किनारों तक फैलती चली जाती हैं। ठीक वैसे ही जब भी हमारे चित्त में जरा-सा तनाव उठता है, तो हम मनुष्य के जीवन के सरोवर में तरंगें पैदा करते हैं। फिर चाहे हमारा तनाव चला भी जाय, लेकिन वे तरंगें फैलती चली जाती हैं। वे न मालूम कितने लोगों को स्पर्श करती और न मालूम कितने लोगों के जीवन में अमंगल बन जाती हैं।

सिर्फ अनासक्त व्यक्ति के भीतर से तनाव की, चिंता की, दुःख की, पीड़ा की विकृत तरंगें नहीं उठतीं। सिर्फ अनासक्त व्यक्ति से जो तरंगें उठती हैं, वे ही सदा मंगलकारी

हैं। इसलिये उनसे लोक-मंगल होता है।

लोक-मंगल यहाँ बहुत ही गहरे अर्थों में कहा है।

हम चौबीस घंटे अपने चारों तरफ किरणें रेडिएट कर रहे हैं। जो भी हमारे भीतर है, वह रेडिएट हो रहा है, वह विकीर्ण हो रहा है, उसकी किरणें हमारे चारों तरफ फैल रही हैं। हर आदमी अपने चारों ओर प्रतिपल उसी तरह लहरें उठा रहा है, जैसे फेंका गया पत्थर झील में उठाता है। हम कल समाप्त हो जायेंगे। लेकिन हमारे द्वारा उठायी गयी लहरें अनन्त हैं; वे कभी समाप्त नहीं होंगी; वे चलती ही रहेंगी; वे कभी दूर तारों के निवासियों को भी छुयेंगी। अब वैज्ञानिक कहते हैं, कोई पचास हजार तारों पर जीवन है। अभी तक उन्होंने कोई चार अरब तारे खोज निकाले हैं। जीवन वहाँ समाप्त नहीं होता मालूम पड़ता है। हमारी सामर्थ्य चुक जाती है, उसके आगे।

एक-एक व्यक्ति से जो तरंगें उठती हैं, वे उठती ही चली जाती हैं; व्यक्ति कभी का समाप्त हो जायेगा और उसके द्वारा उठायी गयी तरंगें अनंतकाल तक उठती रहती हैं—अनादि, अनंत।

कृष्ण कह रहे हैं कि जो अनासक्त चित्त है, उसके भीतर जो गुण परिवर्तन होता है, उससे जो तरंगें उठती हैं, वे बिलकुल बिना जाने, परोक्ष, चुपचाप लोगों के जीवन में मंगल की वर्षा कर जाती हैं। 'तो हे अर्जुन! तू लोक-मंगल के लिये भी अनासक्त हो जा।' अपने लिये तो अनासक्त होना उचित ही है, आनन्दपूर्ण ही है, औरों के लिये भी आनन्दपूर्ण है। इसलिये जैसे जनक और सब जानने वालों ने जीवन से भागने की कोई चेष्टा नहीं की, 'तू भी मत भाग।' भागने से कभी कोई कहीं पहुँचा भी नहीं है। भागने से कभी कोई रूपांतरित भी नहीं हुआ है। भागने से कभी कोई क्रांति भी घटित नहीं होती। क्योंकि भागते तो केवल वे ही हैं, जो नहीं जानते। जो जानते हैं, वे भागते नहीं हैं—स्वयं को रूपांतरित करते हैं, स्वयं को बदल डालते हैं। विरक्ति भागना है, आसक्ति से।

एक और बात इस सम्बन्ध में, फिर हम दूसरा श्लोक लें।

जो व्यक्ति आसक्ति में जियेगा, उसके मन में सदा विरक्ति के खयाल आते ही रहेंगे—आते ही रहेंगे। क्योंकि जिंदगी पोलर है, ध्रुवीय है। यहाँ हर चीज का दूसरा ध्रुव है। यहाँ बिजली का अगर पॉजिटिव पोल है, तो निगेटिव पोल भी है। यहाँ अगर अँधेरा है, तो उजाला भी है। यहाँ अगर सर्दी है, तो गर्मी भी है। यहाँ अगर जन्म है, तो मृत्यु भी है। यहाँ जीवन में हर चीज का दूसरा विरोधी हिस्सा है। तो जो व्यक्ति आसक्ति में जियेगा, उसको जिंदगी में हजारों बार विरक्ति के दौरे पड़ते रहेंगे, उसको विरक्ति का फिट आता रहेगा। आप सब को आता है। कभी लगता है: सब बेकार है, सब छोड़ दो। घड़ी भर बाद दौरा चला जाता है और लगता है कि सब सार्थक है।

फिर वह सब में लग जाता है।

जो लोग विरक्त हो जाते हैं, उनको आसक्ति के दौरे पड़ते रहते हैं, उनको भी फिट आते हैं। जो आश्रम में बैठ जाते हैं, उनको भी एकदम से खयाल आ जाता है कि सारी दुनिया सिनेमागृह में बैठी होगी और हम यहाँ बैठे हैं! जो मंदिर में बैठते होंगे, उनको भी खयाल आ जाता है कि पड़ोसी दुकान पर पहुँच गया होगा। हम यह क्या कर रहे हैं?

जो आसक्त है, उसकी जिंदगी में विरक्ति बीच-बीच में प्रवेश करती रहेगी; जो विरक्त है, उसकी जिंदगी में आसक्ति बीच-बीच में प्रवेश करती रहेगी।

असल में जिस हिस्से को हमने दबाया और छोड़ा है, वह 'असर्ट' करता रहेगा, वह हमला करता रहेगा। वह कहेगा, 'मैं भी हूँ, मुझे भी थोड़ा ध्यान दो।' लेकिन, सिर्फ अनासक्त व्यक्ति ऐसा है, जिसकी जिंदगी में दौरे नहीं पड़ते, क्योंकि न वहाँ विरक्ति है, न वहाँ आसक्ति है। इसलिये दौरे पड़ने का कोई उपाय नहीं है। दौरा विपरीत का पड़ता है। वहाँ अब कोई विपरीत ही नहीं है; वह नॉन-पोलर है। अब इसको समझ लेना आप।

अनासक्ति जो है, वह नॉन-पोलर है, अध्रुवीय है। इसलिये अनासक्त जो हुआ, वह ध्रुवीय जगत् के बाहर हो जाता है—जहाँ ऋण और धन चलता है, जहाँ स्त्री और पुरुष चलते हैं, जहाँ हानि और लाभ चलता है। वे सब द्वन्द्व हैं, ध्रुवीय हैं, पोलर हैं। जो व्यक्ति अनासक्त हुआ, वह अद्वैत में प्रवेश कर जाता है; क्योंकि अनासक्ति नॉन-पोलर है।

ब्रह्म में केवल वे ही प्रवेश करते हैं, जो अनासक्त हैं। जो आसक्त हैं, विरक्त हैं, वे द्वैत में ही भटकते रहते हैं। असल में जिसने भी पक्ष लिया, विपक्ष लिया, वह पोलर में गया, वह ध्रुवीय जगत् में प्रवेश कर गया; वह ब्रह्म को कभी स्पर्श नहीं कर पाता। ब्रह्म को वही स्पर्श करता है, जो दो की जगह एक में उठता है। और इन दोनों से उठने की जो विधि है, वह है—कर्म में साक्षी बन जाना।

आसक्ति और विरक्ति दोनों से उठना पड़े। और इन दोनों से उठने की जो विधि है, वह है—कर्म में साक्षी बन जाना।

●प्रश्न: भगवान् श्री, अनासक्त कर्म, साधना है या सिद्धि का सहज प्रतिफलन है। इसे विस्तार से समझाइये।

मनुष्य के पास जितने शब्द हैं, वे सभी शब्द कुछ बताते हैं, कुछ समझाते हैं, और कुछ नासमझी भी पैदा कर देते हैं, और कुछ उलझा भी देते हैं। जैसे एक रास्ता है, जो मंजिल तक पहुँचता है। जो आदमी रास्ते पर है, वह एक अर्थ में मंजिल से जुड़ गया, क्योंकि रास्ता मंजिल से जुड़ा है। जो आदमी रास्ते पर एक कदम चला, वह मंजिल पर भी एक कदम पहुँच गया, क्योंकि रास्ता मंजिल से जुड़ा है। लेकिन एक अर्थ में अभी मंजिल पर कहाँ पहुँचा? अभी तो सिर्फ रास्ते पर है, अभी तो बहुत चलना है। अगर सौ कदम

मंजिल दूर है, तो निन्यानबे कदम भी चल ले, तो भी रास्ते पर ही है। अभी मंजिल तक कहाँ पहुँचा ? अभी तो रास्ते पर ही है। अभी मंजिल कहाँ आयी ? तो एक अर्थ में तो निन्यानबे कदम पर खड़ा हुआ आदमी भी रास्ते पर है, मंजिल पर नहीं है। और एक अर्थ में पहले कदम पर खड़ा हुआ आदमी भी मंजिल पर है, क्योंकि एक कदम तो मंजिल निकट आ ही गयी। एक कदम तो कम हुआ। तो साधना और सिद्धि, रास्ते और मंजिल की तरह हैं—अनासक्ति दोनों है।

जब आप शुरू करेंगे, तब वह साधना है और जब वह पूर्ण होगी, तो सिद्धि है। जब आप शुरू करेंगे, पहला कदम रखेंगे, तब तो वह साधना ही है, तब तो साधना ही रहेगी। शुरू में चूकेंगे, भूलेंगे, भटकेंगे, गिरेंगे। कभी चित्त विरक्त हो जायेगा, कभी आसक्त हो जायेगा। फिर सँभलेंगे, फिर पहचानेंगे कि यह तो आसक्ति हो गयी। और ध्यान रहे, आसक्ति उतना धोखा न देगी अनासक्ति का, जितना विरक्ति देती है। क्योंकि विरक्ति में ऐसा लगता है, अब तो अनासक्ति आ गयी। विरक्ति जल्दी धोखा देती है। आसक्ति तो इतना धोखा नहीं देती; क्योंकि आसक्ति हमारा अनुभव है। विरक्ति अपरिचित है। तो अनेक लोग वैराग्य को ही अनासक्ति समझ लेते हैं। धोखे में पड़ेंगे, भूल होगी। कई दफा लगेगा कि पहुँचे—पहुँचे। और एक कदम फिसल जायेंगे और पायेंगे कि वहीं खड़े हैं; पोलेरिटी में वापस आ गये, ध्रुवों में वापस गिर गये।

अनासक्ति का पहला कदम तो साधना ही बनेगा। साधना का मतलब : अभी आश्वस्त नहीं हुए कि पहुँच गये; चल रहे हैं। लेकिन चलना ही तो पहुँचने के लिये पहला चरण है। जो चलेगा ही नहीं, वह पहुँचेगा भी नहीं। चलना तो पड़ेगा ही। लेकिन चलना ही पहुँच जाना नहीं है। यह भी खयाल रख लेना जरूरी है।

जिस दिन चलने का अंत होगा, उस दिन पहुँचना होगा। अब इसमें बड़ी उलटी बातें कह रहा हूँ मैं। जो चलेगा, वही पहुँच सकता है। लेकिन जो चलता ही रहेगा, वह कभी नहीं पहुँचेगा। जो नहीं चलेगा, वह कभी नहीं पहुँचेगा और जो 'नहीं-चलने-में' पहुँच जाता है, वही पहुँच गया है। लेकिन यह बिलकुल अलग-अलग तल पर बात है—लेव्हेल्स अलग हैं।

एक आदमी सीढ़ियों के नीचे खड़ा है। दूसरा आदमी सीढ़ियाँ पार करके छत पर पहुँच गया है। वह भी खड़ा है सीढ़ी के निकट। दोनों सीढ़ियों पर नहीं हैं। एक सीढ़ियों के नीचे है और दूसरा सीढ़ियों के ऊपर है। लेकिन जो सीढ़ियों के बीच में है, वह दोनों जगह नहीं है। वह खड़ा नहीं है, चल रहा है। न तो वह नीचे की भूमि पर है, न अभी ऊपर पहुँच गया है। अभी वह गिर सकता है वापस; अभी कहीं सीढ़ियों पर रुक सकता है; अभी वह पहुँच भी सकता है। सब संभावनाएँ खुली हैं।

अनासक्ति का प्राथमिक कदम तो साधना का होगा, अंतिम कदम सिद्धि का होगा।

लेकिन पहचान क्या होगी ? जब तक आपको स्मरण रखना पड़े अनासक्ति का, तब तक साधना है और जब स्मरण की कोई जरूरत न रह जाय, तब सिद्धि है। जब तक आपको खयाल रखना पड़े कि अनासक्त रहना है, तब तक साधना है। जब खयाल न रखना पड़े, आप कैसे भी रहें, अनसक्ति ही पायें, तब समझना सिद्धि है।

एक जापानी गुड्डा देखा होगा आपने; बाजार में मिलता है; उसे खरीद कर रख लेना चाहिये। दारुमा डॉल्स कहलाते हैं वे गुड्डे। नीचे चौड़े होते हैं और उनके पैरों में सीसा भरा होता है। कैसे ही फेंको उसको, वह सदा पालथी मार कर बैठ जाता है सिद्धासन में। कहीं भी पटको, कुछ भी करो; वह वापस अपनी जगह पर बैठ जाता है। यह सिद्ध है। यह दारुमा डॉल जो है न, इसको तुम कुछ भी करो, यह पलथी मारकर अपनी जगह बैठ जाता है।

यह दारुमा शब्द बड़ा अद्भुत है। हिन्दुस्तान से एक फकीर चौदह सौ साल पहले चीन गया, उसका नाम था बोधिधर्म। वह एक अनासक्ति व्यक्ति था; थोड़े से फूलों में से एक—जो मनुष्य जाति में खिले। बोधिधर्म का जापानी नाम दारुमा है। बोधिधर्म को देखकर वह गुड़िया बनायी गयी, क्योंकि बोधिधर्म को कुछ भी करो, वह अनासक्त ही रहता है। वह सोता है, तो अनासक्त है; जागता है, तो अनासक्त; कुछ भी करे तो अनासक्त। उसको कहीं से पटको, कुछ भी करो, वह वापस अपनी अनासक्ति में रहता है। इसलिये फिर यह गुड़िया बनायी गयी। यह दारुमा डॉल्स जो है, वह उस बहुत बड़े सिद्ध-पुरुष के रूप में बनायी गयी।

वह गुड़िया अपने घर में रखनी चाहिये। उसे लुड़का कर देखते रहना चाहिये। वह वापस अपने पोजीशन में आ जाती है। आप कुछ भी उपाय करें, उसकी पोजीशन नहीं मिटा सकते। जब आपको अपने भीतर ऐसा लगे कि कुछ भी हो जाय—दुःख आये, सुख आये, सफलता, असफलता, कोई जिये, कोई मरे, तूफान टूट जाय, बैंक्रप्ट हो जायँ, दिवालिया हो जायँ, मौत आ जाय—कुछ भी हो जाय, आपके भीतर का दारुमा-डॉल जो है, आपकी चेतना जो है, वह हमेशा सिद्धासन लगाकर बैठी रहती है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता है, तब आप जानना कि सिद्धि हो गयी है। जब तक ऐसा न हो जाय, तब तक स्मरण रखना पड़े, होश रखना पड़े। और अगर होश चूके तो या तो आसक्ति आ जाय या विरक्ति आ जाय, तब तक जानना कि साधना है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। २१ ।।

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उस के ही अनुसार वर्तते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार वर्तते हैं।

अंतिम श्लोक की बात और कर लें; बहुत कीमती बात कृष्ण ने उसमें कही है।

मनुष्य के चित्त का एक बहुत बुनियादी लक्षण इमिटेशन, नकल है। सौ में से निन्यानबे आदमी ऑथेन्टिक नहीं होते, प्रामाणिक नहीं होते, इमिटेटिव होते हैं। सिर्फ नकल कर रहे होते हैं। सौ में से निन्यानबे लोग वही नहीं होते, जो उन्हें होना चाहिये; वही होते हैं, जो वे अपने चारों तरफ लोगों को देखते हैं कि लोग हैं। छोटे बच्चे नकल करते हैं, अनुकरण करते हैं; छोटे बच्चे नकल से ही सब कुछ सीखते हैं। लेकिन हममें से बहुत कम लोग हैं, जो छोटे बच्चों की सीमा पार कर पाते हैं। हममें से अधिक लोग जीवन भर ही छोटे बच्चे रह जाते हैं। हम सिर्फ नकल ही करते हैं। हम जो देख लेते हैं, वही करने लगते हैं।

अगर हम आज से हजार साल पहले भारत के किसी गाँव में जाते, तो बच्चे ओंकार की ध्वनि करते मिलते। ऐसा नहीं कि बच्चे बहुत पवित्र थे। अभी उसी गाँव में जायँ, तो बच्चे फिल्मी गाना गाते मिलेंगे। ऐसा नहीं कि बच्चे अपवित्र हो गये हैं। नहीं, बच्चे तो वही करते हैं, जो चारों तरफ हो रहा है। जो बच्चे ओंकार की ध्वनि कर रहे थे, वे कोई बहुत पवित्र थे, ऐसा नहीं है। लेकिन, ओंकार की ध्वनि से पवित्रता के आने का द्वार खुलता था। और जो बच्चे फिल्म का गीत गा रहे हैं, वे कोई अपवित्र हैं, ऐसा नहीं है। लेकिन, फिल्म के गीत से पवित्रता का द्वार बंद होता है। वे तो इमीटेट कर रहे हैं। बच्चों की तो बात छोड़ दें।

हम जानते हैं कि बच्चे तो नकल करेंगे ही, लेकिन कभी आपने सोचा कि आप इस उम्र तक भी नकल किये ही जा रहे हैं। हम कपड़े वैसे पहन लेते हैं, जैसे दूसरे लोग पहन लेते हैं। हम मकान वैसा बना लेते हैं, जैसा दूसरे लोगों ने बनाया है। हम परदे वैसे लटका लेते हैं, जैसा पड़ोसियों ने लटकाया है। हम कार वैसी खरीद लेते हैं, जैसी पड़ोसी लोगों ने खरीदी है। अमेरिका में तो कारों की वजह से मुहल्ले तक जाने जाते हैं। क्योंकि एक मुहल्ले में लोग एक सी ही कार खरीद लेते हैं—'शेवरलेट नेबरहुड' हो जाती है—शेवरलेट वालों का मुहल्ला। आदमी एक दूसरे को देखकर नकल करने लगता है।

कृष्ण एक और गहरी बात उसमें कह रहे हैं। वे अर्जुन से कह रहे हैं कि तू उन पुरुषों में से है, जिन पर लाखों लोगों की नजर होती है। तू जो करेगा, वही वे लोग भी करेंगे। अगर तू जीवन से भाग गया, तो वे भी भाग जायेंगे। और हो सकता है कि तेरे लिये जीवन से भागना बड़ा प्रामाणिक हो, तो भी वे लाखों लोग बिलकुल गैर-प्रामाणिक ढंग से जीवन से भाग जायेंगे।

जब बुद्ध ने संन्यास लिया, तो बुद्ध का संन्यास बहुत ऑथेन्टिक (प्रामाणिक) है। बुद्ध का संन्यास तो उनके प्राणों की पूरी की पूरी पुकार है। लेकिन लाखों लोग बुद्ध के पीछे संन्यासी हुए। उतने लाखों लोग बुद्ध की हैसियत के नहीं हैं। महावीर ने जब संन्यास लिया तो उनके लिये संन्यास तो नियति है, डेस्टिनी है; उससे अन्यथा नहीं हो

सकता। लेकिन महावीर के पीछे लाखों लोग संन्यासी हुए। वे सारे लाखों लोग महावीर की हैसियत के नहीं थे। लेकिम फिर भी मैं कहूँगा कि अगर नकल ही करनी है, तो फिल्म-स्टार की बजाय संन्यासी की ही करनी बेहतर है। और नकल ही करनी है, तो फिर बेहतर है कि महावीर की ही नकल की जाय। क्यों? क्योंकि अच्छे की नकल 'शायद' स्वयं के अच्छे का द्वार भी बन जाय। जैसे कि बुरे की नकल 'निश्चय ही' कभी बुरे के आगमन का द्वार बन जाती है।

मैं बुरे के लिये 'निश्चित' कहता हूँ और अच्छे के लिये 'शायद' कहता हूँ—क्यों? क्योंकि अच्छाई चढ़ाई है और बुराई ढलान है। ढलान बहुत निश्चित बन जाती है; कुछ भी नहीं करना पड़ता; सिर्फ छोड़ दिया और उतर जाते हैं। चढ़ाई पर कुछ श्रम करना पड़ता है। लेकिन अगर कोई कैलाश पर किसी की नकल में भी चढ़ गया, तो भी कैलाश पर तो पहुँच ही जायेगा। और कैलाश पर पहुँचकर जो घटित होगा, वह सारी नकलें तोड़ देगा और उसके प्रामाणिक व्यक्तित्व के भी प्रकट होने का क्षण आ सकता है।

तो कृष्ण यह कह रहे हैं कि 'हजारों लाखों लोग अर्जुन, तुझे देखकर जीते हैं।' अर्जुन साधारण व्यक्ति नहीं है। अर्जुन उस सदी के असाधारण लोगों में से है। अर्जुन को लोग देखेंगे। अर्जुन जो करेगा, वह अनेकों के लिये प्रमाण हो जायेगा। अर्जुन जैसे जीयेगा, वैसा करोड़ों के लिये अनुकरणीय हो जायेगा। तो कृष्ण कहते हैं कि तुझे देखकर जो लाखों लोग जीते हैं, अगर तू भागता है तो वे भी जीवन से भाग जायेंगे। अगर तू पलायन करता है, तो वे भी पलायन कर जायेंगे। अगर तू विरक्त होता है, तो भी वे विरक्त हो जायेंगे।

तो अर्जुन, उचित ही है, तू अनासक्त हो जा तो शायद उनमें भी अनासक्ति का खयाल पहुँचेगा। तेरी अनासक्ति की सुगंध उनके नासापुटों को पकड़ ले। तेरी अनासक्ति का संगीत, हो सकता है, उनके भी हृदय के किसी कोने की वीणा को झंकृत कर दे। तेरी अनासक्ति से उनके भीतर भी अनासक्ति का आनन्द प्रकट हो सकता है। शायद इससे उनके भीतर भी अनासक्ति के फूल के खिलने की संभावना बन जाय। तो तू उन पर ध्यान रख। यह सिर्फ तेरा ही सवाल नहीं है; क्योंकि तू सामान्यजन नहीं है, तू असमान्य है; तुझे देखकर न मालूम कितने लोग चलते, उठते, और बैठते हैं। तू उनका भी खयाल कर। और अगर तू अनासक्त हो सके, तो तेरा जीवन उन सबके लिये भी मंगलदायी हो सकता है।

इस सम्बन्ध में दो बातें अंत में और कहूँ। इधर पिछले पचास-साठ वर्षों में पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने कुछ इस तरह की भ्रांति पैदा की, जो उनको भी अब भ्रांति मालूम पड़ने लगी, जिसमें उन्होंने माँ-बाप को, शिक्षकों को, सबको समझाया कि बच्चों को इमिटेशन से बचाओ। यह बात थोड़ी दूर तक सच थी। और थोड़ी दूर तक जो बातें

सच होती हैं, वे कभी-कभी खतरनाक होती हैं, क्योंकि थोड़ी दूर के बाद वे सच नहीं होतीं। इसमें थोड़ी दूर तक बात सच थी कि बच्चों को हम ढालें न, उसको पैटर्नाइज न करें। उनको ऐसा न करें कि एक ढाँचा दे दें, और जबरदस्ती ढालकर रख दें। तो पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने बहुत जोर से जोर दिया कि बच्चों को ढालो मत; बच्चों को कोई दिशा मत दो; बच्चों को कोई डिसिप्लिन, कोई अनुशासन मत दो, क्योंकि उससे बच्चों की आत्मा का जो प्रामाणिक रूप है, वह प्रकट नहीं हो सकेगा। बच्चे इमिटेटिव हो जायेंगे।

कृष्णमूर्ति ने भी इस पर भारी जोर दिया है। लेकिन यह बात थोड़ी दूर तक ही सच है। क्योंकि अगर बच्चे न ढाले जायँ, तो भी बच्चे ढलते हैं। हाँ, तब बाप नहीं ढालता, तब सड़क की होटल ढाल देती हैं; तब माँ नहीं ढालती, लेकिन फिल्म अभिनेत्री ढाल देती है; तब गीता नहीं ढालती, लेकिन सुबह का अखबार ढाल देता है। और हम किसी बच्चे को जिंदगी के सारे इम्प्रेशन से, प्रभावों से मुक्त कैसे रख सकते हैं? पचास साल से मनोवैज्ञानिकों ने जो कहा तो सारी दुनिया के माँ-बाप बहुत डर गये।

एक जमाना था कि बच्चे घर में घुसते थे, तो डरते हुए घुसते थे। आज अमेरिका में बाप घर में घुसता है, तो बच्चों से डरा हुआ घुसता है—कि कोई मनोवैज्ञानिक भूल न हो जाय; कहीं या बच्चा बिगड़ न जाय, न्यूरोटिक न हो जाय, कहीं पागल न हो जाय, कहीं दिमाग खराब न हो जाय, कहीं कुछ गड़बड़ न हो जाय, तो बाप डरता हुआ घुसता है घर में! माँ डरती है अपने बच्चों से कुछ कहने में कि कहीं कोई ऐसी चीज न पैदा हो जाय कि कॉम्पलेक्स पैदा हो जाय, दिमाग में ग्रंथि पैदा न हो जाय; कहीं बीमार न हो जाय। सब डरे हुए हैं।

लेकिन इससे हुआ क्या? १८ वीं और १९ वीं सदी में जो बच्चे थे, उनसे बेहतर बच्चे हम पैदा न कर पाये। बच्चे तो ढाले ही गये, लेकिन माँ-बाप जो कि बहुत प्रेम से ढालते, माँ-बाप जो कि बहुत 'केअर' और 'कन्सर्न' से ढालते, हिफाजत और विचारपूर्वक ढालते, वह उन्होंने नहीं ढाला, लेकिन बाजार ढाल रहा उनको है, अखबार ढाल रहे हैं, पत्रिकाएँ ढाल रही हैं, डिटेक्टिव (जासूसी) उपन्यास ढाल रहे हैं, फिल्में ढाल रही हैं।

एक जमाना था कि सारी दुनिया या बाजार नब्बे प्रतिशत स्त्रियों से चलता था। आज दुनिया का बाजार पचास प्रतिशत बच्चों से चलता है। और बच्चों को परसुएड किया (फुसलाया) जा रहा है, क्योंकि कोई भी नयी चीज पकड़ानी है, तो पिता को पकड़ाना जरा मुश्किल है; बच्चे को पकड़ाना आसान है; वह जल्दी पकड़ लेता है; और उसके घर में कोई शिस्त, कोई अनुशासन नहीं है, इसलिये बाहर से जो भी सीखने को मिलता है, वह उसे सीख लेता है। अगर आज सारी दुनिया में बच्चे बगावती हैं, केओटिक हैं, अराजक हैं, तो उसका मूल कारण इतना है कि हम उनके लिये कोई

भी आधार, कोई भी अनुशासन, कोई भी दृष्टि, कोई भी दिशा देने में समर्थ नहीं रह गये हैं।

माँ-बाप डरते हैं कि कहीं बच्चे नकल न करने लगें। लेकिन बच्चे नकल करेंगे ही। कभी लाख में एक बच्चा होता है, जो नकल नहीं करता और खुद जीता है। लेकिन वह कभी होता है, वह अपवाद है; उसका कोई हिसाब नहीं रखा जा सकता। अधिकतर बच्चे तो नकल करके ही जीयेंगे। बाप डरता है कि कहीं मेरी न कर न कर ले। माँ डरती है कि लड़की कहीं मेरी नकल न कर ले, नहीं तो बिगड़ जाय, क्योंकि सारा मनोविज्ञान कह रहा है कि बिगाड़ मत देना। और मजा यह है कि वे बच्चे तो नकल करेंगे ही। तब वे किसी भी की नकल करते हैं और वह नकल जो परिणाम ला रही है, वह हमारे सामने है।

कृष्ण ने जब यह कहा अर्जुन से, तो उनके कहने का प्रयोजन इतना ही है कि तेरे ऊपर न मालूम कितने लोगों की आँखें हैं। तू ऐसा कुछ कर, तू कुछ ऐसा जी, कि जो अनेक लोगों की जिंदगी में अनुशासन, मार्ग, प्रकाश और ज्योति बन सके—उनका जीवन तेरे कारण अन्धकारपूर्ण न बन जाय। इससे लोक-मंगल सिद्ध होता है।

छठवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, प्रातः, दिनांक २ जनवरी १९७१
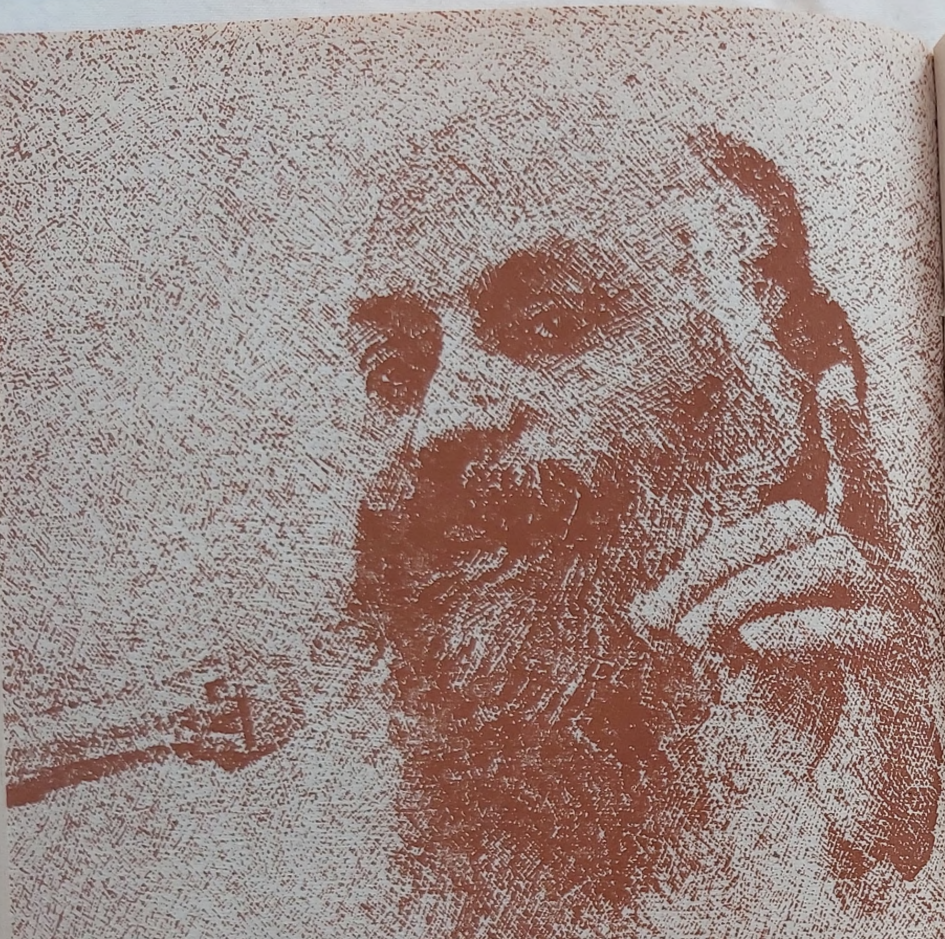
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।। २२ ।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। २३ ।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।। २४ ।।

इसलिए हे अर्जुन, यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म में ही बर्तता हूँ। क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कर्म में न बर्तूं तो हे अर्जुन, सब प्रकार से मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बर्तने लग जायँ। तथा यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोग भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्ण-संकर का करने वाला होऊँ तथा इस सारी प्रजा का हनन करूँ अर्थात् इनको मारने वाला बनूं।

वर्ण व्यवस्था की वैज्ञानिक पुनर्स्थापना

साइनाइ (Sinai) के पर्वत पर मोजेस को परमात्मा का दर्शन हुआ और उस दर्शन में परमात्मा के 'दस आदेश' (टेन कमान्डमेन्ट्स) भी मिले। फिर मोजेस साइनाइ के पर्वत से नीचे उतरे। लेकिन जब वे पर्वत पर गये थे, तो मोजेस थे और जब पर्वत से नीचे उतरे, तो परमात्मा हो गये। पर्वत से नीचे आकर उन्होंने अपने लोगों से जो वचन कहा, वह यहूदी इतिहास में सदा ही विचारणीय बना रहा। मोजेस ने पर्वत से नीचे उतरकर यह नहीं कहा कि मैं परमात्मा से धर्म लाया हूँ, मोजेस ने यह नहीं कहा कि परमात्मा ने मुझे धर्म दिया। मोजेस ने नीचे उतर के लोगों से कहा, "नाउ आई गिव यू द लॉ —(अब मैं तुम्हें धर्म देता हूँ।)" परमात्मा और मोजेस एक हो गये। जिसने भी परमात्मा को जाना, वह परमात्मा से एक हो जाता है। मोजेस को कहना चाहिए था, 'परमात्मा के मुझे दर्शन हुए; उन्होंने मुझे धर्म का नियम दिया; वह मैं परमात्मा की तरफ से तुम्हें देता हूँ।' लेकिन, मोजेस ने कहा, "मैं तुम्हें धर्म देता हूँ।"

एक हसीद फकीर से उसके शिष्य पूछ रहे थे कि मोजेस का ऐसा कहना अनुचित नहीं है क्या? क्या यह अनधिकारपूर्ण नहीं है? क्या मोजेस का इस तरह का वक्तव्य अहंकार से भरा हुआ नहीं है? तो उसे हसीद फकीर ने एक छोटी-सी कहानी कही, वह मैं आपसे कहना चाहता हूँ।

उस हसीद फकीर ने कहा : एक बहुत बड़ा व्यापारी तीर्थयात्रा को जाना चाहता था। दूर था उसका तीर्थ, संभावना वर्षों के लग जाने की थी। अकेला था घर में। उसके बड़े व्यवसाय को संभालने वाला कोई भी न था। उसने एक आदमी को नौकर की तरह नियुक्त किया। नौकर के हाथ में सारा कारोबार सौंप दिया और खुद दुकान के पीछे के कमर में बैठने लगा। एक वर्ष बीत गया, लेकिन उसे ऐसा नहीं लगा कि

अभी तीर्थयात्रा पर जाने का समय परिपक्व हुआ है। अनेक बार वह पीछे के कमरे में से बैठा हुआ ग्राहकों से नौकर की बातचीत सुनता। नौकर अकसर कहता, "द मास्टर विल नॉट गिव यू दिस थिंग एट दिस प्राइस--(मालिक इस कीमत पर चीज नहीं देगा।)" दूसरा वर्ष शुरू हो गया। मालिक पीछे के कमरे में ही रहता और फिर नौकर को सुनता रहता। लेकिन दूसरे वर्ष उसे थोड़ी आशा बँधी। नौकर ने ग्राहकों से कहना शुरू कर दिया, "वी विल नॉट गिव दिस थिंग एट दिस प्राइस--(हम इस कीमत पर चीज नहीं दे सकते।)" लेकिन तब भी मालिक ने सोचा, अभी ठीक समय नहीं आया कि मैं यात्रा पर निकल जाऊँ। तीसरा वर्ष लग गया और एक दिन मालिक को लगा, ठीक समय आ गया, क्योंकि नौकर ने ग्राहकों से कहा, "आई विल नॉट गिव यू दिस थिंग एट दिस प्राइस--(मैं तुम्हें इस कीमत पर चीज नहीं दूँगा।)" मालिक ने अपनी पत्नी से कहा कि 'अब बेफिक्र रहो। अब मैं यात्रा पर जा सकता हूँ। अब नौकर में और मुझमें कोई फासला नहीं रहा। अब हमारे बीच की दीवाल टूट गई है। अब नौकर मेरी वाणी बोल रहा है। अब मैं ही बोल रहा हूँ। अब बेफिक्र हुआ जा सकता है।'

उस हसीद फकीर ने यह छोटी-सी कहानी कही थी, यह मैं आपसे कहता हूँ, इस सूत्र को समझाने के पहले।

कृष्ण जब ऐसा कहते हैं कि मुझे अब कुछ भी ऐसा नहीं है जो पाने योग्य है, क्योंकि मैंने सब पा लिया; अब कुछ भी ऐसा नहीं है जो मेरे लिए करने योग्य हो, क्योंकि सब किया जा चुका; जो पाना था वह पा लिया गया; जो करना था वह कर लिया गया; अब कर्म मेरे लिए कर्तव्य नहीं है; तो यहाँ कृष्ण नहीं बोल रहे हैं, परमात्मा ही बोल रहा है; और इतने साहस से सिर्फ वही बोल सकता है। जो परमात्मा के साथ बिलकुल एक हो गया है।

राम इतने साहस से नहीं बोलते। इसलिए राम को हम पूर्ण अवतार नहीं कह सके। कृष्ण ही इस साहस से बोलते हैं और इतना बड़ा साहस सिर्फ निरहंकारी को ही उपलब्ध होता है। अहंकारी तो सदा भयभीत रहता है। सच तो यह है कि भय को हम अपने अहंकार से छिपाये रखते हैं। अहंकारी सदा डाँवाडोल रहता है। लेकिन कृष्ण जब बोलते हैं तो वे यह कह रहे हैं कि मेरे लिये कुछ भी करने योग्य नहीं है, फिर भी किए चला जाता हूँ; और कुछ भी पाने योग्य नहीं है, फिर भी दौड़ता हूँ और चलता हूँ। क्यों? कृष्ण कहते हैं कि 'मैं चाहूँ तो छोड़ सकता हूँ सब करना, मैं चाहूँ तो सब छोड़ सकता हूँ पाना, लेकिन तब मुझे देखकर वे बहुत से लोग जिन्हें अभी पाने को बहुत कुछ शेष है, पाना छोड़ देंगे और जिन्हें अभी करने को बहुत कुछ शेष है, करना छोड़ देंगे।'

इस बात को थोड़ा गहरा देखना जरूरी है। असल में जिसे अभी परमात्मा नहीं मिला, उसे बहुत कुछ पाने को शेष है। सच तो यह है कि जिसे परमात्मा नहीं मिला, उसे सभी कुछ पाने को शेष है। उसने अभी जो भी पाया है, उसका कोई भी मूल्य नहीं है। और जिसे अभी मुक्ति नहीं मिली और जिसने आत्मा की स्वतंत्रता को अनुभव नहीं किया, अभी उसे बहुत कुछ करने को शेष है। असल में अभी तक उसने जो कुछ भी किया है, उससे वह कहीं भी नहीं पहुँचा है। लेकिन कृष्ण जैसा व्यक्ति, जिसके पाने की यात्रा पूरी हुई, करने की यात्रा पूरी हुई, जो मंजिल पर खड़ा है, अगर वह भी बैठ जाय तो हम रास्ते पर ही बैठ जायेंगे।

हम तो बैठना ही चाहते हैं। हम तो उत्सुक हैं कि बैठने के लिए बहाना मिल जाय। हम तो आतुर हैं कि हमें कोई कारण मिल जाय और हम यात्रा बंद कर दें। हम यात्रा बड़े बे-मन से कर रहे हैं। हम चल भी रहे हैं तो ऐसे जैसे कि बोझ की भाँति चलाये जा रहे हैं। जिंदगी हमारी कोई मौज का गीत नहीं और जिंदगी हमारा कोई नृत्य नहीं है। जिंदगी हमारी वैसी है, जैसे बैल चलते हैं गाड़ी में जुते हुए--ऐसे हम जिंदगी में जुते हुए चलते हैं।

हम तो कभी भी आतुर हैं कि मौका मिले और हम रुकें। लेकिन अगर हम रुक जायँ तो हम परमात्मा को पाने से ही रुक जायेंगे; क्योंकि अभी जो पाने योग्य है, वह पाया नहीं गया; अभी जो जानने योग्य है, वह जाना नहीं गया। और जानने योग्य क्या है?--जानने योग्य वही है, जिसको जान लेने के बाद फिर कुछ जानने को शेष नहीं रह जाता। और पाने योग्य क्या है?--पाने योग्य वही है कि जिसको पा लेने के बाद फिर पाने की आकांक्षा ही तिरोहित हो जाती है। मंजिल वही है, जिसके आगे फिर रास्ता ही नहीं होता। जिस मंजिल के आगे रास्ता है, वह मंजिल नहीं है, पड़ाव है।

हम तो अभी पड़ाव पर भी नहीं हैं, रास्तों पर हैं। शायद ठीक रास्तों पर भी नहीं हैं, गलत रास्तों पर हैं। ऐसे रास्तों पर हैं जिन पर अगर हम बैठ गये, जिन पर अगर हम रुक गये, जिनके ऊपर अगर हम ठहर गये तो हम पदार्थ के ही घेरे में बंद रह जायेंगे और परमात्मा के प्रकाश को कभी उपलब्ध नहीं हो पायेंगे।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, "मैं, जिसे सब कुछ मिल गया, मैं जिसने कि सब कुछ पा लिया, जिसके लिए अब कोई आकांक्षा शेष नहीं रही, जिसके लिए अब कोई भविष्य नहीं है...।" खयाल रहे, भविष्य निर्मित होता है आकांक्षाओं से, कल निर्मित होता है, वासनाओं से। कल हम निर्माण करते हैं इसलिए कि आज बहुत कुछ है, जो पाने को शेष रह गया।

कृष्ण जैसे व्यक्ति के लिए कोई भविष्य नहीं है। सब कुछ अभी है, यहीं है। तब

तो उन्हें रुक जाना चाहिए। लेकिन बड़े मजे की बात है, कृष्ण जैसा व्यक्ति नहीं रुकता और हम रुक जाते हैं! जिन्हें नहीं रुकना चाहिए, वे रुक जाते हैं; जिसे रुक जाना चाहिए, वह नहीं रुकता। हम नासमझ रुकने वालों के लिये, ठहर जानेवालों के लिये, पड़ाव को मंजिल, गलत रास्ते को सही रास्ता समझ लेने वालों के लिए कृष्ण जैसे व्यक्ति को करुणा से ही चलते रहना पड़ता है।

इसलिए कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि 'तू रुकेगा, तू ठहरेगा तो खतरनाक है।' खतरनाक दो कारणों से है। खुद अर्जुन के लिए भी खतरनाक है। अर्जुन भी अभी वहाँ नहीं पहुँच गया है, जहाँ मंजिल है। अभी श्रम अपेक्षित है। अभी संकल्प की जरूरत है। अभी साधना आवश्यक है। अभी कदम उठाने हैं। सीढ़ियाँ चढ़नी हैं। अभी मंदिर आ नहीं गया और प्रतिमा दूर है। अर्जुन के लिए भी रुक जाना खतरनाक है। और अर्जुन के लिए खतरनाक है ही, पर वह एक ही व्यक्ति के लिए खतरनाक है। अर्जुन को देखकर पीछे चलने वाले बहुत से लोग रुक जायेंगे। जब अर्जुन जैसा व्यक्ति रुके तो वे रुक जायेंगे।

कृष्ण की सारी सक्रियता करुणा वश है—करुणा उन पर, जो अभी अपनी मंजिल तक नहीं पहुँच गये हैं। उनके लिए कृष्ण दौड़ते रहेंगे कि उनमें भी गति आती रहे। उनके लिए कृष्ण खोजते रहेंगे—उसको, जिसे उन्होंने पा ही लिया है—ताकि वे भी खोज में लगे रहें। उनके लिए कृष्ण श्रम करते रहेंगे, उसके लिए जो कि उनके हाथ में है, ताकि वे भी श्रम करते रहें, जिनके हाथ में अभी कुछ नहीं है।

इस सत्य को अगर हम ठीक से देख पायें तभी हम बुद्ध, महावीर, कृष्ण या क्राइस्ट की सक्रियता को समझ पायेंगे। उनकी सक्रियता और हमारी सक्रियता में एक बुनियादी भेद है। वे सब कुछ पाने के बाद भी सक्रिय हैं और हम कुछ पाने के पहले सक्रिय हैं। एक-सा ही लगेगा। हम और वे रास्ते पर चलते हुए एक से ही मालूम पड़ेंगे, लेकिन वे और हम एक से नहीं हैं। इस तरह के व्यक्तियों को ही हमने अवतार कहा है। इसलिए अवतार शब्द के सम्बन्ध में दो बातें खयाल में ले लें।

अवतार हम उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसे पाने को कुछ भी शेष नहीं रहा, फिर भी पानेवालों के बीच में वह खड़ा है। अवतार हम उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसे जानने को कुछ शेष नहीं रहा, फिर भी न जाननेवालों की पाठशाला में बैठा हुआ है। अवतार हम उसे कहते हैं, जिसके लिए जिंदगी में अब लेने योग्य कुछ भी नहीं है, फिर भी जिंदगी के घनेपन में खड़ा है। अवतार का कुल अर्थ इतना ही है कि जो पहुँच चुका, वह भी रास्ते पर है।

बुद्ध के जीवन में एक उल्लेख है; उल्लेख है कि बुद्ध का निर्वाण हुआ। कहानी है बहुत मधुर, बहुत मीठी। फिर भी सत्य, कहानी की तरह नहीं, उसके अभिप्राय की

तरह है। बुद्ध का निर्वाण हो गया और निर्वाण के बाद की कथा है कि वे मोक्ष के द्वार पर खड़े हैं। द्वारपाल ने दरवाजे खोल दिये, लेकिन बुद्ध द्वार से प्रवेश नहीं करते। द्वारपाल कहता है, 'भीतर आयें, स्वागत है। और मोक्ष प्रतीक्षा कर रहा है आपकी —बहुत दिनों से।' चालीस वर्ष पहले बुद्ध को आ जाना चाहिए था, क्योंकि मरने के चालीस वर्ष पहले बुद्ध की यात्रा पूरी हो गई थी। मरने के चालीस वर्ष पहले ही जो पाना था, वह पा लिया गया था और जो जानना था, वह जान लिया गया था। लेकिन चालीस वर्ष वे कहाँ थे? चालीस वर्ष से मोक्ष प्रतीक्षा कर रहा है कि आयें। द्वार चालीस वर्ष से खुले हैं। लेकिन बुद्ध कहते हैं कि 'अभी भी मैं प्रवेश नहीं करूँगा। द्वार को अभी और बहुत दिन तक खुले रहना पड़ेगा।' द्वारपाल कहता है कि 'क्या कह रहे हैं आप! लोग द्वार खटखटाते हैं, तब भी मोक्ष के द्वार नहीं खुलते। लोग छाती पीटते हैं, तो भी मोक्ष के द्वार नहीं खुलते। लोग गिड़गिड़ाते हैं, तो भी मोक्ष के द्वार नहीं खुलते। मोक्ष के द्वार खुले हैं और आप रुके हैं बाहर! प्रवेश करें, रुकते क्यों है?' तो बुद्ध कहते हैं, 'जब तक एक आदमी भी मेरे पीछे मोक्ष के बिना रह गया है, तब तक मैं प्रवेश नहीं कर सकता हूँ। मैं अंतिम ही आदमी हो सकता हूँ, जो मोक्ष में प्रवेश करेगा।'

महायान बौद्ध धर्म के फकीर कहते हैं, बुद्ध अब भी मोक्ष के द्वार पर खड़े हैं। द्वार खुले हैं और बुद्ध द्वार पर ही खड़े हैं। अब भी खड़े हैं। जब तक अंतिम आदमी प्रवेश न कर जाय, तब तक वे खड़े ही रहनेवाले हैं। यह कहानी ही है। लेकिन अभिप्राय गहरा है और सत्य है।

कृष्ण यही कह रहे हैं अर्जुन को। अर्जुन को वे एक बात स्मरण दिलाना चाहते हैं और वह यह कि अपने लिए ही कर्म करना काफी नहीं है। असली कर्म तो उसी दिन शुरू होता है, जिस दिन वह दूसरे के लिए शुरू होता है। अपने ही लिए जीना पर्याप्त नहीं है। असली जिंदगी तो उसी दिन शुरू होती है, जिस दिन वह दूसरों के लिए शुरू होती है।

ध्यान रहे, जो सिर्फ अपने लिए, खुद के लिए कुछ पाने के लिए जीता है, वह बोझ से ही जियेगा। 'बर्डनसम' होगी उसकी जिंदगी—एक बोझ, एक भार। लेकिन, जिस दिन व्यक्ति अपने लिए सब पा चुका होता, सब जान चुका होता, फिर भी जीता है, तब जिंदगी निर्भार, 'वेटलेस' हो जाती है। तब जिंदगी से 'ग्रेव्हिटेशन', जमीन की कोशिश खो जाती है और प्रभु का प्रसाद, प्रभु की 'ग्रेस' बरसनी शुरू हो जाती है।

हम जमीन से बँधे हुए जीते हैं, हम जिंदगी के बोझ से दबे हुए जीते हैं। जो भी अपने लिए जी रहा है, वह जमीन के बोझ से भरा हुआ जियेगा। अपने लिए जीने से ज्यादा बड़ा कष्ट दूसरा नहीं है। इस साधारण जिंदगी में भी वे ही क्षण हमारे आनन्द

के होते हैं, जब हम थोड़ी देर के लिए, दूसरे के लिए जीते हैं। माँ जब अपने बेटे के लिये जी लेती है, तब आनन्द से भर जाती है। मित्र जब अपने मित्र के लिये जी लेता है, तो आनन्द से भर जाता है। क्षण भर को भी अगर हम दूसरों के लिये जीते हैं, तभी हमारे जीवन में आनन्द होता है।

कृष्ण कह रहे हैं, 'जिसने सब पा लिया, वह दूसरे के लिये ही जीता है। अपने लिये जीने का तो कारण ही शेष नहीं रहता और तब आनन्द की अनंत वर्षा उसके ऊपर हो जाती है।' अर्जुन को वे कह रहे हैं कि 'तू केवल अपने लिये ही मत सोच।—अपने लिये भी सोच, क्योंकि तेरे लिए अभी यात्रा बाकी है।) लेकिन उनके लिये भी सोच जिनके लिए बहुत यात्रा बाकी है और जो अभी जीवन के अँधेरे पथों पर हैं और जिन्हें मंजिल का कोई भी प्रकाश दिखाई नहीं पड़ा है।

●प्रश्न : भगवान् श्री, कल की चर्चा पर दो छोटे प्रश्न हैं। एक मित्र पूछते हैं कि आपने वर्ण व्यवस्था के बारे में जो कहा, वह व्यवस्था क्या आज की स्थिति में लाना उचित है? और दूसरा प्रश्न है कि आश्रमों की चर्चा आपने की और उम्र का विभाजन भी किया। संन्यास चौथी अवस्था में आता है, लेकिन आप बहुत छोटी उम्र के लोगों को संन्यास की दीक्षा दे रहे हैं, तो क्या यह उचित है?

समय बदल जाता है, परिस्थिति बदल जाती है, लेकिन जीवन के मूल सत्य नहीं बदलते और जो उन मूल सत्यों को अस्वीकार करता है, वह केवल कष्ट में, दुःख में और चिंता में पड़ता है। सब कुछ बदल जाता है, लेकिन जीवन के जो आधार-सत्य हैं, वे नहीं बदलते। वर्ण और आश्रम की व्यवस्था किसी समाज-विशेष और किसी परिस्थिति विशेष के नियम पर निर्मित नहीं थी। वर्णाश्रम की व्यवस्था मनुष्य के चित्त के ही नियमों पर निर्भर थी और आज भी उतने ही उपयोग की है, जितनी कभी हो सकती थी और कल भी उतने ही उपयोग की रहेगी। इसका यह मतलब नहीं है कि वर्ण व्यवस्था के नाम पर जो चल रहा है, वह उपयोगी है। जो चल रहा है, वह तो वर्ण व्यवस्था नहीं है। जो चल रहा है, वह तो वर्ण व्यवस्था के नाम पर रोग है, बीमारी है।

असल में सभी ढाँचे सड़ जाते हैं। सत्य नहीं सड़ते—ढाँचे सड़ जाते हैं। और अगर सत्य को बचाना हो तो सड़े हुए ढाँचों को रोज अलग करने का साहस करना चाहिए। जो ढाँचा निर्मित हुआ था, वह तो सड़ गया; उसके प्राण तो कभी के खो गये, उसकी आत्मा तो कभी की लोप हो गई; सिर्फ देह रह गई है। और उस देह में हजार तरह की सड़ाँध पैदा होगी, क्योंकि आत्मा के साथ ही उस देह में सड़ाँध पैदा नहीं होती थी।

दो बातें वर्ण के सम्बन्ध में। एक तो, जिस दिन वर्ण 'हाइरेरकी' हो गया, जिस

दिन वर्ण नीचे-ऊँचे का भेद करने लगा, उसी दिन सड़ाँध शुरू हो गई। वर्ण के सत्य में ऊँचे-नीचे का भेद नहीं था; वर्ण के सत्य में व्यक्तित्व भेद था। शूद्र ब्राह्मण से नीचा नहीं है, ब्राह्मण शूद्र से ऊँचा नहीं है। क्षत्रिय शूद्र से ऊँचा नहीं है, वैश्य ब्राह्मण से नीचा नहीं है। नीचे-ऊँचे की बात खतरनाक सिद्ध हुई। शूद्र शूद्र है, ब्राह्मण ब्राह्मण है। यह टाइप की बात है।

जैसे समझें, एक आदमी पाँच फीट का है और एक आदमी छह फीट का है। पाँच फीट का आदमी छह फीट के आदमी से नीचा नहीं है। पाँच फीट का आदमी पाँच फीट का आदमी है, छह फीट का आदमी छह फीट का आदमी है। एक आदमी काला है, एक आदमी गोरा है। काला आदमी गोरे आदमी से नीचा नहीं है। काला आदमी काला है, गोरा आदमी गोरा है। पिगमेंट का फर्क है चमड़ी में, थोड़े से रंग का फर्क है। मुश्किल से दस बीस पैसे के दाम का फर्क है। और चमड़ी के फर्क से कोई आदमी में फर्क नहीं होता। गोरे की चमड़ी में भी आज नहीं कल बीस पचीस पैसे का पिगमेंट डाला जा सकेगा, तो वह काली हो जायेगी और काले की चमड़ी गोरी हो जायेगी! गोरा गोरा है, काला काला है; ऊँचे-नीचे का फासला जरा भी नहीं है। एक आदमी के पास थोड़ी ज्यादा बुद्धि है, एक आदमी के पास थोड़ी कम बुद्धि है। ऊँचे-नीचे का फिर भी कोई कारण नहीं है। कोई कारण नहीं है। जैसे पिगमेंट का फर्क है, ऐसे ही बुद्धि की मात्रा का फर्क है।

वर्ण की व्यवस्था में फर्क, डिफरेंस (भिन्नता) की स्वीकृति थी, वेल्युएशन (मूल्यांकन) नहीं था। और उचित है कि भिन्नता की स्वीकृति हो, क्योंकि जिस दिन स्वीकृति खो जाती है, उस दिन उपद्रव, उत्पात शुरू होता है। अब आज वर्ण टिकेगा नहीं, क्योंकि सड़ी हुई वर्ण की व्यवस्था के लिये कोई लाख उपाय करे, वह टिक नहीं सकती। लेकिन वर्ण लौटेगा। यह व्यवस्था तो मरेगी, लेकिन वर्ण लौटेगा।

जितना मनुष्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक चिंतन बढ़ेगा—आनेवाली सदी में, उतनी ही वर्ण की व्यवस्था वापस लौट आयेगी। हिन्दुओं की वर्ण की व्यवस्था नहीं लौटेगी। वह तो गई, वह तो मर गई। वर्ण की व्यवस्था लौट आयेगी और अब और ज्यादा वैज्ञानिक होकर लौटेगी। क्योंकि जितना मनुष्य के सम्बन्ध में समझदारी बढ़ रही है, जितना मनोविज्ञान विकसित हो रहा है, उतनी बात साफ हो रही है कि चार तरह के लोग हैं। उनको इनकार करने का कोई उपाय नहीं है।

हम सारे लोगों को सिर्फ एक ही तरह में एक वर्ण का बना सकते हैं। और वह यह कि हम लोगों की आत्मा को बिलकुल नष्ट कर दें और लोगों को बिलकुल मशीनें बना दें। वर्ण की व्यवस्था उसी दिन असत्य होगी, जिस दिन आदमी मशीन हो जायेगा, आदमी नहीं होगा; उसके पहले असत्य नहीं हो सकती।

मशीनें एक-सी हो सकती हैं। फोर्ड की कारें हैं, तो लाख कारें एक-सी हो सकती हैं। रत्ती भर फर्क खोजा नहीं जा सकता। एक ढाँचे में ढलती हैं, एक-सी हो सकती हैं। कारें इसीलिए एक-सी हो सकती हैं, क्योंकि उनके पास कोई आत्मा नहीं है। आत्मा होगी तो व्यक्ति एक-से कभी नहीं हो सकते। आत्मा का अर्थ ही भेद है। व्यक्तित्व का अर्थ ही अंतर है, डिफरेन्स है। आपके पास व्यक्तित्व है, उसका मतलब ही यही है कि आप दूसरे व्यक्तियों से कहीं न कहीं भिन्न हैं। अगर आप बिलकुल भिन्न नहीं हैं, तो व्यक्तित्व नहीं है, आत्मा नहीं है।

मनुष्य के पास जब तक आत्मा है, तब तक वर्ण का सत्य झुठलाया नहीं जा सकता है। इनकार कर सकते हैं। एक आदमी कह सकता है कि हम 'ग्रेव्हिटेशन' को नहीं मानते, जमीन की कोशिश को नहीं मानते। मत मानिये! इससे सिर्फ आपकी टाँग टूटेगी। इससे ग्रेव्हिटेशन का सत्य गलत नहीं होता। एक आदमी कह सकता है, हम आक्सीजन के सत्य को नहीं मानते; हम श्वास लेंगे नहीं। तो ठीक है, मत लीजिए। इससे सिर्फ आप मरेंगे, आक्सीजन नहीं मरती।

जीवन के नियम को इनकार किया जा सकता है, लेकिन इससे जीवन का नियम नष्ट नहीं होता, सिर्फ हम नष्ट होते हैं। हाँ, जीवन के नियम पर हम झूठी व्यवस्थाएँ खड़ी कर सकते हैं—और तब झूठी व्यवस्था के कारण जीवन का नियम भी बदनाम हो जाता है।

हमने जो 'हाइरेरकी' की व्यवस्था की—ऊँचे-नीचे की, उससे बदनामी पैदा हुई; उससे वर्ण की व्यवस्था दूषित हुई। उससे वर्ण की व्यवस्था गंदी हुई, कन्डेम्ड हुई। आज वह कन्डेम्ड है, लेकिन वर्ण का सत्य कभी भी कन्डेम्ड नहीं है।

मैं आपसे कहना चाहूँगा कि यह पहली सदी है, जब पश्चिम के मनोविज्ञान ने पुनः इस बात को साफ करना शुरू कर दिया है कि दो व्यक्तियों के बीच पूरी समानता, पूरी एकता, पूरा एक-सा-पन कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। और दुर्भाग्य का होगा वह दिन, जिस दिन विज्ञान सब आदमियों को बराबर कर देगा, क्योंकि उसी दिन आदमी की आत्मा नष्ट हो जाएगी।

वर्ण के सत्य में कहीं भी अंतर नहीं पड़ा है; पड़ेगा भी नहीं; पड़ने भी नहीं देना है। लड़ना भी पड़ेगा आदमी को, आज नहीं तो कल कहना पड़ेगा कि हम अलग हैं, भिन्न हैं; और भिन्नता कायम रहनी चाहिए। हालाँकि राजनीति भिन्नता को तोड़ डालने की पूरी चेष्टा में लगी है।

सब भिन्नता टूट जाय और आदमी मशीन जैसा व्यवहार करे तो राजनीतिज्ञों के लिए बड़ी सरल और सुलभ हो जाएगी बात, तब डिक्टेटोरियल हुआ जा सकता है, तब तानाशाही लाई जा सकती है, तब टोटलिटेरियन हुआ सकता है, तब व्यक्तियों

की कोई चिंता करने की जरूरत नहीं है, व्यक्ति है ही नहीं। लेकिन जब तक व्यक्ति भिन्न हैं, तभी तक लोकतंत्र है जगत् में। जब तक व्यक्तियों में आत्मा है, तभी तक रस भी है जगत् में, वैविध्य भी है जगत् में, सौंदर्य भी है जगत् में, रंग-बेरंगापन भी है जगत् में। वर्ण की व्यवस्था इस रंग-बेरंगेपन को, इस वैविध्य को अंगीकार करती है।

ऊँच-नीच की बात गलत है; और जो लोग ऊँच-नीच बनाये रखने के लिये वर्ण की व्यवस्था का समर्थन करते हैं, वे लोग खतरनाक हैं। लेकिन वह बात मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं कुछ और ही बात कह रहा हूँ। मैं कह रहा हूँ कि आदमी चार प्रकार के हैं। हम चाहे मानें और चाहे हम न मानें।

आज अमेरिका में तो कोई वर्ण व्यवस्था नहीं है, लेकिन सभी लोग वैज्ञानिक नहीं हैं और वैज्ञानिक शुद्ध ब्राह्मण हैं। आइंस्टीन में और ब्राह्मण में कोई भी फर्क नहीं है। आज पश्चिम का वैज्ञानिक ठीक वहीं है, जहाँ ब्राह्मण था। सारी खोज उसकी—सत्य की है, और सत्य की खोज के लिए वह सब तकलीफें झेलने को राजी है। लेकिन सभी लोग सत्य की खोज के लिए उत्सुक नहीं हैं। रॉकफेलर ब्राह्मण नहीं है और न मॉर्गन ब्राह्मण है। और न तो रथचाइल्ड ब्राह्मण है। वे शुद्धतम वैश्य हैं। धन ही उनकी खोज है। धन ही उनकी आकाँक्षा है, धन ही सब कुछ है।

एक बहुत बड़ा वर्ग है सारी पृथ्वी पर जो लड़ने के लिये उत्सुक और आतुर है। उसकी लड़ाई के ढंग भले बदल जायँ, लेकिन वह लड़ने के लिये उत्सुक और आतुर है। नीत्से ने कहा है कि जब मैं कभी रास्ते पर सिपाहियों की संगीनें धूप में चमकती हुई देखता हूँ और जब कभी मैं सैनिकों के जूतों की आवाज सड़क पर लयबद्ध सुनता हूँ, तो मुझे लगता है कि इससे श्रेष्ठ कोई भी संगीत नहीं है। अब यह जो नीत्से है, मोझार्ट बेकार है, बीथोवन बेकार है; इसके लिए वीणा बेकार है। यह कहता है, 'जब चमकती हुई संगीनें सुबह के सूरज में दिखाई पड़ती हैं, तो उनकी चमक में जो गीत है, उससे सुंदर कोई गीत नहीं है। और जब सैनिक रास्ते पर चलते हैं, तो उनके जूतों की लयबद्ध आवाज में जो भाव है, वह किसी संगीत में नहीं है।' यह आदमी जो भाषा बोल रहा है, वह ब्राह्मण की नहीं है। यह आदमी जो भाषा बोल रहा है, वह क्षत्रिय की है। यह आदमी शूद्र की नहीं है। यह आदमी जो भाषा बोल रहा है, वह बदला लेगा। रहेगा। इस आदमी को हम इनकार करेंगे तो यह बदला लेगा।

किसी आदमी को इनकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक आदमी को उसके 'टाइप' के फुलफिलमेंट के लिए, उसके व्यक्तित्व के अनुकूल, स्वभाव के अनुसार समाज में सुविधा होनी चाहिए। शूद्र भी है. . कई दफा शूद्र अगर दूसरे घर में पैदा हो जाय तो बहाने खोज कर शूद्र हो जाता है। अगर वह ब्राह्मण के घर में पैदा

जाएगा तो वह कहेगा, ब्रह्म की खोज से क्या होगा ? मैं तो कोढी की सेवा करूँगा ! वह कहेगा : ध्यान से कुछ भी नहीं होगा । वह कहेगा : धर्म यानी सर्विस--सेवा !

अगर इस मुल्क के धर्मों में हम खोज करने जायँ, तो इस मुल्क का धर्म मौलिक रूप से ब्राह्मणों ने निर्मित किया । इसलिए इस मुल्क के धर्म में सेवा की धारणा नहीं आ सकी, सर्विस का कन्सेप्ट नहीं आया । इस मुल्क के धर्म ने सेवा की बात ही नहीं की कभी, क्योंकि मौलिक रूप से ब्राह्मण ने उसको निर्मित किया था । वह एक वर्ण के द्वारा निर्मित था, उसकी दृष्टि उसमें प्रवेश कर गई । इसलिए पहली दफे क्रिश्चियॅनिटी से जब हिन्दू, जैन और बौद्धों की टक्कर आई, तो बहुत मुश्किल में पड़ गये वे, क्योंकि क्रिश्चियॅनिटी के प्रणेता जीसस एक बढ़ई के बेटे थे । वे एक शूद्र परिवार से आते हैं । जन्म उनका एक घुड़साल में हुआ था । उनके बचपन के जो साल हैं, वह बिलकुल समाज का जो चौथा वर्ग है, उसके बीच व्यतीत हुआ है । इसलिए जीसस ने जब धर्म निर्मित किया, तो उस धर्म में सर्विस (सेवा) मौलिक तत्त्व बना । इसलिए सारी दुनिया में ईसाई के लिए सेवा धर्म का श्रेष्ठतम रूप है । ध्यान (मेडिटेशन) नहीं--सर्विस; ब्रह्म का चिंतन नहीं--पड़ोसी की सेवा । और इसलिए ईसाइयत ने सारी दुनिया में ब्राह्मण से उत्पन्न जो धर्म थे, उन सबको 'कन्डेम्ड' (निन्दित) कर दिया ।

बुद्ध और महावीर पैदा तो हुए क्षत्रिय घरों में, लेकिन उनके पास बुद्धि ब्राह्मण की थी । और यह भी जान कर आपको हैरानी होगी कि महावीर क्षत्रिय घर से आये, लेकिन महावीर का धर्म जिन गणधरों ने निर्मित किया, वे ग्यारह के ग्यारह ब्राह्मण थे । महावीर ने जो बातें कहीं, उनको जिन्होंने संगृहीत किया, वे ग्यारह ही ब्राह्मण थे । महावीर के ग्यारह जो बड़े शिष्य हैं--जिन्होंने महावीर के सारे धर्म-शास्त्र निर्मित किये--वे ग्यारह के ग्यारह ब्राह्मण थे । इसलिए कोई उपाय न था कि हिन्दुस्तान का कोई भी धर्म सेवा पर जोर दे सके । हाँ, विवेकानन्द ने सेवा पर जोर दिया, क्योंकि विवेकानन्द शूद्र परिवार से आते हैं--कायस्थ । इसलिए विवेकानन्द ने रामकृष्ण-मिशन को ठीक क्रिश्चियन मिशनरी ढंग पर निर्मित किया । हिन्दुस्तान में सेवा के शब्द को लानेवाले आदमी विवेकानन्द थे । फिर गाँधी ने जोर दिया ।

यह टाइप की बात है । ब्राह्मण की कल्पना के बाहर है कि शूद्र के पैर दबाने से ब्रह्म कैसे मिल जाएगा ! शूद्र की कल्पना से बाहर है कि आँख बंद करके शून्य में उतर जाने से ब्रह्म कैसे मिल जाएगा ? क्षत्रिय की कल्पना के बाहर है कि बिना लड़े जब कुछ भी नहीं मिलता, तो ब्रह्म कैसे मिल जाएगा ? वैश्य की कल्पना के बाहर है कि जब धन के बिना कुछ भी नहीं मिलता, तो धर्म कैसे मिल जाएगा ? वैश्य अगर पहुँचेगा भी धर्म के पास तो भी धन से ही पहुँचेगा । ये टाइप हैं । और मैं यह कह

रहा हूँ कि व्यक्तियों के टाइप का सवाल है ।

वर्ण की धारणा समाज के बीच नीच-ऊँच का प्रश्न नहीं है । वर्ण की धारणा समाज के बीच व्यक्ति वैभिन्य का प्रश्न है । और इसलिए दुनिया में चार तरह के लोग सदा रहेंगे और चार तरह के धर्मों की धारणा सदा रहेगी । हाँ, इन चार से भी मिलकर बहुत-सी धारणाएँ बन जाएँगी, लेकिन वह मिस्रित होगी । लेकिन चार शुद्ध-स्वर धर्मों के, सदा पृथ्वी पर रहेंगे जब तक आदमी की आत्मा है । और वह समाज स्वस्थ समाज होगा जो इस भेद को इनकार न करे, क्योंकि इनकार करने से नियम नहीं मिटता, सिर्फ समाज को नुकसान होता है ।

अब उलटी हालतें होती हैं । अगर रामकृष्ण मिशन में कोई आदमी संन्यासी हो जाय तो उससे कहेंगे, 'सेवा करो' । वह अगर ब्राह्मण टाइप का है तो मुश्किल में पड़ जायेगा । उसकी कल्पना के बाहर होगा कि कैसी सेवा ! सेवा से क्या होगा ? लेकिन अगर कोई सेवाभावी व्यक्ति बुद्ध का अनापानसति-योग साधने लगे--कि सिर्फ श्वास पर ध्यान करो--तो सेवाभावी व्यक्ति कहेगा : 'यह पागलपन है ! नॉनसेन्स । श्वास पर ध्यान करने से क्या होगा ? कुछ करके दिखाओ । लोग गरीब हैं, भूखे हैं, लोग बीमार हैं । उनकी सेवा करो ।'

यह व्यक्तियों के भेद हैं । और अगर इन भेदों को हम वैज्ञानिक रूप से साफ-साफ न समझ लें, तो बड़ी कठिनाई होगी । लेकिन हमारा युग भेद को तोड़ रहा है, कई तरह से तोड़ रहा है । जैसे उदाहरण के लिए आपको कहूँ । स्त्री और पुरुष का बायोलॉजिकल भेद है, ब्राह्मण और क्षत्रिय का साइकोलॉजिकल भेद है, शूद्र और वैश्य का मनोवैज्ञानिक भेद है । स्त्री और पुरुष का जैविक भेद है । लेकिन हमने भेद तोड़ने का तय कर रखा है; हम भेद को इनकार करने को उत्सुक हैं । तो हमने पहले वर्णों को तोड़ने की कोशिश की सारी दुनिया में । एक तो सारी दुनिया में वर्ण बहुत स्पष्ट नहीं थे, सिर्फ इसी मुल्क में थे । हमने उसको तोड़ने की कोशिश की । हमने करीब-करीब उनको जराजीर्ण कर दिया । अब एक दूसरा जैविक भेद है स्त्री-पुरुष का, उसको भी तोड़ने की कोशिश की जा रही है ।

एक बहुत मजेदार घटना घट रही है : वह घटना यह घट रही है कि लड़कियाँ यूरोप और अमेरिका में लड़कों के कपड़े पहन रही हैं और लड़के लड़कियों जैसे बाल बढ़ा रहे हैं । दोनों करीब करीब आ रहे हैं । बायोलॉजिकल भेद तोड़ने की कोशिश चल रही है । लेकिन इससे क्या होगा ? इससे क्या भेद टूट जायेगा ? इससे भेद नहीं टूटेगा; सिर्फ लड़कियाँ, कम-लड़कियाँ हो जाएँगी, और लड़के, कम-लड़के हो जाएँगे और दोनों के बीच जो फासले थे, भेद थे, और उनसे जो रस पैदा होता था, वह क्षीण हो जायेगा । इसलिए आज यूरोप और अमेरिका में लड़के और लड़कियाँ

के बीच से रोमान्स विदा हो गया, रोमान्स नहीं है। हो नहीं सकता। यह भेद पर निर्भर है। जितना भेद है, उतना रस है। जितना भेद टूटा, उतना रस टूट जाता है।

हम सब तरह के भेद तोड़ने को पागल लोग हैं। भेद रहने चाहिए, लेकिन उसका मतलब यह नहीं कि स्त्री छोटी है और पुरुष बड़ा है। वह गलत बात है। भेद के आधार पर ऊँचाई-नीचाई तय करना गलत बात है। सब भेद होरिजोन्टल (क्षैतिजीय) हैं। कोई भेद वर्टिकल (श्रेष्ठतागत) नहीं है। न तो पुरुष ऊँचा है, न तो स्त्री ऊँची है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि पुरुष और स्त्री एक हैं। पुरुष अलग है, स्त्री अलग है। ऊँचा-नीचा कोई भी नहीं है। लेकिन भेद स्पष्ट है और भेद स्पष्ट रहना चाहिए।

स्त्री को पूरी कोशिश करनी चाहिए कि वह कितनी स्त्रैण हो सके और पुरुष को पूरी कोशिश करनी चाहिए, कि वह कितना पुरुष हो सके। और स्त्री जितनी ज्यादा स्त्री और पुरुष जितना ज्यादा पुरुष होगा, उन दोनों के बीच के जीवन का रस उतना ही गहरा होगा, आकर्षण उतना ही गहरा होगा उन दोनों के बीच, प्रेम के प्रवाह की धारा उतनी ही तीव्र होगी। जितना कम पुरुष और जितनी कम स्त्री, तो स्त्री नम्बर दो का पुरुष हो जाती है, और पुरुष नम्बर दो की स्त्री हो जाता है। दोनों करीब तो बहुत आ जाते हैं, लेकिन उनके बीच की पोलैरिटी टूट जाती है, उनके बीच का रस टूट जाता है। आज पहली दफे पश्चिम में स्त्री और पुरुष के बीच का जो रस था, संगीत था, वह टूट गया।

वर्ण मनोवैज्ञानिक भेद हैं और समाज में उनसे भी रस और संगीत पैदा होता है। वर्णविहीन समाज ऐसा ही है जैसा इकतारा बजता है। इकतारे का भी थोड़ा रस तो है, लेकिन उबाने वाला है। और इकतारा रस दे सकता है, अगर और वाद्यों के साथ बजता हो। अकेले ही बजता हो तो घबड़ाहट हो जाती है।

मैंने एक घटना सुनी है।

एक सज्जन वीणा बजाते हैं, लेकिन वे एक तार को, एक ही जगह दबाये चले जाते हैं। महीनों हो गये। उनकी पत्नी, उनके बच्चे बहुत घबड़ा गये। और एक दिन उनके पड़ोसियों ने भी सब ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि 'आप क्या कर रहे हैं! हमने औरों को भी बजाते देखा है, लेकिन हाथ चलता है, अलग-अलग तार छुए जाते हैं, अलग दबाव दिया जाता है। यह क्या पागलपन है? एक ही जगह उँगली दबाते महीनों हो गये, वहीं दबाये चले जा रहे हैं! हम घबड़ा गये हैं।' उन सज्जन ने कहा, 'तुम्हें पता नहीं, दूसरे लोग ठीक स्थान खोज रहे हैं; मुझे मिल गया है! उन्हें नहीं मिला है, इसलिए वे लोग इधर-उधर हाथ फैलाते हैं। मुझे कोई जरूरत नहीं रही। मैं मंजिल पर आ गया हूँ। अब मैं उसी को बजाता रहूँगा।'—यह आदमी

तो पागल है। पड़ोस के लोगों को भी पागल कर देगा।

जीवन एक संगीत है, लेकिन संगीत अर्थात् एक आर्केस्ट्रा। उसमें बहुत विभिन्न स्वर चाहिए; उसमें क्षत्रिय की चमक भी चाहिए; उसमें शूद्र की सेवा भी चाहिए। उसमें ब्राह्मण का तेज भी चाहिए; उसमें वैश्य की खोज भी चाहिए। उसमें सब चाहिए। और इनमें नीचे—ऊपर-नीचे कोई भी नहीं भी नहीं है। और यह सत्य आज भी असत्य नहीं हो गया और कल भी असत्य नहीं हो जानेवाला है।

●दूसरी बात पूछी है कि मैं छोटी उम्र के लोगों को भी संन्यास दीक्षा क्यों देता हूँ।

मैंने कहा कि जीवन का एक क्रम है और संन्यास उसमें अंतिम अवस्था है—लेकिन यह क्रम टूट गया। और अभी तो ब्रह्मचर्य भी अंतिम अवस्था नहीं है। ब्रह्मचर्य पहली अवस्था थी, उस क्रम में, वह क्रम टूट गया। अब तो ब्रह्मचर्य अंतिम अवस्था भी नहीं है! पहले की तो बात ही छोड़ दें। मरते क्षण तक आदमी ब्रह्मचर्य की अवस्था में नहीं पहुँचता। अब तो संन्यास को कब्र के आगे ही कोई व्यवस्था बनानी होगी। और जब बूढ़े ब्रह्मचर्य को उपलब्ध न होते हों तो मैं कहता हूँ, बच्चे को भी हिम्मत करके संन्यासी होना चाहिए—'जस्ट टु बैलेन्स', संतुलन बनाये रखने को।

जब बूढ़े भी ब्रह्मचर्य को उपलब्ध न होते हों तो बच्चों को भी संन्यासी होने का साहस करना चाहिये। तो शायद बुड्ढों को भी शर्म आनी शुरू हो अन्यथा बुड्ढों को शर्म आनेवाली नहीं है। एक तो इसलिये। और दूसरा इसलिये भी कि जीवन का जो क्रम है, उस क्रम में बहुत-सी बातें इम्प्लाइड हैं, उसमें बहुत-सी बातें अंतर्गर्भित हैं। जैसे महावीर ने अंतिम अवस्था में संन्यास नहीं लिया, बुद्ध ने अंतिम अवस्था में संन्यास नहीं लिया, क्योंकि उनके जीवन की पिछले जन्म की यात्रा वहाँ पहुँच गई, जहाँ से इस जन्म में शुरू से ही संन्यास हो सकता है। वे पचहत्तर वर्ष तक प्रतीक्षा करें, यह बेमानी है।

यही जन्म सब कुछ नहीं है। हम इस जन्म में कोरे कागज की तरह पैदा नहीं होते हैं। हम सब 'बिल्ट-इन-प्रोग्रैम' ले कर पैदा होते हैं। हमने पिछले जन्म में जो भी किया, जाना, सोचा और समझा है, वह सब हमारे साथ जन्मता है। इसलिये जीवन के साधारण क्रम में यह बात सच है कि आदमी चौथी अवस्था में संन्यास को उपलब्ध हो, लेकिन जो लोग पिछले जन्म से संन्यास का गहरा अनुभव लेकर आये हों, या जीवन के रस से पूरी तरह डिस-इल्यूजन्ड (स्वप्न-भंजित) होकर आये हों, उनके लिये कोई भी कारण नहीं है। लेकिन वे सदा अपवाद होंगे।

इसलिये बुद्ध और महावीर ने अपवाद के लिये मार्ग खोजा। कभी-कभी नियम भी बन्धन बन जाते हैं, उसके लिये हमें अपवाद छोड़ना पड़ता है। आइंस्टीन को अगर हम गणित उसी ढंग से सिखायें, जिस ढंग से हम सबको सिखाते हैं, तो हम आइंस्टीन की

शक्ति को जाया करेंगे। अगर हम मोझार्ट को उसी तरह गीत सिखायें, जिस तरह हम सबको सिखाते हैं, तो हम उसकी शक्ति को बहुत जाया करेंगे। मोझार्ट ने सात साल की उम्र में संगीत में वह स्थिति पा ली, जो कोई भी आदमी अभ्यास करके सत्तर साल में नहीं पा सकता। मोझार्ट के लिये हमें अपवाद बनाना पड़ेगा। बीथोवन ने सात साल में संगीत में वह स्थिति पा ली जो कि संगीतज्ञ सत्तर साल की उम्र में भी नहीं पा सकते—अभ्यास करके; तो बीथोवन के लिये हमें अलग नियम बनाने पड़ेंगे। इनके लिये हमें नियम वही नहीं देने पड़ेंगे।

इसलिये हर नियम के अपवाद तो होते ही हैं और अपवाद से नियम टूटता नहीं, सिर्फ सिद्ध होता है। 'एक्सेप्शन प्रूव्ज द रुल'—वह जो अपवाद है, वह सिद्ध करता है कि नियम भी सत्य है और अपवाद भी। इसलिये शेष सब के लिये नियम अनुकूल है। तो ऐसा नहीं है कि भारत में बचपन से संन्यास लेने वाले लोग नहीं थे, लेकिन वे अपवाद थे।

पर आज तो अपवाद को नियम बनाना पड़ेगा। क्यों बनाना पड़ेगा? वह इसलिये बनाना पड़ेगा, क्योंकि आज तो चीजें इतनी रुग्ण और अस्तव्यस्त हो गई हैं कि अगर हम प्रतीक्षा करें कि लोग वृद्धावस्था में संन्यस्थ हो जायेंगे तो हमारी प्रतीक्षा व्यर्थ होने वाली है। उसके कई कारण हैं। वृद्धावस्था में संन्यास तभी फलित हो सकता है, जब तीन आश्रम पहले गुजरे हों, अन्यथा फलित नहीं हो सकता। आप कहें कि वृक्ष में फूल आयेंगे बसंत में, लेकिन बसंत में फूल तभी आ सकते हैं जब बीज बोये गये हों, जब खाद डाली गयी हो, जब वर्षा में पानी भी पड़ा हो और गर्मी में धूप भी मिली हो। न गर्मी में धूप आई, न वर्षा में पानी गिरा, न बीज बोये गये, न माली ने खाद दिया और बसंत में फूल की प्रतीक्षा कर रहे हैं?

चौथे आश्रम में संन्यास फलित होता था, यदि तीन आश्रम नियम-बद्ध रूप से पहले गुजरे हों, अन्यथा फलित नहीं होता। ब्रह्मचर्य बीता हो पच्चीस वर्ष का, गृहस्थ बीता हो पच्चीस वर्ष का, वानप्रस्थ बीता हो पच्चीस वर्ष का, तब अनिवार्य रूपेण गणित के हल की तरह चौथे आश्रम का चरण उठता था। आज तो कठिनाई है। तीन चरण का कोई उपाय नहीं रहा। अब दो ही उपाय हैं: एक तो उपाय यह है कि हम संन्यास के सुंदरतम फूल को—जिससे सुंदर फूल जीवन में नहीं खिलता हो—मुरझा जाने दें, उसे खिलने ही न दें और या हम फिर हिम्मत करें और जहाँ भी संभव हो सके, जिस स्थिति में भी संभव हो सके, संन्यास के फूल को खिलाने की कोशिश करें। इसका यह मतलब नहीं है कि सारे लोग संन्यासी हो सकते हैं। असल में जिसके भी मन में आकांक्षा पैदा होती है संन्यास की, उसका प्राण इसकी सूचना दे रहा है कि उसके पिछले जन्म में कुछ अर्जित है, जो संन्यास बन सकता है।

फिर मैं यह कहता हूँ कि बुरे काम को करके सफल हो जाना भी बुरा है; अच्छे काम

को करके असफल हो जाना भी बुरा नहीं है। एक आदमी चोरी करके सफल भी हो जाय तो भी बुरा है; एक आदमी संन्यासी होकर असफल भी हो जाय तो बुरा नहीं है। अच्छे की तरफ आकांक्षा और प्रयास भी बहुत बड़ी घटना है। और अच्छे के मार्ग पर हार जाना भी जीत है और बुरे मार्ग पर जीत जाना भी हार है। और आज हारेंगे तो कल जीतेंगे। इस जन्म में हारेंगे तो अगले जन्म में जीतेंगे। लेकिन प्रयास, आकांक्षा, अभीप्सा होनी चाहिये।

फिर चौथे चरण में जो संन्यास आता था, उसकी व्याख्या बिलकुल अलग थी और जिसे मैं संन्यास कहता हूँ, उसकी व्याख्या को मजबूरी में अलग करना पड़ा है—मजबूरी में। चौथे चरण में जो संन्यास आता था, वह पूरे जीवन से ऐसे अलग हो जाता था, जैसे पका हुआ फल वृक्ष से अलग हो जाता है, जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से गिर जाता है। न वृक्ष को खबर मिलती है, न सूखे पत्ते को पता चलता कि कब अलग हो गये। वह बहुत नेचरल रिनन्सिएशन (सहज वैराग्य) था। उसका कारण है।

अभी भी पचहत्तर साल का बूढ़ा घर से टूट जाता है। लेकिन बूढ़ा टूटना नहीं चाहता है अभी भी। पचहत्तर साल का बूढ़ा घर में बोझ हो जाता है। कोई कहता नहीं, सब अनुभव करते हैं। बेटे की आँख से पता चलता है, बहू की आँख से पता चलता है, घर के बच्चों से पता चलता है कि अब इस बूढ़े को विदा होना चाहिये। कोई कहता नहीं; शिष्टाचार कहने नहीं देता; लेकिन अशिष्ट आचरण सब कुछ प्रगट कर देता है। बूढ़ा टूट ही जाता है; लेकिन बूढ़ा भी हटने को राजी नहीं। वह भी पैर जमाये रहता है। और जितना हटाने के आँखों के इशारे दिखाई पड़ते हैं, वह उतने जोर से जमने की कोशिश करता है। बहुत बेहूदा है, 'ऐबसर्ड' है। असल में वक्त है हर चीज का—जब जुड़ा होना चाहिये—जब टूट जाना चाहिये। वक्त है, जब स्वागत है और वक्त है, जब अलविदा भी है। समय का जिसे बोध नहीं होता, वह आदमी नासमझ है।

पचहत्तर साल की उम्र ठीक वक्त है, क्योंकि तीसरी पीढ़ी, चौथी पीढ़ी जीने को तैयार हो गई और जब चौथी पीढ़ी जीने को तैयार हो गई तो आप कट गये जीवन की धारा से। अब जो नये बच्चे घर में आ रहे हैं, उनसे आपका कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। आप उनके लिये करीब-करीब प्रेत हो चुके हैं; अब आपका होना सिर्फ बाधा है। आपकी मौजूदगी सिर्फ जगह घेरती है। आपकी बातें सिर्फ कठिन मालूम पड़ती हैं। आपका होना ही बोझ हो गया है। उचित है कि हट जायँ; वैज्ञानिक है कि हट जायँ। लेकिन नहीं, आप कहाँ हट कर जायँ? खयाल ही भूल गया है। खयाल इसलिये भूल गया है कि तीन चरण पूरे नहीं हुए; अन्यथा बच्चे हटाते, उसके पहले आप हट जाते।

जो पिता बच्चों के हटाने के पहले हट जाता है, वह कभी अपना आदर नहीं खोता।

जो मेहमान विदा करने के पहले विदा हो जाता है, वह सदा स्वागत-पूर्ण विदा पाता है। जो मेहमान डटा ही रहता है—जब तक कि घर के लोग पुलिस को न बुला लायें, तब तक हटेंगे नहीं—तो अशोभन हो जाता है। इससे घर के लोगों को भी तकलीफ होती है, अतिथि को भी तकलीफ होती है और अतिथि का भाव भी नष्ट होता है। ठीक समझदार आदमी वह है कि जब लोग रोक रहे थे, तभी विदा हो जाय। जब घर के लोग रोते हों तभी विदा हो जाय; जब घर के लोग कहते हों : 'रुकें, अभी मत जायँ', तभी विदा हो जाय। यही ठीक क्षण है। वह अपने पीछे सब के मन में एक मधुर स्मृति छोड़ जाय। वह मधुर स्मृति घर के लोगों के लिये ज्यादा प्रीतिकर होगी, बजाय आपकी कठिन मौजूदगी के। लेकिन वह चौथा चरण था।

तीन चरण जिसने पूरे किये हों और जिसने ब्रह्मचर्य का आनन्द लिया हो और जिसने काम का सुख भोगा हो और जिसने वानप्रस्थ होने की, वन की तरफ मुख रखने की अभीप्सा और प्रार्थना में क्षण बिताये हों, वह चौथे चरण में अपने आप चुपचाप विदा हो जाता है।

नीत्से ने कहीं लिखा है : 'राइपननेस इज ऑल—पक जाना सब कुछ है।' लेकिन अब तो कोई नहीं पकता। पका हुआ आदमी भी लोगों को धोखा देना चाहता है कि मैं अभी कच्चा हूँ।

मैंने सुना है कि एक स्कूल में शिक्षक बच्चों से पूछ रहा था कि 'एक व्यक्ति सन उन्नीस सौ में पैदा हुआ तो उन्नीस सौ पचास में उसकी उम्र कितनी होगी?' तो एक बच्चे ने खड़े होकर पूछा कि 'वह स्त्री है कि पुरुष? क्योंकि अगर पुरुष होगा, तो पचास साल का हो गया होगा। अगर स्त्री होगी तो कहना मुश्किल है, कितनी साल की हुई हो। तीस की भी हो सकती है, चालीस की भी हो सकती है। पचीस की भी हो सकती है।' लेकिन जो स्त्री पर लागू होता था, अब वह पुरुष पर भी लागू है। इसमें कोई फर्क नहीं है।

पका हुआ भी कच्चे होने का धोखा देना चाहता है। बूढ़ा आदमी भी नई जवान लड़कियों से राग-रंग रचाना चाहता है। इसलिये नहीं कि नई लड़की बहुत प्रीतिकर लगती है, बल्कि इसलिये कि वह अपने को धोखा देना चाहता है कि मैं अभी लड़का ही हूँ।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बूढ़े लोग कम उम्र की स्त्रियों में इसलिये उत्सुक होते हैं कि वे भुलाना चाहते हैं कि हम बूढ़े हैं। और कम उम्र की स्त्रियाँ उनमें उत्सुक हो जायँ तो वे भूल जाते हैं कि वे बूढ़े हैं। अगर बर्ट्रेंड रसेल अस्सी वर्ष की उम्र में बीस साल की लड़की से शादी करता है, तो इसका असली कारण यह नहीं कि बीस साल की लड़की बहुत आकर्षक है। अस्सी साल के बूढ़े को आकर्षक नहीं रह जानी चाहिये—और साधारण बूढ़े को नहीं, बर्ट्रेंड रसेल की हैसियत के बूढ़े को। हमारे मुल्क में अगर दो हजार साल पहले बर्ट्रेन्ड रसेल पैदा हुआ होता तो अस्सी साल की उम्र में वह महर्षि

हो जाता, लेकिन इंग्लैंड में वह अस्सी साल की उम्र में बीस साल की लड़की से शादी रचाने का उपाय करता है। वह धोखा दे रहा है। अभी भी मानने का मन होता है कि मैं बीस ही साल का हूँ। और अगर बीस साल की लड़की उत्सुक हो जाये तो धोखा पूरा हो जाता है—सेल्फडिसेप्शन पूरा हो जाता है।

इस मनोदशा में संन्यास की नई ही धारणा का मेरा खयाल है। अभी हमें संन्यास के लिये चौथे चरण की प्रतीक्षा करनी कठिन है। आना चाहिये वह वक्त, जब हम प्रतीक्षा कर सकें। लेकिन वह तभी होगा, जब आश्रम की व्यवस्था पृथ्वी पर लौटे। उसे लौटाने के लिये श्रम में लगना जरूरी है। लेकिन जब तक यह नहीं होता, तब तक हमें संन्यास की एक नई धारणा पर, कहना चाहिये 'ट्रान्जीटरी कन्सेप्शन' पर, एक संक्रमण की धारणा पर काम करना पड़ेगा। और वह यह कि जो जहाँ है, वृक्ष से टूटने की कोशिश न करे, क्योंकि पका फल ही टूटता है। लेकिन कच्चा फल भी वृक्ष पर रहकर अनासक्त हो सकता है। जब पका फल बच्चे होने का धोखा दे सकता है तो कच्चा फल पका होने का अनुभव क्यों नहीं कर सकता? इसलिये जो जहाँ है, वहीं संन्यासी हो जाय।

मेरे संन्यास की धारणा जीवन छोड़कर भागने वाली नहीं है। मेरे संन्यास की धारणा वानप्रस्थ के करीब है। और मैं मानता हूँ कि वानप्रस्थी ही नहीं है तो संन्यासी कहाँ से पैदा होंगे! तो मैं जिसको अभी संन्यासी कह रहा हूँ वह, ठीक से समझें, तो वानप्रस्थी ही है। वानप्रस्थी का मतलब है—वह घर में है, लेकिन रुख उसका मंदिर की तरफ है। वह दुकान पर है, लेकिन ध्यान उसका मंदिर की तरफ है। वह काम में लगा है, लेकिन ध्यान किसी दिन काम से मुक्त हो जाने की तरफ है। राग में है, रंग में है, फिर भी साक्षी की तरफ उसका ध्यान दौड़ रहा है। उसकी सुरति परमात्मा के स्मरण में लगी है। इसके स्मरण का नाम ही अभी मैं संन्यास कहता हूँ।

यह संन्यास की बड़ी प्राथमिक धारणा है। लेकिन मैं मानता हूँ कि जैसी आज समाज की स्थिति है, उसमें यह प्राथमिक संन्यास ही फलित हो जाय, तो हम अंतिम संन्यास की भी आशा कर सकते हैं। बीज हो तो वृक्ष की आशा कर सकते हैं। इसलिये जो जहाँ है, उसे मैं वहीं संन्यासी होने को कहता हूँ। घर में, दुकान पर, बाजार में—जो जहाँ है, उसे वहीं संन्यासी होने को कहता हूँ—सब करते हुए। लेकिन सब करते हुए भी संन्यासी होने की जो धारणा है, संकल्प है, वह सबसे तोड़ देगा और साक्षी पैदा होने लगेगा। आज नहीं कल यह वानप्रस्थ जीवन संन्यस्थ जीवन में रूपांतरित हो जाय, ऐसी आकाँक्षा और आशा की जा सकती है।

सातवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, बंबई रात्रि, दिनांक २ जनवरी, १९७१

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

इसलिये हे भारत, कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान (भी) लोकशिक्षा को चाहता हुआ कर्म करे।

जीवन : एक अभिनय

'कर्म में आसक्त अज्ञानीजन जैसा कर्म करते हैं, ठीक वैसा ही अनासक्त व्यक्ति भी कर्म करे।' कर्म में जो आसक्त है, वह तो कर्म करता ही है, लेकिन करता है आसक्ति के कारण। इसलिये हमें कठिन होती है यह बात समझना कि अनासक्त होकर कर्म करेंगे ! फिर कारण क्या होगा ? अभी तो धन इकट्ठा करना है। आनन्द मालूम होता है धन में, इसलिये धन इकट्ठा करते हैं। अभी तो बड़ा मकान अहंकार को तृप्ति देता है, इसलिये बड़ा मकान बनाते हैं। अभी तो दौड़ते हैं, घूमते हैं, विक्षिप्त होकर श्रम करते हैं। आसक्ति है भीतर। लेकिन अनासक्त हो जायेंगे, आसक्ति नहीं होगी तो फिर कैसे दौड़ेंगे ? फिर कैसे भागेंगे ? फिर कैसे श्रम करेंगे ?

कृष्ण यहाँ दो बातें कहते हैं। एक तो वे यह कहते हैं कि ठीक वैसा ही कर्म करें, जैसा आसक्त व्यक्ति कर्म करता है। अंतर कर्म में न करें, अंतर आसक्ति में करें। क्या होगा इससे ? इससे जीवन एक अभिनय हो जायेगा। एक अभिनेता भी तो कर्म करता है। राम की सीता खो जाती है। राम जंगल में चिल्लाते हैं, रोते हैं, पुकारते हैं—'सीता; सीता कहाँ है ?' वृक्ष को पकड़कर सिर पीटते हैं कि सीता कहाँ है ? फिर रामलीला में बना हुआ राम भी, सीता खो जाती है तो, चिल्लाता है। राम से जरा ज्यादा आवाज में चिल्लाता है ! क्योंकि राम के लिये वहाँ कोई 'आडियन्स' नहीं थी, कोई देखने वाला, सुननेवाला नहीं था। धीमे चिल्लाये होंगे तो भी पता चला होगा ; जोर से चिल्लाये होंगे तो भी पता चला होगा। लेकिन, अभिनेता जोर से चिल्लाता है। राम एक-दो बार कहे होंगे तो भी चल गया होगा। अभिनेता को बहुत बार चिल्लाना पड़ता है। पूरी प्रक्रिया करनी पड़ती है। अगर एक कोने में राम और एक कोने में अभिनेता खड़ा किया जाय तो शायद अभिनेता ही प्रतियोगिता में जीते ! उसके भी कारण हैं, क्योंकि राम को तो एक ही दफे—बिना रिहर्सल के—ऐसा मौका आया। अभिनेता के लिये

रिहर्सल के काफी मौके हैं। फिर अभिनेता वर्षों से कर रहा है राम का पाठ अदा। लेकिन अभिनेता और राम में वही फर्क है, जो कृष्ण कह रहे। अभिनेता कर्म तो पूरा कर रहा है, लेकिन आसक्ति कोई भी नहीं है। कर्म हो सकता है बिना आसक्ति के—उसे अभिनय से समझें। इसलिये हम कृष्ण के जीवन को लीला कहते हैं और राम के जीवन को चरित्र कहते हैं।

राम का जीवन लीला नहीं है। राम बहुत गंभीर हैं, बहुत सीरियस हैं। एक-एक चीज तौलते हैं, नापते हैं। खेल नहीं है जिंदगी; जिंदगी एक काम है। वहाँ रत्ती-रत्ती हिसाब है। कृष्ण की जिंदगी एक अभिनय है, वहाँ कुछ हिसाब नहीं है। वहाँ खेल है। वहाँ जो वे कर रहे हैं, उसे कर रहे हैं पूरी तरह और फिर भी भीतर जैसे दूर, अलग वे खड़े हुए हैं। इसलिये कृष्ण के जीवन को हम कहते हैं—लीला—चरित्र नहीं। चरित्र में बड़ा गंभीर होना पड़ता है। चरित्र में हम जो कर रहे हैं, उससे संयुक्त होना पड़ता है। लीला में हम जो कर रहे हैं, उससे वियुक्त होना पड़ता है। कृष्ण अगर रोयें भी तो भरोसा मत करना। और कृष्ण प्रेम भी करें तो भी भरोसा मत करना। और कृष्ण सुदर्शन लेकर लड़ने भी खड़े हो जायँ तो भी भरोसा मत करना। क्योंकि यह आदमी सब कृत्यों के बाहर ही खड़ा है। इसके लिये पूरी पृथ्वी एक नाटक के मंच से ज्यादा नहीं है।

वही वे अर्जुन से कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि 'कर्म तो तू कर—ठीक वैसे ही पूरी कुशलता से, जैसा अज्ञानी-जन आसक्त होकर कर्म करते हैं। लेकिन हो अनासक्त। अर्थात् तू अभिनय कर। तू यह मत सोच कि तू युद्ध कर रहा है। तू यही सोच कि अभिनय चल रहा है। तू यह मत सोच कि तू लोगों को मार रहा है और लोग मर रहे हैं। तू यही सोच कि तू अभिनय कर रहा है।' लेकिन हम अभिनय में भी कभी-कभी इतने उलझ जाते हैं—अभिनय में भी!—कि वह भी कर्म मालूम पड़ने लगता है।

मैंने सुना है कि एक बार रामलीला में ऐसा हो गया। जो रावण बना था और जो स्त्री सीता बनी थी, वे दोनों एक दूसरे के प्रेमी थे—मंच के बाहर। इसका पता नहीं था मंडली को और यह भी पता नहीं था कि उपद्रव हो जायेगा। उपद्रव हो गया। क्योंकि जब स्वयंबर रचा और लोग चिल्लाने लगे, 'रावण, तू लंका जा, लंका में आग लगी है', तो रावण ने कहा—'आज नहीं जाऊँगा।' बड़ी मुश्किल खड़ी हो गयी। रावण उठा और उसने उठाया धनुष-बाण और तोड़ कर रख दिया। उसने कहा जनक से—'निकाल सीता कहाँ है?' तो जनक थोड़ा समझदार आदमी था: उसने अपने नौकरों से कहा, 'भृत्य, यह तो मेरे बच्चे के खेलने का धनुष-बाण उठा लाये, शिवजी का धनुष कहाँ है?' परदा गिराया गया, रावण को निकाल बाहर किया गया! दूसरे आदमी को रावण बनाया गया। तब पीछे पता चला कि वे प्रेमी थे। ऐसे तो शादी नहीं हो

सकती थी, उसने सोचा कि यहीं हो जाय! भूल गया कि मैं रावण का पार्ट करने आया हूँ। अभिनय में भी ऐसा हो जाता है। इससे उलटा भी हो सकता है। जीवन में भी अभिनय हो सकता है।

'अज्ञानी-जन आसक्त होकर, मोह ग्रस्त होकर, जैसे कर्म में डूबे हुए दिखायी पड़ते हैं'—कृष्ण कहते हैं कि—'हे अर्जुन, तू भी उसी तरह डूब।' फर्क डूबने में मत कर—फर्क डूबनेवाले में कर। फर्क कर्म में मत कर, फर्क कर्ता में कर। फर्क बाहर मत कर, फर्क भीतर कर। कृष्ण का सारा जोर इस बात पर है कि वह जो इनर-रियालिटी है, वह जो भीतर का सत्य है, उसको हम रूपांतरित कर डालें, उसको बदल डालें। वहाँ बस हम अभिनेता हो जायँ। लेकिन अर्जुन तो पूछेगा न, कि अभिनेता भी क्यों हो जाऊँ? क्योंकि अभिनेता अभी अर्जुन हो नहीं गया है। इसलिये बेचारे कृष्ण को मजबूरी में एक कारण बताना पड़ता है। और वह कारण यह है कि लोकमंगल के लिये कर्म कर।

वस्तुतः इस कारण की कोई भी जरूरत नहीं है। और कृष्ण अगर कृष्ण की हैसियत से बात करते होते, दूसरा आदमी भी कृष्ण की हैसियत का आदमी होता, तो यह शर्त नहीं जोड़ी गयी होती। क्योंकि अनासक्त व्यक्ति का कर्म अनकन्डीशनल (बे-शर्त) है। जब सारा लोक ही लीला है, तो लोक-मंगल की बात भी बेमानी है। लेकिन कृष्ण को जोड़नी पड़ती है यह शर्त। जिससे वे बात कर रहे हैं, वह पूछेगा, 'फिर भी कोई कारण तो हो? अभिनय भी बेकार क्यों करें? जहाँ कोई देखने ही न आया हो, वहाँ अभिनय क्या करें?'—तो कृष्ण कहते हैं, 'दर्शकों के आनन्द के लिये तू अभिनय कर।'

यह जो दूसरी बात वे कह रहे हैं—'लोक-मंगल के लिये'—इस बात को कृष्ण बहुत मजबूरी में कह रहे हैं। यह मजबूरी अर्जुन की समझ के कारण पैदा हुई है। अर्जुन समझ ही नहीं सकता कि बिना करण भी कोई कर्म हो सकता है—अकारण (अन-काज्ड), अनकन्डीशनल (बे-शर्त)। जहाँ कोई वजह नहीं है, तो वहाँ क्यों काम करें?—हम भी पूछेंगे कि यह तो बिलकुल पागल का काम हो जायेगा। जब कोई भी कारण नहीं है तो काम करें ही क्यों? हमारा वही आसक्त मन पूछ रहा है। आसक्त मन कहता है: 'कारण हो तो काम करो। कारण न हो, तो मत करो।' यह हमारे आसक्त मन की शर्त है। यह हमारा आसक्त मन कहता है: 'लोभ हो तो काम करो; लोभ न हो तो विश्राम करो।' यह आसक्त मन का तर्क है।

अर्जुन तो आसक्त है। अभी वह अनासक्त हुआ नहीं। कृष्ण को उसको ध्यान में रखकर एक बात और कहनी पड़ती है अन्यथा इतना कहना काफी है कि जैसे अज्ञानी आसक्तजन कर्म करते हैं, ऐसा ही तू अनासक्त होकर कर। अभिनेता हो जा।' लेकिन इतना अर्जुन के लिये काफी नहीं होगा। अर्जुन के लिये थोड़ा-सा कारण चाहिये। इसलिये कृष्ण कहते हैं, 'दूसरों के हित के लिये...। दूसरों के हित के लिये तू कर....।'

क्यों ? इतना झूठ भी क्यों ? है वह झूठ । ऐसा नहीं है कि दूसरों का हित नहीं होगा । ध्यान रखें, दूसरों का हित होगा—उस अर्थ में झूठ नहीं है । झूठ इस अर्थ में, कि अनासक्त कर्म के लिये इतनी शर्त भी उचित नहीं है ।

इसलिये मैं आप से कहना चाहूँगा कि कृष्ण, बुद्ध और महावीर के सभी वचन पूर्ण सत्य नहीं हैं; उनमें थोड़ा असत्य आता है । उनके कारण हैं, वे व्यक्ति, जिनसे वे बोले गये । क्योंकि पूर्ण सत्य अर्जुन नहीं समझ सकता । पूर्ण सत्य बुद्ध के सुनने वाले नहीं समझ सकते । पूर्ण सत्य बोलना हो तो असत्य मिश्रित करना होता है और अगर पूर्ण सत्य ही बोलना हो और असत्य मिश्रित न करना हो तो चुप रह जाना पड़ता है, बोलना नहीं पड़ता । इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है ।

इस दूसरे हिस्से में अर्जुन को कारण बताया जा रहा है । यह कारण वैसे ही है जैसे हम मछलियों को पकड़ने के लिये आटे के भीतर काँटा लगाकर डाल देते हैं । मछली केवल काँटा नहीं पकड़ेगी—भाग खड़ी होगी । अर्जुन भी शुद्ध अनासक्त कर्म नहीं पकड़ सकता । वह कहेगा : 'फिर करें ही क्यों ? .... यही तो मैं कह रहा हूँ माधव !... यही तो मैं कह रहा हूँ कृष्ण ! जब अनासक्ति ही साधनी है तो मैं जाता हूँ । कर्म क्यों करूँ ? यही तो मैं कह रहा हूँ ! आप भी ही कह रहे हैं, तो मुझे जाने दें । इस युद्ध से मुझे बचायें, इस भयंकर कर्म में मुझे न जोड़ें ।'

कृष्ण को उस काँटे पर थोड़ा आटा भी लगाना पड़ता है । वह आटा है—लोक-मंगल का । तो शायद अर्जुन लोक-मंगल के लिये कर्म करे । लेकिन अगर अर्जुन की जगह कोई ब्राह्मण होता, तब लोक-मंगल का आटा काम नहीं करता । क्षत्रिय पर तो काम कर सकता है । अगर बुद्ध से कृष्ण ने कहा होता कि लोक-मंगल के लिये रुके रहें राज-महल में, तो वे कहते कि 'इसमें कोई लोक-मंगल नहीं है । जब तक आत्मा का मंगल नहीं हुआ है, तब तक लोक-मंगल हो कैसे सकता है ?' बुद्ध स्पष्ट कह देते कि 'बंद करो गीता, हम जाते हैं !' ... वह आदमी ब्राह्मण है । उस आदमी पर कृष्ण की गीता काम न करती—उस तरह से, जिस तरह से अर्जुन पर काम कर सकती है । असल में कृष्ण ने फिर यह गीता कही न होती ।

यह गीता 'एड्रेस्ड' है । यह अर्जुन के क्षत्रिय व्यक्तित्व के लिये है । इस पर पता लिखा है । इसलिये वे कहते हैं : 'लोक-मंगल के लिये ।' क्योंकि क्षत्रिय के मन में 'लोग क्या कहते हैं', इसका बड़ा प्रभाव है । शक्ति के आकांक्षी के मन में 'लोग क्या कहते हैं', इसका बड़ा प्रभाव है । क्षत्रिय अपने पर पीछे, लोगों की आँखों में पहले देखता है । लोगों की आँखों में देखकर ही वह अपनी चमक पहचानता है । इसलिये कृष्ण बार-बार अर्जुन को कहते हैं—'लोक-मंगल के लिये कर्म कर ।' ऐसा नहीं है कि लोक-मंगल नहीं होगा । लोक-मंगल होगा । लेकिन वह गौण है, वह हो जायेगा; वह बाइ-

प्रोडक्ट है । लेकिन कृष्ण को जोर देना पड़ता है, लोक-मंगल के लिये, क्योंकि वे जानते हैं कि सामने जो बैठा है, वह शायद लोगों के मंगल के लिये ही रुक जाय । शायद लोगों की आँखों में उसके लिये जो भाव बनेगा, उसके लिये रुक जाय । क्षत्रिय है । और यदि अर्जुन रुक जाय तो कृष्ण धीरे-धीरे उसे अनासक्ति पर ले जायेंगे, जहाँ आटा निकल जाता है और काँटा ही रह जाता है । एक-एक कदम, एक-एक कदम बढ़ना होगा और कृष्ण एक-एक कदम ही बढ़ रहे हैं ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

तथा ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि कर्मों में आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्मा के स्वरूप में स्थित हुआ और सब कर्मों को अच्छी प्रकार करता हुआ उनसे भी वैसा ही करावे ।

यह सूत्र बहुमूल्य है । बहुत-सी दिशाओं से इसे समझना हितकर है । ज्ञानीजन को चाहिये कि अज्ञानियों के मन में कर्म के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न न करें । ज्ञानीजन को चाहिये कि अज्ञानीजनों के जीवन में उत्पात न हो जाय, इसका ध्यान रखें । ज्ञानी की स्थिति वस्तुतः बहुत नाजुक है—नाजुक उसी तरह, जैसे किसी पागलखाने में उस आदमी की होती है, जो पागल नहीं है । पागलखाने में पागल इतनी नाजुक स्थिति में नहीं होते, जितनी नाजुक स्थिति में वह आदमी होता है, जो पागल नहीं होता है ।

मैं अपने एक मित्र को जानता हूँ, जो पागल हो गये थे । घर से भाग गये । चोरी और न मालूम क्या-क्या—पागलपन में किया । अपना नाम-पता भी भूल गये । फिर किसी अदालत ने उसे डेढ़ साल की सजा दे दी और लाहौर के पागलखाने में बंद करवा दिया । छः महीने तक तो वे पूरे पागल थे । किसी दिन भूल-चूक से पागलखाने अधिकारियों का फिनाइल का पूरा डब्बा उन्हें मिल गया । वे उसे पी गये । फिनाइल पी जाने से कुछ हुआ । कभी ऐसा हो जाता है । उनको इतने दस्त हुए कि उनका पागलपन दस्त में निकल गया । पाँच-सात दिन के बाद वे बिलकुल स्वस्थ हो गये । पागल न रहे । तो वे मुझे कहते थे कि मुझको साल भर फिर गैर-पागल अवस्था में पागलों के बीच बिताने पड़े और वह जो कष्ट मैंने देखा जिंदगी में, उसका कोई हिसाब नहीं । जब तक पागल था, मुझे कष्ट का कोई पता ही नहीं था, क्योंकि जो दूसरे कर रहे थे, वही मैं भी कर रहा था । सब लॉजिकल (तर्क-संगत) मालूम होता था । सब ठीक मालूम होता था । अगर कोई मेरा सिर हिला देता था, कोई पैर खींच लेता था तो कुछ गड़बड़ नहीं मालूम होती, सब ठीक मालूम होता । जब मैं ठीक हो गया, तब उपद्रव शुरू हुआ; क्योंकि अब मैं दूसरों के पैर नहीं खींच सकता, लेकिन दूसरे मेरे पैर खींच ही चले जा रहे हैं । और जितना ही मैं अधिकारियों से कहता कि मैं बिलकुल ठीक हूँ, तो वे कहते : 'यह तो सभी

पागल कहते हैं।' अगर न कहूँ कि मैं बिलकुल ठीक हूँ, तो कोई सुनने वाला नहीं है; और अगर कहूँ तो भी सुनने वाला नहीं। क्योंकि वे कहते कि सभी पागल ऐसा ही कहते हैं। कौन पागल है, जो मानता है कि वह पागल है! एक साल पागलखाने में गैरपागल को बितानी पड़ी।

ज्ञानी की हालत क़रीब-करीब अज्ञानियों के बीच ऐसी ही डेलिकेट, ऐसी ही नाजुक हो जाती है। अगर ज्ञानी अपने ज्ञान के अनुसार आचरण करे तो अनेक अज्ञानियों के लिये भटकने का कारण बन सकता है। अगर ज्ञानी अपने शुद्ध आचरण में जिये तो अनेक अज्ञानियों के लिए वह और गहन अंधकार, और गहन नर्क में गिरने का कारण बन सकता है। अगर ज्ञानी अपने शुद्ध ज्ञान की बात भी कहे तो अनेक अज्ञानियों के जीवन को अस्त-व्यस्त कर देगा।

ज्ञानी कैसा आचरण करे; क्या कहे, क्या न कहे; कैसे उठे, कैसे बैठे; क्या बोले, क्या न बोले—यह बड़ा नाजुक मामला है और कई बार जब ज्ञानी इतना स्मरण नहीं रखता, तो नुकसान पहुँचता है। बहुत बार पहुँचा है। क्योंकि ज्ञानी जहाँ से बोलता है, वहाँ से वह अज्ञानी के चित्त में प्रकाश का द्वार खोले, यह जरूरी नहीं है। जरूरी नहीं है कि उसकी वाणी, उसका आचरण स्वर्ग का द्वार बन जाय। अज्ञानी के जीवन में इससे यह भी हो सकता है कि अज्ञानी का जो टिमटिमाता दीया था, जिसकी रोशनी में वह किसी तरह से टटोल कर जी लेता था, वह भी बुझ जाय।

इतना तो निश्चित है कि जिसने सूर्य को देखा, वह कहेगा, 'बुझा दो दीयों को, इनसे क्या होने वाला है।' इतना तो निश्चित है कि जिसने अनासक्त कर्म को अनुभव किया, वह कहेगा, 'पागलपन कर रहे हो तुम।' लेकिन पागलपन कह देने से कुछ पागलपन नहीं होता और पागल एक चीज को छोड़ कर दूसरे को पकड़ ले तो भी कुछ फर्क नहीं पड़ता; अंतर जरा-भी नहीं आता। वह आदमी वहीं का वहीं रह जाता है। सिर्फ रुख, सिर्फ आकार बदल जाते हैं।

इसलिये कृष्ण यहाँ एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र कह रहे हैं। शायद इस सदी के लिये और भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस सदी का सारा उपद्रव ज्ञानियों के द्वारा कम और ज्ञानियों के कारण ज्यादा है। फ्रायड ने कुछ सत्य उपलब्ध किये, ये सत्य नये नहीं हैं। यह सत्य पतंजलि को भी पता है; यह सत्य मौलिक नहीं है। यह सत्य गौतम बुद्ध को भी पता है; यह सत्य कोई बहुत नूतन आविष्कार नहीं है। जिन्होंने भी जीवन की गहराई में प्रवेश किया है, उन्हें इनका सदा ही पता रहा है। लेकिन फिर भी ये सत्य इस भाँति कभी नहीं कहे गये थे, जिस भाँति फ्रायड ने कहे। फ्रायड को कृष्ण के इस सूत्र का कोई भी बता नहीं है, इसलिये इन सत्यों से लाभ नहीं हुआ, हानि हुई है। इसलिये इन सत्यों से मंगल नहीं हुआ, अमंगल हुआ है।

कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, वह कृष्ण को भलीभाँति पता था—बुद्ध को भी पता था, महावीर को भी पता था, लाओत्से को भी पता था, क्राइस्ट को भी पता था। लेकिन क्राइस्ट, लाओत्से, बुद्ध, महावीर और कृष्ण ने इस भाँति नहीं कहा, जिस भाँति वे कहते हैं। इसलिये बुद्ध, क्राइस्ट, महावीर से लोगों के जीवन में मंगल फलित हुआ; कृष्णमूर्ति की बातों से मंगल फलित नहीं हुआ है, नहीं हो सकता है। इसलिये नहीं कि जो कहा जा रहा है वह गलत है, बल्कि इसलिये कि वह जिनसे कहा जा रहा है, उनको बिना समझे कहा जा रहा है।

इसलिये चालीस-चालीस वर्ष से लोग कृष्णमूर्ति को बैठकर सुन रहे हैं, उससे कृष्णमूर्ति उनकी समझ में नहीं आये, सिर्फ महावीर, बुद्ध, और कृष्ण उनकी समझ के बाहर हो गये। उससे सूरज उनकी जिंदगी में नहीं उतरा, सिर्फ जो उनके पास छोटे-मोटे दीये थे, वे भी उन्होंने बुझा दिये।

अगर अब उनके श्रोताओं से कोई दीयों की बात करे तो वे सूरज की बात करते हैं। और सूरज उनकी जिंदगी में नहीं है। अगर अब उनसे कोई साधना की बात करे तो वे कहेंगे कि 'साधना से क्या होगा? साधना से कुछ नहीं हो सकता।' और बिना साधना से उनकी जिंदगी में कुछ भी नहीं हुआ है! अब अगर उनसे कोई 'उपाय' की बात करे कि इस उपाय से मन शांत होगा, आनंदित होगा, तो वे कहते हैं कि 'उपाय से कन्डीशनिंग हो जाती है, संस्कार हो जाते हैं। उपाय से कुछ भी नहीं हो सकता। उससे तो कन्डीशनिंग हो जायेगी।' और नॉन-कन्डीशनिंग उनकी हुई नहीं है—सुन सुनकर; सूरज उतर नहीं पाया है!

जिन दीयों से सूरज के अभाव में काम चल सकता था, वे बुझा दिये गये। सूरज निकल आये, फिर तो दीये अपने से ही बुझ जाते हैं, बुझाने नहीं पड़ते, और जलते भी रहते हैं, तो दिखाई नहीं पड़ते। उनका कोई अर्थ नहीं रहता, वे व्यर्थ हो जाते हैं। लेकिन सूरज न निकले तो छोटे-से दीये भी काम करते हैं।

बुद्ध और महावीर में ज्यादा करुणा है, कृष्णमूर्ति के बजाय। कृष्ण और क्राइस्ट में ज्यादा करुणा है, कृष्णमूर्ति के बजाय। करुणा इन अर्थों में, कि वे निपट सत्य को निपट सत्य की तरह नहीं कह दे रहे हैं। आप पर भी उनका ध्यान है—कि जिसको कह रहे हैं, उस पर भी क्या प्रभाव होगा! सवाल यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मैं कह दूँ सत्य को। सवाल यह महत्त्वपूर्ण है कि इससे परिणाम क्या होगा। इससे क्या होगा? उससे जो होगा, वह ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, बजाय मेरे कह देने के। क्योंकि, अंततः मैं कह इसलिये रहा हूँ कि कुछ हो—और वह मंगलदायी हो।

फ्रायड ने, डार्विन ने, कृष्णमूर्ति ने सारे जगत् में जो बातें कही हैं, वे झूठ नहीं है, वे सच हैं। उसकी सच्चाई में रत्ती भर भी फर्क नहीं है। लेकिन उन्हें बुद्धिमानी से नहीं

कहा गया है। वे जानते हैं; जो जानते हैं, वह ठीक जानते हैं। लेकिन जिनसे कहा गया है, उन्हें ठीक से नहीं जानते। आदमी से गलत छुड़ा लेना बहुत आसान है, जरा भी कठिन नहीं है। किसी चीज को भी गलत सिद्ध कर देना बहुत आसान है, जरा भी कठिन नहीं है; लेकिन सही का पदार्पण, सही का आगमन और अवतरण बहुत कठिन है।

कृष्ण यही कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि 'अर्जुन, अनासक्त व्यक्ति को अज्ञानियों पर ध्यान रखकर जीना चाहिये।' ऐसा न हो कि अनासक्त व्यक्ति छोड़ कर भाग जाय तो अज्ञानी भी छोड़ कर भाग जाय। अनासक्त छोड़ कर भागेगा तो उसका कोई भी अहित नहीं है। लेकिन अज्ञानी छोड़ कर भाग जायेगा तो उसका बहुत अहित है, क्योंकि अज्ञान में छोड़ कर वह जहाँ भागेगा, वहाँ फिर कर्म घेर लेगा। भागने से कोई अंतर नहीं पड़ने वाला है। दुकान छोड़कर मंदिर में जायेगा अज्ञानी, तो मंदिर में नहीं पहुँचेगा, सिर्फ मंदिर को दुकान बना देगा। कोई फर्क नहीं पड़ेगा। खाते-बही पढ़ते-पढ़ते एकदम से गीता पढ़ेगा तो गीता नहीं पढ़ेगा। गीता में भी खाते-बही पढ़ेगा।

अज्ञानी सत्यों का भी दुरुपयोग कर सकता है, करता है। सत्यों का भी दुरुपयोग हो सकता है और असत्यों का भी सदुपयोग हो सकता है। ज्ञानी छोड़ दे सब---ठीक है। अज्ञानी भी छोड़ना चाहता है, लेकिन छोड़ना चाहने के कारण बिलकुल अलग हैं। ज्ञानी इसलिये छोड़ देता है कि पकड़ना, न पकड़ना बराबर हो गया। चीजें छूट जाती हैं---'दे जस्ट विदर अवे।'

अज्ञानी छोड़ता है; चीजें छूटती नहीं, चेष्टा करके छोड़ देता है। जिस चीज को भी चेष्टा करके छोड़ा जाता है, उसमें पीछे घाव छूट जाता है। जैसे कच्चे पत्ते को कोई वृक्ष से तोड़ लेता है---कच्ची डाल को कोई वृक्ष से तोड़ लेता है---तो पीछे घाव छूट जाता है। पका पत्ता भी टूटता है, लेकिन कोई घाव नहीं छूटता। पके पत्ते को सम्हल कर टूटना चाहिये, ताकि कच्चे पत्ते को कहीं टूटने का खयाल न आ जाय। कच्चे पत्ते टूटने के लिये आतुर हो सकते हैं। पके पत्ते का आनन्द देखेंगे हवाओं में उड़ते हुए और खुद को पायेंगे बंधा हुआ। और पका पत्ता हवाओं की छाती पर सवार होकर आकाश में उड़ने लगेगा और पका पत्ता पूर्व-पश्चिम दौड़ने लगेगा और पके पत्ते की स्वतंत्रता---वृक्ष से टूटकर, मुक्त होकर---कच्चे पत्तों को भी आकर्षित कर सकती है; वे भी टूटना चाह सकते हैं; वे भी कह सकते हैं कि 'हम भी क्यों बंधे रहें इस वृक्ष से! टूटें।' लेकिन तब पीछे वृक्ष में भी घाव छूट जायेगा और बच्चे पत्ते भी घाव छूट जायेगा। और घाव खतरनाक है।

ध्यान रखें: पका पता जब वृक्ष से गिरता है तो सड़ता नहीं है। कच्चा पत्ता जब वृक्ष से गिरता है तो सड़ता है। पका पत्ता सड़ेगा कैसे? सड़ने के बाहर हो गया पक कर। कच्चा पत्ता जब भी टूटेगा तो सड़ेगा---अभी कच्चा ही था; अभी पका कहाँ था?

अभी तो सड़ेगा। और ध्यान रखें, पकना एक बात है---और सड़ना बिलकुल दूसरी बात है।

कच्चा आदमी वैसे ही होता है, जैसे कच्ची लकड़ी को हम ईंधन बना दें, तो आग तो कम जलती है, धुआँ ही ज्यादा निकलता है। सूखी लकड़ी भी ईंधन बनती है, लेकिन वह धुआँ नहीं बनती, तब आग जलती है। जो व्यक्ति जानकर जीवन से छूट जाता है---सहज, वह सूखी लकड़ी की तरह ईंधन बन जाता है, उसमें धुआँ नहीं होता। कच्चे लोग अगर छूट जाते हैं, पक्के लोगों को देखकर, तो आग पैदा नहीं होती, सिर्फ धुआँ ही धुआ पैदा होता है और लोगों की आँखें भर जलती हैं, भोजन नहीं पकता।

कृष्ण कह रहे हैं कि ज्ञानी को तलवार की धार पर चलना होता है। उसे ध्यान रखना होता है---अपने ज्ञान का भी---चारों तरफ घेरे हुए अज्ञानियों का भी। इसलिये ऐसा उसे व्यवहार चाहिये कि वह किसी अज्ञानी के कर्म की श्रद्धा पर चोट न बन जाय; वह उसके कर्म के भाव को आघात न बन जाय; वह उसके जीवन के लिये आशीर्वाद की जगह अभिशाप न बन जाय।

बन गये बहुत दफा ज्ञानी अभिशाप! और अगर ज्ञान के प्रति इतना भय आ गया है तो इसका कारण यही है। बुद्ध को देखकर लाखों लोग घर छोड़ कर चले गये। चँगेज खाँ ने भी लाखों घरों को बरबाद किया। लेकिन चंगेज खाँ को इतिहास दोषी ठहराएगा, बुद्ध को नहीं ठहराएगा। बुद्ध के समय में हजारों स्त्रियाँ रोती-पीटती, तड़पती रह गयीं। हजारों बच्चे अनाथ हो गये, पिता के रहते। हजारों स्त्रियाँ पतियों के रहते विधवा हो गयीं। हजारों घरों के दीये बुझ गये। और इसके दुष्परिणाम घातक हुए और लम्बे हुए। इसका सबसे घातक परिणाम यह हुआ कि संन्यास में एक तरह का भय समाहित हो गया।

मेरे पास लोग आते हैं संन्यास के लिये; लेकिन मेरा संन्यास बिलकुल और है; वह अभिशाप की तरह नहीं, वरदान की तरह है। कोई मेरे पास आकर कहता है, 'मेरी पत्नी खिलाफ है।' पत्नी संन्यास के खिलाफ होगी ही। पत्नी अगर आती है तो कहती है, 'मेरा पति खिलाफ है; वह कहता है, भूल कर संन्यास मत ले लेना।' क्योंकि संन्यास की जो धारणा निर्मित हुई हमारे देश में, वह धारणा कच्चे पत्तों के टूटे होने की धारणा थी। तो डर लगता है कि अगर पति संन्यासी होगा, तो क्या होगा?---सब बरबाद हो जायेगा। पत्नी संन्यासी हो गयी, तो क्या होगा?---सब बरबाद हो जायेगा।

बुद्ध और महावीर के अनजाने ही कच्चे पत्ते टूटे। और कच्चे पत्ते टूटे तो पीछे घाव छूट गये। वे घाव अब तक भी हमारे समाज के मनस में भर नहीं पाये हैं। अभी भी दूसरे का बेटा संन्यासी हो तो हम फूल चढ़ा आते हैं उनके चरणों में; खुद का बेटा संन्यासी होने लगे तो प्राण कंपते हैं। खुद का बेटा चोर हो जाय तो भी चलेगा; संन्यासी

होगा तो नहीं चलेगा। डाकू हो जायेगा तो भी चलेगा। कम से कम घर में तो रहेगा! दो साल सजा भोगेगा वापस घर में आ जायेगा। संन्यासी हो जाय—तो गया; फिर कभी वापस नहीं लौटता। इसलिये इस देश में हमने संन्यास को जितना आदर दिया, उतने ही हम भयभीत भी हैं भीतर; डरे हुए भी हैं; घबड़ाये हुए भी हैं। यह घबड़ाहट उन ज्ञानियों के कारण पैदा हो जाती है, जो अज्ञानियों को बिना ध्यान में लिये वर्तन करते हैं।

तो कृष्ण कहते हैं, 'तू ऐसा वर्तन कर कि तेरे कारण किसी अज्ञानी के सहज जीवन की श्रद्धा में कोई बाधा न पड़ जाय। हाँ, ऐसी कोशिश जरूर कर कि तेरी सुगंध, तेरे अनासक्ति की सुवास, उनके जीवन में भी धीरे-धीरे अनासक्ति की सुवास बने, अनासक्ति की सुगंध बने और वे भी जीवन में रहते हुए अनासक्ति को उपलब्ध हो सकें, तो शुभ है, तो मंगल है, अन्यथा अनेक बार मंगल के नाम पर अमंगल हो जाता है।'

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

(वास्तव में) सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं (तो भी) अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ', ऐसे मान लेता है।

समस्त कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किये हुए हैं। लेकिन अज्ञान से, अहंकार से भरा हुआ पुरुष, मैं कर्ता हूँ, ऐसा मान लेता है। इसमें दो बातें हैं।

सच ही, सब कुछ किया हुआ है प्रकृति का। जिसे आप कहते हैं, 'मैं कर्ता हूँ', वह भी प्रकृति का किया हुआ है। जिसे आप कहते हैं, 'मैं चुनता हूँ', वह भी प्रकृति का चुना हुआ है। आप कहते हैं, 'कोई चेहरा मुझे प्रीतिकर लगता है, चुनता हूँ इस चेहरे को, विवाह करता हूँ।' लेकिन कभी आपने सोचा कि यह चेहरा आपको प्रीतिकर क्यों लगता है? अंधा है चुनाव! क्या कारण हैं इसके प्रीतिकर लगने के? यह आँख, यह नाक, यह चेहरा, प्रीतिकर क्यों लगता है? बस, लगता है। कुछ और कह सकेंगे, क्यों लगता है? शायद कहें, 'आँख काली है।' लेकिन काली आँख क्यों प्रीतिकर लगती है? यह आँख आपकी आँख में प्रीतिकर लगती है। यह आपकी प्रकृति और उस आँख की प्रकृति के बीच हुआ तालमेल है। इसमें आप कहाँ हैं?

आप कहते हैं, 'यह चीज मुझे बड़ी स्वादिष्ट लगती है'। कभी आपने सोचा कि स्वादिष्ट क्यों लगती है आपको? लेकिन बुखार चढ़ जाता है, फिर स्वादिष्ट नहीं लगती। सिर्फ आपकी जीभ पर प्रकृति के रसों का और भोजन के रसों का तालमेल है। आप नाहक बीच में पड़ जाते हैं। आप नाहक हर जगह बीच में खड़े हो जाते हैं।

आप कहते हैं कि मुझे जीने की इच्छा है, लेकिन आपको जीने की इच्छा है कि आप ही जीने की इच्छा के एक अंग हैं? एक आदमी कहता है कि 'मैं आत्महत्या कर रहा हूँ।'

यह आदमी स्वयं आत्महत्या कर रहा है या कि जीवन के सारे गुण उस जगह आ गये हैं कि जहाँ आत्महत्या घटित होती है? यदि हम कर्मों में गहरे उतरकर देखें—और अहंकार में भी—तो अहंकार एक भ्रांति है। जीवन कर रहा है—सब कुछ जीवन कर रहा है। जो आपको सुखद लगता है, वह भी प्रकृति का गुण-धर्म है। जो आपको दुःखद लगता है, वह भी प्रकृति का गुण-धर्म है।

मैं एक राजमहल में मेहमान था। पहली दफा राजमहल में मेहमान हुआ, तो बड़ी मुश्किल में पड़ गया। रात भर सो न सका। ऐसी मुश्किल मुझे कभी नहीं आयी थी। ऐसे सुख का कोई अभ्यास न था। सुख का भी अभ्यास चाहिये अन्यथा वह दुःख बन जाता है। क्योंकि कोई तालमेल (हार्मनि) नही बन पाती। जिनका अतिथि था, उसके पास जो भी श्रेष्ठतम था, उन्होंने उसका मेरे लिये इंतजाम किया था। गद्दी ऐसी थी जिसमें मैं पूरा ही उसमें डूब जाऊँ। करवट लूँ तो मुसीबत; फिर नींद खुल जाय। उसमें नींद लगनी ही मुश्किल। ऊपर मशहरी पर पूरा आइना था। अंदर ही पंखे थे। जरा आँख खुले तो पूरी तस्वीर ऊपर दिखायी पड़े। अकेला होना मुश्किल हो गया। अपनी ही तस्वीर पीछा करे! आधी रात तक लड़ाई की कि किसी तरह जीत जाऊँ इस गद्दी से, लेकिन जीत नहीं हो सकी। फिर नीचे फर्श पर सो गया। और नींद आ गयी। सुबह मित्र आये। मुझे फर्श पर देखा तो दुःखी हुए। और कहा, 'कुछ अड़चन हुई आपको? इन्तजाम ठीक नहीं कर पाये?' मैंने कहा, 'ज्यादा कर दिया! फर्श पर बड़ा सुख मिला। तालमेल पड़ गया। गद्दी आपकी जरा ज्यादा-गद्दी थी; अभ्यास नहीं था, तालमेल नहीं हो सका।'

जिसे हम सुख कहते हैं, वह भी तालमेल है। जिसे हम दुःख कहते हैं, वह भी तालमेल है या तालमेल का अभाव है। लेकिन मैं सुखी होता हूँ, मैं दुःखी होता हूँ—यह भ्रांति है। सिर्फ मेरे भीतर जो प्रकृति है और मेरे बाहर जो प्रकृति है, उसके बीच संबंध निर्मित होते हैं। जन्म भी एक संबंध है, मृत्यु भी एक संबंध है। लेकिन मैं कहता हूँ, मैं जन्मा; मैं कहता हूँ, मैं मरा। और जवानी भी एक संबंध है, मेरे भीतर की प्रकृति और बाहर की प्रकृति के बीच। और बुढ़ापा भी एक संबंध है। लेकिन मैं कहता हूँ : मैं जवान हुआ और मैं बूढ़ा हुआ। हार भी एक संबंध है—मेरी प्रकृति के बीच और बाहर की प्रकृति के बीच! जीत भी एक संबंध है—मेरी प्रकृति के बीच और बाहर की प्रकृति के बीच। लेकिन मैं हारता हूँ, मैं जीतता हूँ—अकारण, व्यर्थ।

कृष्ण कह रहे हैं : ज्ञानी पुरुष इस अहंकार, इस अज्ञान, इस भ्रम से बच जाता है कि मैं कर्ता हूँ, और देखता है कि प्रकृति करती है और जैसे ही खयाल आता है कि प्रकृति करती है, वैसे ही सब सुख-दुःख खो जाते हैं। और जैसे ही खयाल आता है कि प्रकृति गुण-धर्मों का फैलाव सब कुछ है, हम कुछ नहीं हैं, हम उसमें से ही उठी हुई एक लहर से

ज्यादा नहीं हैं, उसके ही अंश हैं—वैसे ही जीवन से आसक्ति-विरक्ति खो जाती है और आदमी अनासक्त, वीतराग ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। अर्जुन से वे कह रहे हैं कि तू लड़ रहा है, ऐसा मत सोच। प्रकृति लड़ रही है।'

कौरवों की एक प्रकृति है, गुण-धर्म है; पांडवों की एक प्रकृति है, एक गुण-धर्म है। उसमें तालमेल नहीं है। इसलिये संघर्ष हो रहा है। जैसे सागर की लहर आती और तट से टकराती है। लेकिन हम ऐसा कभी नहीं कहते कि सागर की लहर तट से लड़ रही है। लेकिन अगर लहर को होश आ जाय और लहर चेतन हो जाय, तो लहर तैयारी करके आयेगी कि लड़ना है तट से। और तट तैयारी रखेगा कि लड़ना है लहर से। अभी इन दोनों को कोई होश नहीं है, इसलिये कोई लड़ाई नहीं। लहर तट से टकराती, बिखरती है और तट भी टूटता रहता है। दोनों के गुण-धर्म चलते रहते हैं। कहीं कोई जीतता नहीं, कहीं कोई हारता नहीं। आदमी आदमी की लहरें जब लड़ती हैं, तो हम लड़ते हैं—प्रकृति को भूल कर।

कृष्ण के हिसाब से धर्म और अधर्म की लड़ाई है। कृष्ण के हिसाब से प्रकृति के बीच ही उठे हुए दो लहरों का संघर्ष है। इसमें अर्जुन नाहक बीच में आ रहा है। हाँ, अर्जुन एक लहर के ऊपर है; इसलिये भ्रम में हो सकता है कि मैं लड़ रहा हूँ। इस भ्रम में हो सकता है कि मैं हारूँगा, मैं जीतूंगा। इस भ्रम में हो सकता है कि मैं मरूँगा, मिटूंगा। वह सिर्फ ऊपर की लहर है, जैसे समुद्र की लहर के ऊपर झाग होती है। झाग भी अकड़ उठे, अगर उसको होश आ जाय। जैसे सम्राटों के सिर पर राजमुकुट होते हैं, ऐसे लहर पर झाग होती है। अर्जुन भी झाग है एक लहर की, वह दुर्योधन भी झाग है एक लहर की। दोनों लहरें टकरायेंगी और प्रकृति निर्णय करती रहेगी कि क्या होना है।

जिस दिन कोई व्यक्ति जीवन को अहंकार से मुक्त करके देख पाता, उसी दिन हार-जीत, सुख-दुःख, सब खो जाते हैं। ज्ञानी तब कर्म करता और कर्ता नहीं बनता। तब सब कुछ होता और फिर भी भीतर से कुछ भी नहीं होता है। तब ज्ञानी जवान होता और जवान नहीं होता—भीतर वही रहता है, जो बचपन में था। और बूढ़ा होता, और बूढ़ा नहीं होता—भीतर वही रहता है, जो जवानी में था। और मरता है फिर भी नहीं मरता—भीतर वही रहता है, जो जीवन में था। तब ज्ञानी भीतर अस्पर्शित (अनटच्ड) बन रहता है। लेकिन स्पर्शित हो जाते हैं हम—अहंकार के कारण। अहंकार बहुत सेन्सिटिव है; छुआ नहीं कि दुःखी हुआ। छुओ और दुःखी। बस, अहंकार ही सारा स्पर्श ले लेता है।

रास्ते पर आप जा रहे हैं, कोई हँस देता है और आपका अहंकार स्पर्श ले लेता है; आप दुःखी होने लगे। बड़ी मुश्किल है। एक लहर हँसती है, उसे हँसने दें। और एक लहर को हक है कि दूसरी लहर को देख कर हँसे। आप क्यों परेशान हैं? नहीं, लेकिन

आप परेशान नहीं होते, अगर आपने जाना होता कि प्रकृति ऐसी है।

आप गिर पड़े हैं। केले के छिलके पर पैर फिसल गया और चार लोग हँस दिये हैं। ठीक है; इसमें कहीं कोई गड़बड़ नहीं है। जैसे छिलके के ऊपर पैर पड़ता है और आप गिर जाते हैं, वैसे ही उन पर आपके गिरने की घटना पड़ती है और हँसी फूट जाती है। यह सब प्रकृति का गुण-धर्म है। कुछ भी आपके हाथ में नहीं है। छिलके पर पैर पड़ा, गिर गये। उनके हाथ में नहीं, कि हँसी बिखर गयी और आप अब दुःखी होकर चले जा रहे हैं। अब कल आप जरूर उनके रास्ते पर छिलके बिछायेंगे। जरूर कल उनको गिरा कर हँसना चाहेंगे। अब आप जाल में पड़ते हैं—अब आप व्यर्थ के जाल में पड़ते हैं। वह जाल अहंकार के स्पर्शित होने से निर्मित हुआ है।

कृष्ण इतना ही कहते हैं कि 'ज्ञानी करता है कर्म, लेकिन कर्ता नहीं बनता है।' और जो कर्ता नहीं बनता, वह जीवन के परम सत्य को उपलब्ध हो जाता है।

आठवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, दिनांक ३ जनवरी, १९७१

तत्त्वविसु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ।। २८ ।।

परन्तु हे महाबाहो, गुण-विभाग और कर्म-विभाग को जानने वाला ज्ञानी पुरुष, सम्पूर्ण गुण, गुणों में ही बर्तते हैं, ऐसा मान कर आसक्त नहीं होता है।

अहंकार का भ्रम

जीवन को दो प्रकार से देखा जा सकता है। एक तो—जैसे जीवन का केंद्र मैं हूँ और सारा जीवन परिधि है। अज्ञानी की यही मनोदशा है। अज्ञानी केंद्र पर होता है, सारा जगत् उसकी परिधि पर घूमता है। सब कुछ उसके लिये हो रहा है और सब कुछ उससे हो रहा है। न तो वह यह देख पाता है कि प्रकृति के गुण काम करते हैं, न वह यह देख पाता है कि परमात्मा की समग्रता कर्म करती है। जो कुछ भी हो रहा है, उसे समझता है कि वह कर रहा है। उसकी स्थिति ठीक वैसी होती है, जैसे मैंने एक कहानी सुनी है कि छिपकली राजमहल की दीवार पर छत से लटकी है और भयभीत है कि अगर वह छत से हट जाय तो कहीं छत गिर न जाय, मानो छत वही संभाले हुए है!

कॉपरनिकस के पहले, आज से कोई तीन सौ वर्ष पहले आदमी सोचता था कि पृथ्वी केंद्र है—सारे यूनिवर्स का, सारे विश्व का। चाँद-तारे पृथ्वी के आसपास घूमते हैं। सूरज पृथ्वी का चक्कर लगाता दिखाई भी पड़ता है। सुबह उगता है, साँझ डूबता है। कॉपरनिकस ने एक बड़ी क्रांति उपस्थित कर दी, आदमी के मन के लिये, जब उसने कह दी कि बात बिलकुल उलटी है : सूरज जमीन का चक्कर नहीं लगाता, जमीन ही सूरज के चक्कर लगाती है। बहुत धक्का पहुँचा। धक्का इस बात से नहीं पहुँचा कि हमें कोई फर्क पड़ता है कि चक्कर कौन लगाता है—सूरज लगाता है कि जमीन लगाती है। हमें क्या फर्क पड़ता है? नहीं, धक्का इस बात से पहुँचा कि आदमी जिस जमीन पर रहता है, वह जमीन भी चक्कर लगाती है! मैं जिस जमीन पर रहता हूँ, वह जमीन भी चक्कर लगाती है सूरज का!

आदमी ने हजार वर्ष तक अपने अहंकार के आस-पास सारे विश्व को चक्कर लगवाया। कॉपरनिकस का मजाक उड़ाते हुए, और आदमी का मजाक उड़ाते हुए बर्नार्ड शॉ ने एक बार कहा था कि 'कॉपरनिकस की बात गलत है। यह बात झूठ है कि जमीन सूरज का

चक्कर लगाती है । सूरज ही जमीन का चक्कर लगाता है ।' बर्नार्ड शॉ जैसे बुद्धिमान आदमी से ऐसी बात की आशा नहीं हो सकती थी । तो किसी आदमी ने सभा में खड़े होकर पूछा, 'आप क्या कह रहे हैं ! अब तो सिद्ध हो चुका है कि जमीन ही सूरज का चक्कर लगाती है । आपके पास क्या प्रमाण है ?' बर्नार्ड शॉ ने कहा कि मुझे प्रमाण की जरूरत नहीं । इतना ही प्रमाण काफी है कि बर्नार्ड शॉ जिस जमीन पर रहता है, वह जमीन किसी का चक्कर नहीं लगा सकती । सूरज ही चक्कर लगाता है ।'

मनुष्य का अहंकार सोचता है कि वही केंद्र पर है और सब कुछ परिधि पर । अज्ञानी की यह दृष्टि है कि केंद्र (सेन्टर) जो है जगत् का, वह मैं हूँ । जैसा गाड़ी का चाक घूमता है कील पर, ऐसे मैं कील हूँ और सब कुछ, विराट् मेरे ही आस-पास घूम रहा है ।

ज्ञानी की मानोदशा इससे बिलकुल उलटी है । ज्ञानी कहता है कि केंद्र हो कहीं भी, हम परिधि पर हैं । यह भी परमात्मा की बहुत कृपा है । केंद्र तो हम नहीं हैं । ज्ञानी कहता है, केंद्र मैं नहीं हूँ । केंद्र अगर होगा तो परमात्मा होगा । हम तो परिधि पर उठी हुई लहरों से ज्यादा नहीं । कोई उठाता है, उठ आते हैं । कोई गिराता है, गिर जाते हैं । कोई करवाता है, कर लेते हैं । कोई रोक देता है, रुक जाते हैं । किसी का इशारा जिंदगी बन जाती है; किसी का इशारा मौत ले आती है । न हमें जन्म का कोई पता है, न हमें मृत्यु का कोई पता है । न हमें पता है, श्वास क्यों भीतर जाती है और क्यों बाहर लौट आती है । और न ही हमें कोई पता है कि हम क्यों हैं, कहाँ से हैं, कहाँ के लिये हैं ।

तो ज्ञानी कहता है : 'विराट् का कर्म है और मैं तो उन कर्मों की लहरों पर एक तिनके से ज्यादा नहीं हूँ । इसलिये कर्म मेरा नहीं, कर्म विराट् का है और जो भी फलित हो, रहा है—हार या जीत, सुख या दुःख, प्रेम या घृणा, युद्ध या शाँति—जो भी घटित हो रहा है जगत् में, वह प्रकृति के गुणों से घटित हो रहा है ।' ऐसा जो व्यक्ति जान लेता है, उसके जीवन में अनासक्ति फलित हो जाती है । उसके जीवन में फिर आसक्ति का जहर नहीं रह जाता है । फिर आसक्ति की बीमारी नहीं रह जाती है ।

एक घटना मैंने सुनी है । मैंने सुना है एक झेन फकीर हुआ : रिन्झाई । वह एक गाँव के रास्ते से गुजरता था । एक आदमी पीछे से आया, उसे लकड़ी से चोट की—और भाग गया । लेकिन चोट करने में उसके हाथ से लकड़ी छूट गई, जमीन पर नीचे गिर गयी । रिन्झाई लकड़ी उठा कर पीछे दौड़ा कि 'मेरे भाई, अपनी लकड़ी तो लेता जा ।' पास एक दुकान के मालिक ने कहा, 'पागल हो गये हो ? वह आदमी तो तुम्हें लकड़ी मार कर गया है और तुम उसकी लकड़ी लौटाने की चिन्ता कर रहे हो !' रिन्झाई ने कहा कि 'किसी दिन मैं एक वृक्ष के नीचे लेटा हुआ था । तब वृक्ष से एक शाखा मेरे ऊपर गिर पड़ी । तब मैंने वृक्ष को कुछ भी नहीं कहा । आज एक आदमी के हाथ से

लकड़ी मेरे ऊपर गिर पड़ी है, तो मैं इस आदमी को कुछ कहूँ !' नहीं समझा वह दुकानदार । उसने कहा, 'पागल हो ! वृक्ष से शाखा का गिरना और बात है । इस आदमी से लकड़ी तुम्हारे ऊपर गिरना वही बात नहीं है ।'

रिन्झाई कहने लगा : एक बार मैं नाव में जा रहा था । एक खाली नाव आकर मेरी नाव से टकरा गयी । मैंने कुछ भी न कहा और एक बार ऐसा हुआ कि मैं किसी और के साथ नाव में बैठा था और एक नाव—जिसमें कोई आदमी सवार था और चलाता था—आकर टकरा गयी तो वह जो नाव चला रहा था मेरी, वह गालियाँ बकने लगा। मैंने उससे कहा, 'अगर नाव खाली होती तो तुम गाली बकते या न बकते ? तो उस आदमी ने कहा कि खाली नाव को क्यों गाली बकता !' रिन्झाई ने कहा 'गौर से देखो; नाव भी एक हिस्सा है इस विराट् की लीला का । वह आदमी जो बैठा है, वह भी एक हिस्सा है । नाव को माफ कर देते हो, आदमी पर इतने कठोर क्यों हो ?'

शायद वह दुकानदार फिर भी नहीं समझा होगा । हममें से कोई भी नहीं समझ पाता ।

एक आदमी क्रोध से भर जाता है और किसी को लकड़ी मार देता है । इस मारने में प्रकृति के गुण ही काम कर रहे हैं । एक आदमी शराब पीये होता है और आपको गाली दे देता है; तब आप बुरा नहीं मानते हैं; अदालत भी माफ कर सकती है उसे, क्योंकि वह शराब पीये हुए था । लेकिन अगर एक आदमी शराब पीये हो तो हम माफ कर देते हैं और एक आदमी के शरीर में क्रोध के समय ऐड्रीनल नामक ग्रंथि से विष छूट जाता है, तब हम उसे माफ नहीं करते । जब एक आदमी क्रोध में होता है, तो होता क्या है ? उसके खून में विष छूट जाता है । उसके भीतर की ग्रंथियों से रस-स्राव हो जाता है । आदमी उसी हालत में आ जाता है, जैसे शराबी आ जाता है । फर्क इतना ही होता है कि शराबी ऊपर से शराब लेता है, इस आदमी को भीतर से शराब आ जाती है ।

अब जिस आदमी के खून में जहर छूट गया है और वह घूंसा बाँधकर मारने को टूट पड़ता है तो इसमें इस आदमी पर नाराज होने की बात क्या है ! यह—इस आदमी के भीतर—जो घटित हो रहा है, वह प्रकृति के गुण का परिणाम है। कृष्ण यह कह रहे हैं कि 'जो आदमी जीवन के इस रहस्य को समझ लेता है, वह आदमी अनासक्त हो जाता है ।'

बुद्ध एक गाँव में ठहरे, अंतिम दिन, जहाँ उनकी बाद में मृत्यु हुई । एक गरीब आदमी ने उन्हें भोजन पर बुलाया । बिहार के गरीब तो सब्जी नहीं जुटा पाते थे । (अब भी नहीं जुटा पाते हैं ।) तो लोग कुकुरमुत्ता जो बरसात में पैदा हो जाता है—वृक्षों पर, पत्थरों पर, जमीन पर—छतरी की तरह—उसको ही काटकर रख लेते हैं । फिर उसी को सुखा लेते हैं । फिर उसी की सब्जी बना लेते हैं ।

गरीब था आदमी । उसके घर में कोई सब्जी नहीं थी । लेकिन बुद्ध को निमंत्रण कर आया तो कुकुरमुत्ते की सब्जी बनायी । कुकुरमुत्ता कभी-कभी विषाक्त

(प्वाइजनस) हो जाता है। कहीं भी उगता है; अकसर गंदी जगहों में उगता है।

वह सूखा कुकुरमुत्ता विषाक्त था। बुद्ध ने चखा तो वह कड़वा था। लेकिन वह गरीब पंखा झुला रहा था, और उसकी आँखों से आनन्द के आँसू बह रहे थे; तो बुद्ध ने कुछ कहा नहीं। वे खाते चले गये। वह कड़ुवा जहर था। लौटे तो बेहोश हो गये। चिकित्सकों ने कहा कि बचना मुश्किल है। खून में जहर फैल गया है। उस बेचारे आदमी ने कहा कि 'आप ने कहा क्यों नहीं कि कड़ुवा है!' बुद्ध ने कहा, 'देखा मैंने–तुम्हारे आँखों के आँसुओं को, उसके आनन्द को। देखा मैंने—कुकुरमुत्ते के कड़वेपन को। देखा मैंने—मेरे खून में फैलते हुये जहर को। देखा मैंने—मेरी आती हुई मौत को। फिर मैंने कहा कि मौत तो रोकी नहीं जा सकती, आज नहीं, कल आ ही जायेगी। कुकुरमुत्ता कड़वा है, इसमें नाराजगी क्या? जहरीला हो गया होगा। जो मृत्यु आने ही वाली हो, जो रोकी ही नहीं जा सकेगी—आज नहीं कल आ ही जायेगी, उस छोटी-सी घटना के लिये तुम्हारी खुशी को छीनने वाला क्यों मैं बनूं? कहूँ कि कड़वा है, तो तुम्हारी खुशी कड़वी हो जाय। और सब चीजें अपने गुण से हो रही हैं : जहर कड़ुवा है; भोजन करानेवाला आनंदित है; भोजन करनेवाला भी आनंदित है।' बुद्ध ने कहा, 'मैं पूरा आनंदित हूँ। जहर मुझे नहीं मार पायेगा। जहर जिसे मार सकता है, उसे मार लेगा। जहर का गुण—शरीर के जो गुण हैं, उन पर काम कर जायेगा। मैं देखनेवाला हूँ, मैं मरनेवाला नहीं हूँ।'

लेकिन बुद्ध की मृत्यु हो गई। मृत्यु के पहले बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को बुला कर कहा, 'जाओ गाँवों में डुन्डी पीट दो, सारे गाँव में खबर दे दो कि जिस आदमी ने बुद्ध को अंतिम भोजन दिया, वह परम पुण्यशाली है।' भिक्षुओं ने कहा कि 'आप क्या कहते हैं! वह आदमी तो हत्यारा है।' बुद्ध ने कहा कि 'तुम्हें पता नहीं; कभी-कभी हजारों-लाखों वर्षों में बुद्ध जैसा व्यक्ति पैदा होता है, उसको जो माँ पहली दफे भोजन देती है, वह भी धन्यभागी है। और जो आदमी उसे अंतिम भोजन देता है, वह भी कम धन्यभागी नहीं है। इस आदमी ने मुझे अंतिम भोजन दिया, वह बहुत धन्यभागी है।'

सब भिक्षु तो चले गये; आनन्द रुका रहा। आनन्द ने बुद्ध से कहा, 'मेरा मन राजी नहीं होता; आप यह क्या कह रहे हैं!' बुद्ध ने कहा कि 'आनन्द तू समझता नहीं। जहर ने अपना काम किया है, उस आदमी ने अपना काम किया है। मैं बुद्ध हूँ, मुझे मेरे गुणधर्म के अनुसार काम करने दो, अन्यथा लोग क्या कहेंगे। और अगर मैं यह कह न जाऊँ और मर जाऊँ, तो मुझे खयाल है कि तुम मिलकर कहीं उसकी हत्या न कर दो! कहीं उसके घर में आग न लगा दो। अगर तुमने यह भी न किया तो जन्मों-जन्मों के लिये नाहक अपमानित और निन्दित तो हो ही जायेगा।'

एक और छोटी बात कहूँ। उमास्वाति ने उल्लेख किया है—एक फकीर का, एक

साधु का कि वह पानी में उतरा। एक बिच्छू पानी में डूब रहा है। उसने उसे हाथ में ले लिया। लेकिन बिच्छू जोर से डंक मारता है। हाथ कंप जाता है, बिच्छू गिर जाता है। वह फिर बिच्छू को उठाता है। किनारे खड़ा एक आदमी कहता है कि तुम पागल तो नहीं हो! वह बिच्छू, जो तुम्हें काट रहा है और जहर से भरे दे रहा है, उसे तुम बचाने की कोशिश कर रहे हो! वह फकीर कहता है कि 'बिच्छू अपना गुण-धर्म निभा रहा है, मैं अपना गुण-धर्म न निभाऊँ, तो परमात्मा के सामने बिच्छू जीत जायेगा और मैं हार जाऊँगा। मैं साधु हूँ—बचाना मेरा गुण-धर्म है। वह बिच्छू है—काटना उसका गुण-धर्म है। वह अपना काम पूरा कर रहा है, तुम मुझे मेरा काम पूरा क्यों नहीं करने दे रहे हो!'

कृष्ण कह रहे हैं, अर्जुन से, 'जो व्यक्ति, जीवन गुणों के अनुसार वर्तित हो रहा है और कर्म भी महाप्रकृति की विराट् लीला के हिस्से हैं, ऐसा जान लेता है, वह कर्म में अनासक्त हो जाता है।' ऐसे व्यक्ति को दुःख नहीं व्यापता; ऐसे व्यक्ति को सुख नहीं व्यापता। ऐसे व्यक्ति को सफलता-असफलता समान हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को यश-अपयश एक ही लगते हैं। ऐसे व्यक्ति को जीवन मृत्यु में भी कोई फर्क नहीं रह जाता है। और ऐसी चित्त-दशा में ही परमात्मा का, सत्य का, आनन्द का अवतरण है। इसलिये कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'तू भाग मत। तू इस भाँति समझ कि जो हो रहा है, वह हो रहा तू उसके बीच में अपने को भारी मत बना, अपने को बीच में बोझिल मत बना। जो हो रहा है, उसे होने दे और तू उस होने के बाहर अनासक्त खड़ा हो जा। यदि तू अनासक्त खड़ा हो सकता है, तो फिर युद्ध ही शांति है और अगर तू अनासक्त खड़ा नहीं हो सकता, तो शांति युद्ध बन जाती है।'

● प्रश्न : भगवान् श्री, अहंकार रूपी भ्रम से आसक्ति पैदा होती है, तो कृपया अहंकार की उत्पत्ति को अधिक स्पष्ट करें।

अहंकार रूपी भ्रम से आसक्ति उत्पन्न होती है, अहंकार कैसे उत्पन्न होता है? दो तीन बातें समझ लेनी उपयोगी हैं। पहली बात : अहंकार कभी उत्पन्न नहीं होता, सिर्फ प्रतीत होता है। जैसे रस्सी पड़ी हो और साँप प्रतीत हो। उत्पन्न कुछ नहीं होता, सिर्फ प्रतीत होता है। लगता है कि 'है', होता नहीं। अहंकार भी लगता है कि है, है नहीं। जैसे हम लकड़ी को पानी में डालें और लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ती है—होती नहीं। 'इट जस्ट अपीयर्स'—बस, प्रतीत होती है। बाहर निकालें तो उसे सीधी पाते हैं। पानी में डालें तो फिर तिरछी दिखाई पड़ती है। आपको भली-भाँति पता है कि लकड़ी तिरछी नहीं है, फिर भी लकड़ी तिरछी दिखाई पड़ती है। ठीक ऐसे ही अहंकार दिखाई पड़ता है, पैदा नहीं होता। इस बात को तो पहले खयाल में ले लें। क्योंकि अगर अहंकार पैदा हो जाय, तब उससे छुटकारा बहुत मुश्किल है। अगर दिखाई पड़ता हो, तो

समझ से ही उससे छुटकारा हो सकता है। फिर चाहे वह दिखाई पड़ता ही रहे, तो भी छुटकारा हो जाता है।

अहंकार कैसे दिखाई पड़ता है? अहंकार के दिखाई पड़ने का जन्म कैसे होता है, यह मैं जरूर कहना चाहूँगा।

पहली बात; एक बच्चा पैदा होता है। हम उसे एक नाम देते हैं : अ, ब, स। कोई बच्चा नाम लेकर पैदा नहीं होता। किसी बच्चे का कोई नाम नहीं होता। सब बच्चे अनाम (नेमलेस) पैदा होते हैं। लेकिन बिना नाम के काम चलना मुश्किल है : अगर आप सबके नाम छीन लिये जायँ तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जायेगी। और मजा यह है कि नाम बिलकुल झूठा है; फिर भी उस झूठ से काम चलता है। सचाई तो यही है कि नाम किसी का कोई भी नहीं है। सब बिना नाम के हैं। जिस जगत् में हम जीते हैं सम्बन्धों के, जिस माया के जगत् में हम जीते हैं, उस जगत् में झूठे नाम बड़े काम के हैं। और कोई चीज काम की हो, इसलिये सच नहीं हो जाती और कोई चीज काम में न आती हो, इसलिये झूठ नहीं हो जाती।

यूटिलिटी और ट्रुथ में फर्क है; उपयोगिता और सत्य में फर्क है। बहुत-सी झूठी चीजें उपयोगी होती हैं। घर में मिठाई रखी है और बच्चे को हम कह देते हैं कि 'भूत है, भीतर मत जाना।' भूत होता नहीं, मिठाई होती है; लेकिन बच्चा भीतर नहीं जाता। भूत का होना काम करता है—यूटिलिटेरियन है, उपयोगिता तो सिद्ध हो जाती है। और बच्चे को अगर समझा दें कि मिठाई के खाने के क्या-क्या दोष हैं और मिठाई के खाने से क्या-क्या हानियाँ हैं और मिठाई के खाने से क्या-क्या बीमारियाँ होंगी, तो वे सब बेकार थीं। वे सच थीं, लेकिन कारगर न थीं। बच्चे के लिये तो बिलकुल अर्थ की नहीं थीं। 'भूत' काम कर जाता है; बच्चा कमरे के भीतर नहीं जा पाता। जो भूत नहीं है, वह —मिठाई और बच्चे के बीच खड़ा हो जाता है। यह उपयोगी है।

नाम बिलकुल नहीं है, लेकिन आपके और जगत् के बीच एक लेबल की जरूरत है अन्यथा मुश्किल और कठिनाई हो जाती है। एक 'भूत' हम खड़ा कर देते हैं : इसका नाम राम, इसका नाम कृष्ण, इसका नाम अर्जुन, इसका नाम यह, उसका नाम वह। नाम एक झूठ है। लेकिन नाम गहरे उतर जाता है और इतने गहरे उतर जाता है कि आपको नींद में भी पता होता है कि आपका नाम क्या है, बेहोशी में भी पता होता है कि आपका नाम क्या है! जो नहीं है, वह भी पता होता है। आपके नाम को कोई गाली दे दे, तो खून में जहर दौड़ जाता है। और नाम बिलकुल झूठ है, लेकिन खून में दौड़ने वाला जहर बिलकुल सच है।

यह करीब-करीब ऐसे होता है कि जैसे सपने में आप डर गये और एक जंगली जानवर ने आपकी छाती पर पंजा रख दिया। अब नींद खुल गई। अब पता चल गया कि

सपना है, लेकिन पसीना अभी भी बहे चला जाता है और छाती अभी भी धड़के चली जाती है। अब मालूम है कि सपना था, कोई जंगली जानवर नहीं। अपने घर में सोये हुए हैं। दरवाजा बंद है, कहीं कोई नहीं दिखाई पड़ता, बिजली जल रही है, लेकिन अभी धड़कन जारी है। वक्त लगेगा, मोमेन्टम पकड़ गया। हृदय धड़कने लगा। धड़केगा थोड़ी देर। एकदम से बंद नहीं हो सकता। एकदम से बंद हो जाय तो खतरा भी है; धीरे-धीरे उतरेगा। जैसे धीरे-धीरे चढ़ा, वैसे धीरे-धीरे उतरेगा। अब आप भली-भाँति जानते हैं कि बड़ी अजीब बात है—सपना और हृदय को धड़का जाता है! हृदय बहुत सच है और सपना बिलकुल झूठ है।

नाम जिंदगी भर काम देता है। लेकिन आपका नाम दूसरों के लिये काम देता है, आपके लिये काम नहीं देता। तो आपको स्वयं को बुलाने के लिये भी तो कोई इशारा चाहिये, वह इशारा 'मैं', इगो, अहंकार है। तो दो तरह के नाम हैं। एक नाम मेरा जो दूसरों के द्वारा बुलाने के लिये है—वह मेरा नाम; और एक जिससे मैं स्वयं अपने को बुलाऊँगा—मैं। अन्यथा बड़ी मुश्किल हो जायेगी कि मैं कौन हूँ। और अगर मैं अपने नाम से अपने को बुलाऊँ, तो आपको समझने में मुश्किल होगी कि मैं किसके बाबत कह रहा हूँ—अपने बाबत या दूसरों के बाबत। इसलिये 'मैं' सबके लिये काम कर जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये 'मैं' कहता है। वह 'कॉमन नेम' है, खुद के लिये और दूसरे के उपयोग के लिये एक नाम है। इसलिये हो भी सकता है कि आप अपना नाम कभी भूल जायँ। लेकिन 'मैं' को आप कभी नहीं भूल सकते, क्योंकि आपका नाम दूसरे लोग उपयोग करते हैं, वह उनको याद रह जाता है। आप तो सिर्फ 'मैं' का ही उपयोग करते हैं।

मैंने सुना है कि पहले महायुद्ध में अमेरिका में जब पहली बार राशनिंग हुई, तो एडिसन नामक एक बड़े वैज्ञानिक को भी अपना राशन-कार्ड लेकर राशन के लिये क्यू में खड़ा होना पड़ा। लेकिन एडिसन बहुत बड़ा वैज्ञानिक था। कोई एक हजार उसने आविष्कार किये। शायद पृथ्वी पर किसी दूसरे आदमी ने इतने आविष्कार नहीं किये। गहन से गहन प्रतिभा का मनुष्य था। सैकड़ों लोग उसे आदर देते थे। कोई उसका नाम तो कभी लेता नहीं था। तीस साल से उसने अपना नाम नहीं सुना था सीधा, कि किसी ने कहा हो : एडिसन। कोई उसको प्रोफेसर कहता, कोई उसको कुछ कहता। लेकिन नाम तो उसका सीधा कोई नहीं लेता था। क्यू में खड़ा है एडिसन। उसका कार्ड लगा हुआ है राशन का। जब उसके कार्ड का नम्बर आया और क्यू (कतार) में वह सामने आया, तो कार्ड वाले क्लर्क ने चश्मा ऊपर उठाकर आवाज लगायी कि 'थामस अल्वा एडिसन कौन है?' वे सज्जन खड़े ही रहे, एडिसन खड़े ही रहे। फिर उसने दुबारा कहा कि 'भई, यह कौन आदमी है—एडिसन, आगे आओ।' तब क्यू में से किसी ने झाँक कर देखा और उसने कहा कि 'मालूम होता है कि जो आदमी सामने खड़ा है, वह एडिसन

है; मैंने अखबार में तस्वीर देखी है; लेकिन वह तो चुप ही खड़ा है !' आदमी क्यू के बाहर आया और कहा 'महाशय ! जहाँ तक मुझे याद आता है, आपकी शकल एडिसन से मिलती-जुलती है।' तो एडिसन ने कहा कि 'हो न हो यह मेरा नाम होना चाहिये। लेकिन सच बात है कि तीस साल से मुझे किसी ने कभी पुकारा नहीं, तो मुझे खयाल में नहीं रहा। लेकिन परिचित मालूम पड़ता है कि नाम मेरा ही होना चाहिये !'

खुद के बुलाने के लिये 'मैं' है, दूसरों के बुलाने के लिये नाम है। एक ही 'मैं' से सब का काम चल जाता है। नाम अनेक रखने पड़ते हैं, क्योंकि दूसरे बुलायेंगे। इस 'मैं' को बचपन से ही बच्चे को स्मरण दिलाना शुरू कर देते हैं। लेकिन, मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चे को पहले 'मैं' का पता नहीं चलता। पहले 'तू' का पता चलता है। बच्चे को पहले 'मैं' का पता नहीं चलता, इसलिये छोटे बच्चे अकसर कहते हैं कि 'इसको' भूख लगी है; वे यह नहीं कहते कि 'मुझे' भूख लगी है। मुझे का तो अभी बोध नहीं होता। वे कहते हैं कि 'इसे' भूख लगी है। या पेट बता देते हैं कि 'यहाँ' भूख लगी है।

'मैं' का बोध बच्चे को बाद में आता है, 'तू' का बोध पहले आता है, क्योंकि तू पहले दिखायी पड़ता है चारों तरफ। बच्चे को अपना पूरा शरीर भी--अपना है--यह भी बहुत बाद में पता चलता है। छोटे बच्चे अगर अपना अँगूठा चूसते हैं, तो आप समझते है, वे अपना अंगूठा चूस रहे हैं, लेकिन मनोवैज्ञानिक जीनपियागेट जिसने जिंदगी भर बच्चों के अध्ययन में लगाया है, वह कहता है कि बच्चों को पता नहीं होता कि वे अपना अँगूठा चूस रहे हैं। वे तो कोई और ही चीज समझ कर उसे चूसते रहते हैं। उनको यह पता नहीं होता कि उनका ही अँगूठा है। जिस दिन पता चल जाय कि उनका अँगूठा है, तो उस दिन वे भी नहीं चूसेंगे।

शरीर भी पूरा अपना है, इसका भी बच्चे को पता नहीं होता। बच्चे को सपने में और जागने में भी कोई फर्क नहीं होता। सुबह जब उठता है, तो सपने के लिये रोता है कि मेरा खिलौना कहाँ गया (जो सपने में उसके पास था) ! बच्चे को अभी 'मैं' का भी पता नहीं होता। 'मैं' का बोध उसे 'तू' को देखकर पैदा होता है। चारों तरफ और लोग हैं, धीरे-धीरे उसे पता चलता है कि मैं अलग हूँ, मेरा हाथ अलग है, मेरा मुँह अलग, मेरे पैर अलग; मैं उठता हूँ तो अलग, दूसरे उठते हैं तो अलग। धीरे-धीरे चारों तरफ यह जो जगत् है, इससे वह अपने को आइसोलेट करना सीखता है कि मैं अलग हूँ; फिर उसके 'मैं' का जन्म होना शुरू होता है। वह प्रयोग करना शुरू करता है कि 'मुझे भूख लगी है।'

कभी आप खयाल करें : जब भी आपको भूख लगती है, तब अगर ठीक से गौर से देखें तो आपको पता चलता है कि शरीर को भूख लगी है; आपको भूख कभी नहीं लगती। पता चलता है : भूख लगी है, पेट में लगी है। लेकिन आप कहते हैं कि 'मुझे भूख लगी है।' बहुत गौर से देखें और बहुत ठीक से और ठीक भाषा का प्रयोग करें तो आपको

कहना चाहिये, 'पता चलता है कि पेट में भूख लगी है।' अगर तथ्यगत (फैक्चुअल) सूचना देना चाहें तो आपको कहना चाहिये : पता चलता है कि पेट में भूख लगी है। पता ही चलता है। लेकिन अगर ऐसा कहेंगे तो पागल समझे जायेंगे।

जिंदगी की उपयोगिता 'मैं' के आसपास खड़ी है, पर हम भूल जाते हैं कि 'मैं' एक काम-चलाऊ शब्द है, वह सत्य नहीं है। और धीरे-धीरे इस काम-चलाऊ शब्द को हम सत्य मानकर जीने लगते हैं। फिर हम विभाजन कर लेते हैं। विभाजन वैसा ही जैसे कि आप कहते हैं, 'यह मेरा आँगन है, वह आपका आँगन है।' बिलकुल सच है, लेकिन पृथ्वी बँटती नहीं। आपका आँगन भला है। लेकिन पृथ्वी अनबँटी है। पड़ोसी के आँगन और आपके आँगन के बीच पृथ्वी में कोई दरार नहीं पड़ती। आपके मकान और पड़ोसी के मकान के बीच में पृथ्वी टूटती नहीं। न हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच में कोई खाई है, और न हिन्दुस्तान और चीन के बीच में पृथ्वी टूटती है। पृथ्वी एक है, लेकिन काम-चलाऊ शब्द है : 'मेरा देश'। तो ऐसा लगता है कि मेरा देश कहीं टूट जाता है और दूसरे का देश वहाँ से शुरू होता है और बीच में कोई खाई है। कहीं कोई खाई नहीं है। 'मेरा देश' एक राजनैतिक शब्द है, जो खतरनाक सिद्ध होता है, अगर यह जीवन का शब्द बन गया है।

'मैं' एक मनोवैज्ञानिक उपयोगिता है, लेकिन आप सोचते हैं कि 'मैं' का मतलब है कि जहाँ 'मैं' समाप्त होता हूँ, वहाँ 'मैं' बिलकुल समाप्त होता हूँ और दूसरे शुरू होते हैं। आप कहीं समाप्त नहीं होते। अगर हम विज्ञान से भी पूछें तो विज्ञान भी कहेगा कि आप कहीं समाप्त नहीं होते। दस करोड़ मील दूर जो सूरज है, वह अगर ठण्डा हो जाय, तो मैं ठण्डा हो जाऊँ। तो क्या मैं और सूरज अलग-अलग हैं ? अगर अलग-अलग हैं, तो सूरज हो जाय ठण्डा, मैं क्यों ठण्डा हो जाऊँ ! सूरज और मैं कहीं जुड़े हैं। तभी तो सूरज ठण्डा हो जाय, तो मैं ठण्डा हो जाऊँ। अभी हवा में आक्सीजन है, कल न रह जाय तो मैं समाप्त हूँ।

एक क्षण को अलग नहीं हैं आप। जो श्वास ले रहे हैं, वह आपसे हवा का जोड़ है। आप प्रतिपल जुड़े हुए हैं। आप हवा में ही जी रहे हैं, जैसे मछली पानी में, सागर में जी रही है--सागर न रह जाय, तो मछली नहीं है। ऐसे ही आप भी हवा के सागर में जी रहे हैं। हवा न रह जाय, तो आप भी नहीं हैं। लेकिन आप कहते हैं कि मैं अलग हूँ। अगर आप अलग हैं तो ठीक है, एक पाँच मिनट श्वास न लें और जी कर देखें, तब आपको पता चलेगा कि यह 'मैं' उपयोगी तो था, सत्य नहीं है। हवा भी मुझसे जुड़ी है। अभी जो श्वास आपके पास थी थोड़ी देर पहले, अब वह मेरे पास है और मैं कह भी न पाया कि 'मेरे पास है', कि वह किसी और के पास चली गई। यह श्वास किसकी है ? आपके खून में जो अणु दौड़ रहे हैं, वे अभी आपके पास हैं, कल किसी वृक्ष में थे। परसों किसी नदी

में, उसके पहले किसी बादल में। किसके हैं वे ? आपके शरीर में जो हड्डी है, वह न मालूम कितने लोगों के शरीर की हड्डी बन चुकी है और अभी न मालूम कितने लोगों के शरीर की हड्डी बनेगी। उस पर जल्दी से अपना कब्जा मत कर लेना। आपकी क्या है ? आपके पास जो आँख है, उस आँख के अणु और न मालूम किन-किन आँखों के अणु बन चुके हैं। पूरी जिंदगी इकट्ठी है।

जब कृष्ण कहते हैं कि यह अज्ञानीजन अपने को अहंकार में बाँध कर व्यर्थ फँस जाते हैं, तो उसका मतलब केवल इतना ही है। इसका मतलब यह नहीं है कि कृष्ण 'मैं' का उपयोग नहीं करेंगे। कृष्ण भी उपयोग करेंगे, उपयोग तो करना ही पड़ेगा। लेकिन उपयोग को कोई सत्य न मान ले। उपयोग तो करना ही पड़ेगा, लेकिन उपयोग को पकड़ कर कोई यह न समझ ले कि यही सत्य है। बस, इतना स्मरण रहे तो जीवन से आसक्ति कम होनी शुरू हो जाती है। क्योंकि आसक्ति वहीं है, जहाँ 'मैं' है। अगर मुझे यह पता चल जाय कि 'मेरी' जैसी कोई सत्ता ही नहीं है, सब इकट्ठा है, तो मैं किस चीज को मेरा कहूँ और किस चीज को पराया कहूँ। फिर कोई चीज अपनी नहीं, कोई चीज पराई नहीं; सब उसकी है, सब प्रभु की है। ऐसी मदोदशा में आसक्ति विलीन हो जाती है !

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥ २९ ॥

और प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं। उन अच्छी प्रकार न समझने वाले मूर्खों को, अच्छी प्रकार जाननेवाला ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे।

बहुत कीमती सूत्र कृष्ण इसमें कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, 'प्रकृति के गुणों से मोहित हुए'—इस 'मोहित' शब्द को थोड़ा गहरे में समझना जरूरी है। मोहित हुए अर्थात् सम्मोहित हुए, हिप्नोटाइज्ड हुए। सुना होगा आपने कि सिंह के सामने शिकार जब आता है तो भाग नहीं पाता, सम्मोहित हो जाता है, हिप्नोटाइज्ड हो जाता है, खड़ा रह जाता है; भूल ही जाता है कि भागना है। सिंह की आँखों में देखता हुआ अवरुद्ध हो जाता है—मैग्नेटाइज्ड हो जाता है, रुक ही जाता है। भागना ही भूल जाता है। यह भी भूल जाता है कि मृत्यु सामने खड़ी है। अजगर के बाबत तो कहा जाता है कि शिकार अपने आप खिंचा हुआ उसके पास चला आता है, आकाश में उड़ता हुआ पक्षी भी खिंचता हुआ चला आता है, जैसे रस्सी से बँधा हुआ कोई पशु खींचे जाने पर चला आता है।

संस्कृत का यह शब्द है 'पशु'—इसका मतलब इतना ही होता है कि जो पाश से बँधा हुआ खिंचा चला आता है। जैसे एक गाय को हमने बाँध लिया रस्सी में और खिंचे चले आ रहे हैं। गाय पाश में बँधी हुई खिंची चली आती है। ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति

गुणों में खिंचा हुआ पशु की तरह बर्तन करता है, मोहित हो जाता है, हिप्नोटाइज्ड हो जाता है। इसमें दो-तीन बातें हिप्नोटिज्म की खयाल में लें तो यह बात खयाल में आ सकेगी।

एक चेहरा सुंदर लगता है आपको, खिंचे चले जाते हैं। लेकिन कभी आपने सोचा है कि चेहरे में क्या सौंदर्य हो सकता है। आप कहेंगे : होता है, बिलकुल होता है। लेकिन फिर आपको सम्मोहन के सम्बन्ध में बहुत पता नहीं है। मेरे एक मित्र हैं, जिनको सुंदर चेहरों का बड़ा ही आकर्षण था। उनसे मैंने कहा, 'क्या आकर्षण है सुंदर चेहरों में ?' उन्होंने कहा, 'है।' फिर भी मैंने कहा, 'क्या है ? नाक थोड़ी लम्बी होती है कि थोड़ी छोटी होती है तो आपके हृदय की धड़कन में क्यों फर्क पड़ता है ? आँख थोड़ी बड़ी होती है कि छोटी होती है, कि चेहरा थोड़ा अनुपात में होता है कि गैर-अनुपात में होता है, इससे आपके भीतर कुछ क्यों होता है ?' उन्होंने कहा, 'होता है। आप सौंदर्य को नहीं मानते हैं क्या ?'

बाद में मैंने उन्हें सम्मोहित करके बेहोश किया। जब वे बेहोश हो गये तो पास में पड़े हुए तकिये को मैंने उनके पास रखा और कहा, 'यह तकिया इतना सुंदर है कि जितनी कोई सुंदर स्त्री आपने कभी नहीं देखी है। इसे पास में लो, आलिंगन करो, चूमो, प्यार करो।' तो उन्होंने तकिये को पास में लिया। खूब प्यार किया। फिर मैंने उनसे कहा कि 'जब तुम होश में आ जाओगे, आधा घंटे बाद, फिर तुममें प्रेम की लहर आयेगी और उस तकिये को तुम फिर छाती से लगाओगे।' (यह पोस्ट-हिप्नोटिक सजेशन है।) 'होश में आने के आधा घंटे बाद तुम विवश हो जाओगे, तुम्हारे बस में न रहेगा, बस तुम उठाओगे तकिये को, छाती से लगाओगे और चूमोगे।'

फिर वे होश में आ गये। फिर हम सब बैठ कर गपशप करने लगे। फिर सब बात ठीक हो गई। घड़ी मैं देख रहा हूँ। तकिया उनके पास में पड़ा है। उसे उठाकर मैंने आलमारी में बंद कर दिया। उनकी आँखें देख रहा हूँ। २५ मिनट हुए, ३० मिनट हुए और बेचैनी उनकी शुरू हुई। जो लोग अभी बैठे थे, वे भी देख रहे हैं कि अब वे बेचैन हो गये। वे बड़ी मुश्किल में पड़ गये हैं। वे ठीक वैसी हालत में हैं, जैसी हालत में कामुकता से भरा हुआ आदमी हो जाता है। लेकिन तकिये के प्रति कोई कामुकता होती है ? वे उठे। मैंने कहा, 'कहाँ जा रहे हैं ?' उन्होंने कहा, 'जरा वह तकिया मुझे देखना है, क्योंकि मुझे वह बहुत पसंद पड़ा है। उसी तरह का तकिया मैं भी बाजार से खरीदना चाहता हूँ।' अब वे रेशनलाइज (व्याख्या) कर रहे हैं। उनको भी पता नहीं है। अब तर्क दे रहे हैं। मैंने कहा, 'छोड़ो भी, मैं तुम्हें यहीं बताये देता हूँ कि तकिया कहाँ से लिया गया है। वहाँ से तुम तकिया ले लेना।' उन्होंने कहा कि 'नहीं, जरा मैं देखना ही चाहता हूँ।' उनकी चाल देखने जैसी थी; जैसे भौंरा फूल के पास जाता है, बस वैसे वे आलमारी

खोलते हैं। लेकिन हम सब बैठे हैं। वे तकिये को उठाकर देखते हैं। वह तकिया बड़ा जीवित हो गया है, क्योंकि अनकॉन्शस, अचेतन में सम्मोहित कर रहा है। तकिया उन्हें खींच रहा, क्योंकि 'तकिया सुंदर है' यह भाव गहरे अचेतन में उनके प्रवेश कर गया है। एक क्षण उन्होंने हमारी तरफ देखा, फिर वे हमारी फिक्र, भूल गये, फिर उन्होंने तकिये को छाती से लगा कर चूमना शुरू कर दिया––हमने कहा भी कि 'यह क्या पागलपन कर रहे हो!' पर वे पागलपन कर चुके थे। फिर बैठ गये। पसीना आ गया। घबड़ा गये और कहने लगे कि 'मैंने यह क्या किया? यह हुआ क्या?'

ठीक ऐसे ही स्त्री और पुरुष सुंदर मालूम हो रहे हैं। ठीक ऐसे ही प्रकृति के द्वारा डाला गया मोह है––वह प्रकृति के द्वारा डाली गयी है हिप्नोटिज्म। वह हमारे अचेतन में जन्मों-जन्मों से डाला गया, बाँधा गया वासना का बीज है। वह काम कर रहा है। वह काम करता है, तब व्यक्ति जुड़ जाता है। वह चीजों से भी जुड़ जाता है।

कृष्ण कह रहे हैं, 'प्रकृति के गुणों से मोहित हुआ पुरुष...।' वही दुःख, वही पीड़ा है सब की। हम किन-किन चीजों से मोहित होते हैं, जरा खयाल करना तो बड़ी हैरानी होगी। अगर चित्र देखें, फिल्म देखें, पेंटिंग्स देखें, कविताएँ उठायें, नाटक पढ़ें, उपन्यास देखें––अगर सारी मनुष्य जाति का पूरा का पूरा साहित्य––जिसको हम बड़ा भारी साहित्य कहते हैं, उसे उठाकर देखें, तो बड़ी हैरानी होगी। कुछ चीजों से आब्सेशन आदमी को पैदा हो गया है––पागल की तरह। और किसी को खयाल में नहीं कि क्या हो गया है। और कभी खयाल में नहीं आता कि प्रकृति के गुण इस भाँति मोहित कर सकते हैं।

अब स्त्रियों के स्तन सारी मनुष्य जाति को पीड़ित किये हुए हैं। सारे चित्र, सारी तस्वीरें, कविताएँ, साहित्य उन्हीं से भरा हुआ है। सब कवि, सब चित्रकार पागल मालूम पड़ते हैं। स्त्री के स्तन में ऐसा क्या है? लेकिन छोटे बच्चों की पहली पहचान स्तन से होती है। पहला प्रेम और पहला ज्ञान स्तन से जुड़ता है। पहला एसोसिएशन ––उसके दिमाग में पहला इम्प्रेशन, प्रभाव–– स्तन का बनता है। फिर वह जिंदगी भर पीछा करता है। वह सम्मोहित हो गया। अब वह बूढ़ा हो जाने पर भी स्तन से सम्मोहित बना रहेगा।

यह बचपन में पड़ी पहली छाप है। इसको बायोलॉजिस्ट कहते हैं––'ट्राउमेटिक इम्प्रेशन।' वे कहते हैं कि चूंकि बच्चे के चित्त पर सबसे पहली छाप माँ के स्तन की पड़ती है, इसलिये बुढ़ापे के मरते दम तक स्तन पीछा करता है और कुछ भी नहीं। बस, सम्मोहित हो गया आदमी; फिर बड़े से बड़ा कालिदास हो, कि भवभूति हो, कि पिकासो हो, कि कोई भी हो, बड़े से बड़ा चित्रकार, बड़े से बड़ा कवि, बस, वह उसी में उलझा हुआ है। आश्चर्यजनक है।

कृष्ण कहते हैं, प्रकृति के गुण को न समझने से और उनसे सम्मोहित हो जाने से, हिप्नोटाइज्ड हो जाने से आदमी अज्ञान में, मोह में, आसक्ति में, दुःख में पड़ता है। और नासमझों से भरा हुआ जगत् है। मनोवैज्ञानिक 'फेटिश' (Fetish) शब्द का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं: आदमी अंगों से प्रभावित हो तो हो, वस्त्रों से, वस्तुओं से, उन सबसे प्रभावित और पागल हो जाता है। उन सबसे भी उसके सम्बन्ध जुड़ जाते हैं और उनके पीछे भी वह उसी तरह मोहित होकर घूमने लगता है। यह जो स्थिति है चित्त की, इस स्थिति से जो नहीं जागेगा, वह कभी धर्म के सत्य को नहीं जान सकता। वह सिर्फ प्रकृति के गुणों में ही भटकता रहेगा।

रंग मोहित करते हैं; अब रंगों में क्या हो सकता है? लेकिन भारी मोहित करते हैं। किसी को एक रंग अच्छा लगता है, तो वह दीवाना हो जाता है। उसको पागल किया जा सकता है, उसी रंग के साथ। बहुत बड़ा चित्रकार हुआ वानगॉग––वह पीले रंग से आब्सेस्ड था। पीला रंग देखे तो पागल हो जाय। सूरज की धूप में खड़ा रहता, ताकि पीली धूप बरसे। जहाँ पीले फूल खिल जायँ, फिर वह घर के भीतर न आ सकता था। एक साल ऑरलिस के धूप में खड़े होकर वह पीले रंग को देखता रहा और इतनी धूप में खड़े होने की वजह से पागल हुआ, उसका दिमाग विक्षिप्त हो गया। लेकिन पीला रंग उसके लिये पागलपन था। जरूर कहीं बचपन में कोई ट्राउमैटिक एक्सपीरयन्स, बचपन में कभी कोई ऐसी घटना घट गयी, जिससे वह पीले रंग से बिलकुल आब्सेस्ड हो गया।

नेपोलियन इतना बड़ा हिम्मत का आदमी था कि शेर से लड़ जाय, लेकिन वह बिल्ली से डरता था। सिंहों से जूझ जाय, लेकिन बिल्ली को देखे तो 'पूंछ' दबा कर भाग जाय। क्या हो गया? जब वह छह महीने का था, तब की एक घटना इसका कारण थी। नेपोलियन जैसे आदमी की जीवनी उपलब्ध है, इसलिये जानने में आसानी है। छह महीने का था, पालने पर सोया था––एक जंगली बिलाव ने उसकी छाती पर पैर रख दिया। छह महीने का बच्चा, जंगली बिलाव का छाती पर पैर––चित्त में बैठ गया, गहरे अनकांशस में उतर गया। फिर नेपोलियन बड़ा हो गया। सब बात भूल गयी, लेकिन बिल्ली देखते ही नेपोलियन फिर छह महीने का हो जाता था। बिल्ली दिखी कि वे रिग्रेस (Regress) हुए, वे वापस छह महीने के हुए। और कहते हैं मनोवैज्ञानिक कि नेलसन से जिस युद्ध में नेपोलियन हारा, उसमें नेलसन ७० बिल्लियाँ युद्ध के मैदान में साथ बाँध कर ले गया था। बिल्लियाँ सामने थीं, फौज पीछे थी और जब नेपोलियन ने बिल्लियाँ देखी तो अपने पास के साथियों से कहा कि 'अब मेरा बस कम नहीं कर सकता, अब मैं कुछ भी नहीं कर सकता, मेरी सूझबूझ खोती है।' जैसे अर्जुन ने कृष्ण से कहा था कि 'मेरा गांडीव ढीला पड़ा जाता है। मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं।

अब लड़ना मेरे बस के बाहर है।' (क्यों ?) 'क्योंकि ये मेरे प्रियजन हैं।' यह 'मेरा' भी आब्सेशन है। यह 'मेरा' भी सम्मोहन है। कौन मेरा है, कौन पराया है ?

बिल्ली से भय है नेपोलियन को; बिल्ली देखते ही छह महीने का हो गया वह। अब उसकी यह स्थिति न रही कि अब वह लड़ ले। हारा पहली दफा, उसी दिन। और संभावना बहुत है कि नेलसन ने नहीं हराया, बिल्लियों ने हराया। नेलसन की हैसियत न थी इतनी। नेपोलियन बड़ा अद्‌भुत आदमी था। लेकिन ऐसा अद्‌भुत आदमी भी हिप्नोटाइज्ड है। हम सब ऐसे ही जी रहे हैं।

यह अर्जुन को क्या हो गया ! इतना बहादुर आदमी, जिसे कभी सवाल न उठे, अचानक युद्ध के मैदान पर खड़ा होकर इतना शिथिल, इतना निर्वीर्य क्यों हुआ जा रहा है ? हुआ जा रहा है, क्योंकि बचपन से जिन्हें अपना जाना, आज उनसे ही लड़ने की नौबत है। बचपन से जिन्हें मेरा माना, आज उनसे ही लड़ने की नौबत है। बचपन से कोई भाई था, कोई बन्धु था, कोई महा-पिता थे। कोई कोई था, कोई ससुर था, कोई रिश्तेदार था, कोई मित्र था, कोई गुरु थे, वे सब सामने खड़े हैं। वह सब 'मेरा' घिर कर सामने खड़ा है और उस 'मेरे' पर हाथ उठाने की हिम्मत अब उसको नहीं होती है। ऐसा नहीं है कि अब वह कोई अहिंसक हो गया। ऐसा कुछ भी नहीं है। अगर ये 'मेरे' न होते तो वह युद्ध में इनको जड़-मूल से काट कर रख देता। उसका हाथ ठहरता भी नहीं। उसकी श्वास रुकती भी नहीं। वह इनको काटने में सब्जी काटने जैसा व्यवसाय करता। लेकिन कहाँ कठिनाई आ गई है ! वह 'मेरा' उसका सम्मोहन बन गया है।

कृष्ण कह रहे हैं, 'प्रकृति में गुण हैं, अर्जुन। और साधारण आदमी उनसे मोहित होकर जीता है।' वही मोह उसे अंधेरे में घेरे रखता है और वही मोह उसे अंधेरे में धक्का दिये चला जाता है। ज्ञानी पुरुष को एक तो अपने इस सम्मोहन से मुक्त हो जाना चाहिये। ज्ञानी पुरुष का अर्थ है—डि-हिप्नोटाइज्ड (सम्मोहन विमुक्त) व्यक्ति, जिसको कोई चीज सम्मोहित नहीं करती। रुपया उसके सामने रखें तो उसे वही दिखाई पड़ता है, जो है। लेकिन रुपये से जो सम्मोहित होता है, उसे रुपया नहीं दिखाई पड़ता। उसे तो न मालूम-क्या-क्या दिखाई पड़ने लगता है ! वह शेखचिल्ली की कहानियों में चला जाता है। उसे रुपयों में दिखाई पड़ता है कि अब एक से दस हो जायेंगे दस से हजार हो जायेंगे, हजार से करोड़ हो जायेंगे और वह सारी दुनिया ही जीत लेगा और न मालूम क्या-क्या उस रुपये में स्वप्न उठने लगते हैं। उस एक पड़े हुए रुपये में हजार स्वप्न पैदा होने लगते हैं। लेकिन जिसे सम्मोहन नहीं है, उसे रुपये का ठीकड़ा ही दिखाई पड़ता है। रुपये की उपयोगिता है, वह भी दिखाई पड़ती है। लेकिन कोई सपना पैदा नहीं होता। सम्मोहन सपने का उद्‌भावक है। मोहग्रस्त चित्त ही कल्पनाओं में, सपनों में, आकांक्षाओं में, महत्वकांक्षाओं में भटकता है।

कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष स्वयं भी इससे जाग जाता है और ऐसा व्यवहार नहीं करता कि वे अज्ञानी, जो सम्मोहन में भरे जी रहे हैं, उनके जीवन में अस्त-व्यस्त होने का कारण बन जाये। इसका यह मतलब नहीं है कि वह उनके सम्मोहन तोड़ने का प्रयास नहीं करता। उनके सम्मोहन तोड़ने का प्रयास किया जा सकता है, लेकिन सम्मोहित हालत में उनके जीवन की धुरी को अस्त-व्यस्त करना खतरे से खाली नहीं है।

यह क्यों कह रहे हैं ? यह इसलिये कह रहे हैं कि 'अगर अर्जुन, तुझे यह भी पता चल गया कि युद्ध व्यर्थ है, तो भी इन युद्ध के लिये तत्पर खड़े लोगों में से किसी को भी पता नहीं है कि युद्ध व्यर्थ है। अगर तू यहाँ से भागता है, तो सिर्फ कायर समझा जायेगा। अगर तुझे यह भी पता चल गया कि युद्ध व्यर्थ है, तो यहाँ इकट्‌ठे हुए युद्ध के लिये तैयार लोगों में से किसी को पता नहीं है कि युद्ध व्यर्थ है। तेरे भाग जाने पर भी युद्ध होगा। युद्ध नहीं रुक सकता। अगर तुझे पता भी चल गया कि युद्ध व्यर्थ है और तू चला भी जाय, भाग भी जाय, तो केवल जिस धर्म और जिस सत्य के लिये तू लड़ रहा था, उसकी पराजय हो सकती है।'

'युद्ध तो होगा ही। युद्ध नहीं रुक सकता। ये जो चारों तरफ खड़े लोग हैं, ये पूरी तरह युद्ध से सम्मोहित होकर खड़े हैं। इनको कुछ भी पता नहीं, इनको कुछ भी बोध नहीं है। इन अज्ञानियों के बीच, इन प्रकृति के गुण से सम्मोहित पागलों के बीच तू ऐसा व्यवहार कर, जानते हुए भी, देखते हुए भी ऐसा व्यवहार कर कि इन सबके जीवन की व्यवस्था व्यर्थ ही अस्त-व्यस्त न हो जाय। और अकेला तू भाग कर भी कुछ कर नहीं सकता है। हाँ, इतना ही तू कर कि अगर तुझे होश आया है, तो तू इतना ही समझ ले कि जिन्दगी में सुख-दुःख, हार-पराजय सब समान है। वह परमात्मा के हाथ में है। तू कर्ता नहीं। तू बिना कर्ता हुआ कर्म में उतर जा।

मयि सर्वाणिकर्माणि संन्यास्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

इसलिए हे अर्जुन, तू अध्यात्म चेतसा हो सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें समर्पण करके आशारहित एवं ममतारहित होकर संतापरहित हुआ युद्ध कर।

कृष्ण कहते हैं कि तू सब कुछ मुझमें सर्मपित करके आशा और ममता से मुक्त होकर, विगतज्वर होकर, सब तरह के बुखारों से ऊपर उठ कर तू कर्म कर।

इसमें दो तीन बातें समझने की हैं। एक, कृष्ण जब भी कहते हैं, 'सब मुझमें सर्मपित करके' तो यह कृष्ण नाम के व्यक्ति के लिए कही गई बात नहीं है। जब भी कृष्ण कहते हैं, 'सब मुझमें सर्मपित करके' तो यहाँ वे 'मुझसे', 'मैं' से समग्र परमात्मा का ही अर्थ लेते हैं। यहाँ व्यक्ति-कृष्ण से कोई प्रयोजन नहीं है। वे व्यक्ति हैं भी नहीं, क्योंकि जिसने भी जान लिया कि मेरे पास कोई अहंकार नहीं है, वह व्यक्ति ही नहीं

है, वह परमात्मा है। जिसने भी जान लिया कि मैं बूंद नहीं सागर हूँ, वह परमात्मा ही है। यहाँ जब कृष्ण कहते हैं, 'सब मुझमें समर्पित करके--सब--कर्म भी, कर्म का फल भी, कर्म की प्रेरणा भी, कर्म का परिणाम भी--सब मुझमें समर्पित करके युद्ध में उतर।' कठिन है बहुत। समर्पण से ज्यादा कठिन शायद और कुछ भी नहीं, यह समर्पण (सरेन्डर) संभव हो सके, इसलिये वे दो बातें और कहते हैं, पहला कि विगत-ज्वर होकर (बियांड फिवरिसनेस)।

हम सब बुखार से भरे हैं। बहुत तरह के बुखार हैं। क्रोध का बुखार है, काम का बुखार है, लोभ का बुखार है। इनको बुखार क्यों कह रहे हैं, इनको ज्वर क्यों कहते हैं कृष्ण? वे ज्वर हैं। असल में जिस चीज से शरीर का उत्ताप बढ़ जाय, वे सभी ज्वर हैं। मेडिकली, चिकित्सा-शास्त्र के खयाल से, क्रोध से भी शरीर का उत्ताप बढ़ जाता है। जानते हैं आप, क्रोध में भी आपका ब्लड-प्रेसर बढ़ जाता है, रक्त-चाप बढ़ जाता है। क्रोध में हृदय तेजी से धड़कता है, श्वास जोर से चलती है, शरीर गर्म हो जाता है। कभी-कभी तो क्रोध में मृत्यु भी घटित होती है। अगर कोई आदमी पूरी तरह क्रोधित हो जाय, तो जल कर राख हो जायेगा, मर भी सकता है। पूरे तो हम नहीं मरते, लेकिन थोड़ा तो मरते ही हैं, इंच-इंच मरते हैं। नहीं पूरे मरते, लेकिन जब भी हम क्रोध करते हैं, तभी उम्र क्षीण होती है। तत्क्षण क्षीण होती है। कुछ हमारे भीतर जल जाता है और सूख जाता है, जीवन की कोई लहर मर जाती और जीवन की कोई हरियाली सूख जाती है। क्रोध करें और देखें कि ज्वर है क्रोध। कृष्ण यहाँ बड़ी ही वैज्ञानिक भाषा का उपयोग कर रहे हैं।

कभी खयाल किया है कि जब भी सेक्स, काम-वासना मन को पकड़ती है, तो शरीर ज्वरग्रस्त हो जाता है, फीवरिश हो जाता है। हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, रक्त-चाप बढ़ जाता है, खून की गति बढ़ जाती, श्वास बढ़ जाती, शरीर का ताप बढ़ जाता। प्रत्येक काम-वासना में ग्रस्त क्षण में शरीर ज्वरग्रस्त हो जाता है। अगर बहुत जोर से काम-वासना पकड़े तो पसीना अनिवार्य है, जैसे कि ज्वर में आ जाता है। और अगर जोर से काम-वासना पकड़े तो मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि सारे शरीर की चमड़ी पर लाल चिकते फैल जाते हैं, स्त्रियों के बहुत जल्दी, क्योंकि उनकी चमड़ी ज्यादा कोमल, ज्यादा डेलिकेट होती है। पुरुषों के शरीर पर भी फैल जाते हैं।

कृष्ण कह रहे हैं कि 'ज्वर से मुक्त हुए बिना कोई समर्पण नहीं कर सकता।' विगतज्वर ही समर्पण कर सकता है--जिसके जीवन में कोई ज्वर नहीं रहा। यह बड़े मजे की बात है कि अगर जीवन में ज्वर न रहे तो अहंकार नहीं रहता, क्योंकि अहंकार के लिए ज्वर भोजन है। जितना जीवन में क्रोध हो, लोभ हो, काम हो, उतना ही अहंकार होता है। और अहंकार समर्पण में बाधा है। अहंकार ही एकमात्र बाधा

है, जो समर्पण नहीं करने देता।

अकसर ऐसा होता है कि मंदिर में परमात्मा की मूर्ति के सामने जब आप सिर रख देते हैं, तब सिर तो जमीन पर होता है, अहंकार वापस पीछे ही खड़ा रहता है, वह नहीं झुकता। कभी खयाल करना, जब आप मंदिर में झुकें, तो आप देखना कि सिर तो रखा है पत्थर पर और अहंकार पीछे अकड़ा हुआ खड़ा है। वह दूसरे काम कर रहा है। वह देख रहा है कि कोई देखनेवाला भी है या नहीं। वह देख रहा है कि मंदिर में कोई आ रहा है कि नहीं। जरा लोग देखें और गाँव में खबर पहुँच जाय कि यह आदमी बड़ा धार्मिक है। वह यह देख रहा है; वह अपने काम में लीन है; वह अपने काम में लगा हुआ है। अहंकार सघन होगा, डेन्स होगा। अहंकार और सघन होता जायेगा--जितना ज्वर होगा जीवन में। और चौबीस घंटे ज्वर के अतिरिक्त क्या है हमारे जीवन में!

हाँ, बीच-बीच में छोटे-छोटे वक्त रहते हैं, जिनको हम कह सकते हैं--शांति के वक्त। लेकिन वे होते नहीं हैं शांति के। वह सिर्फ दूसरे ज्वर की तैयारी का समय होता है; तैयारी के लिए वक्त लगता है न! आदमी दिन भर, चौबीस घंटे क्रोध नहीं कर सकता, असम्भव है। घंटे भर क्रोध करे, तो तीन घंटे विश्राम चाहिए। तीन घंटे विश्राम करके फिर ताजा होना चाहिए, तब फिर क्रोध कर सकता है। तो बीच-बीच में जिनको हम शांति के क्षण कहते हैं, वे विगतज्वर होने के नहीं हैं, वे केवल बीच में विश्राम के और पुनः तैयारी के क्षण हैं। इसलिए आप एक और बात खयाल करेंगे कि हम आदमी के क्रोध के दौर होते हैं, पीरियड्स होते हैं। अगर आप डायरी रखें तो आप अपने पीरियड पकड़ लेंगे, उसी तरह जैसे रोज आदमी जिस वक्त पर सोता है, उसी वक्त पर नींद आती है। रोज भूख लगती है, वक्त पर।

अगर आप एक महीने भर डायरी रखें तो बहुत हैरान हो जायेंगे कि आपके क्रोध का भी पीरियड है, जो वक्त पर लौटता है, हमेशा लौट आता है। आपके सेक्स का भी वक्त है, जो हमेशा लौट आता है। लेकिन अगर आप डायरी रखें तो आपको खयाल रहे कि ठीक इसका भी एक कैलेण्डर है, इसके भी आवागमन का एक वर्तुल है।

पूरी जिंदगी हमारी--एक ज्वरों के वर्तुल में घूमती रहती है। कभी क्रोध, कभी काम, कभी लोभ, कभी कुछ, कभी कुछ। उसी में हम जीते और रिक्त होते चले जाते हैं। इनसे जो विगत हो जाए, इनसे जो पार हो जाए, वही व्यक्ति समर्पण को उपलब्ध हो सकता है, क्योंकि जो इनके पार हो जाए, उसके पास अहंकार बचता ही नहीं। इसलिए समर्पण अपने आप हो जाता है।

यहाँ एक बात और खयाल में ले लेनी जरूरी है कि समर्पण आप 'कर' नहीं सकते, समर्पण सदा 'होता' है। आपका किया हुआ समर्पण, समर्पण नहीं होगा, क्योंकि

करनेवाला मौजूद है और करनेवाला ही तो बाधा है; वही तो समर्पण नहीं होने देता। इसलिए अगर कोई कहे कि 'मैं स्वयं को परमात्मा को सर्मपित करता हूँ' तब समझना : समर्पण हुआ नहीं, क्योंकि कल यह आदमी कहेगा, कि 'वापस लेता हूँ' तो परमात्मा क्या कर सकता है ! एक आदमी जब कहे कि 'अब कोई उपाय ही नहीं है, मैं परमात्मा को सर्मपित हूँ', तब अब वापस लेनेवाला नहीं बचा। इसलिए कभी कोई, 'मैं' के रहते समर्पण नहीं कर सकता। अगर ठीक से समझें तो 'मैं' का न रह जाना ही समर्पण है। और 'मैं' कब नहीं रहेगा ? जब ज्वर नहीं रहेंगे।

इसे ऐसा भी समझ लें कि ज्वरों के जोड़ का नाम 'मैं' है। अभी मैंने आपसे कहा कि 'मैं' एक भ्रम है। लेकिन भ्रम भी काम करना है, क्योंकि ये ज्वर बड़े सत्य हैं और भ्रम इन ज्वरों के रथ पर सवार हो जाता है। ये ज्वर बड़े सत्य हैं। ये काम, क्रोध, लोभ बड़े सत्य हैं। इनका शारीरिक अर्थ भी है। इनका मानसिक अर्थ भी है। ये साइको-सोमेटिक हैं। शरीर और मन दोनों में इनका सत्य है। इनके ऊपर अहंकार सवारी करता है और इनको जब तक आप विर्सजित न कर दें, तब तक अहंकार रथ से नीचे नहीं उतरता। इनको कैसे विर्सजित करें ? ये ज्वर कैसे चले जायँ ?

पहली बात तो यह है कि इन्हें हमने कभी ज्वर की तरह, बीमारी की तरह देखा नहीं है। और जिस चीज को हम बीमारी की तरह न देखें, उसे हम कभी विर्सजित नहीं कर सकते। कोई आदमी टी. बी. नहीं बचाना चाहता और कोई आदमी कैन्सर नहीं बचाना चाहता। क्योंकि उनको हम बीमारियों की तरह पहचानते हैं। लेकिन क्रोध, लोभ, मोह, काम––इन्हें हम बीमारियों की तरह नहीं पहचानते। इसलिए हम इन्हें बचाना चाहते हैं।

हम कहते हैं कि बिना क्रोध के चलेगा कैसा ? कोई आदमी नहीं कहता कि बिना टी. बी. के चलेगा कैसे ? वह कहता है कि 'टी. बी. होगी तो चलेगा ही नहीं। टी. बी. एकदम अलग करो।' अभी हम शरीर की बीमारियाँ तो पहचानने लगे हैं। लेकिन मन की बीमारियाँ हम अभी तक नहीं पहचानते। और ध्यान रहे, अगर कोई आपके शरीर की बीमारियों की तरफ इशारा करे, तो आप कभी नाराज नहीं होते, लेकिन अगर आपके मन की बीमारियों की तरफ इशारा करे तो आप लड़ने को तैयार हो जाते हैं। कोई आदमी कहे कि देखिए, आपके पैर में घाव हो गया है, तो आप उससे लड़ते नहीं कि तुमने हमारा अपमान कर दिया कि हमारे पैर में घाव बता दिया। आप धन्यवाद देते हैं कि तुम्हारी बड़ी कृपा कि तुमने याद दिला दिया। लेकिन कोई आदमी कहे कि बड़े लोभी हो, तो लकड़ी लेकर खड़े हो जाते हैं कि आप क्या कह रहे हैं ? असल में मन की बीमारी को हम बीमारी स्वीकार नहीं करते। मन की बीमारी को तो हम समझते हैं कि कोई बड़ी धरोहर है, जिसे बचाना है; उसे बचा-बचा कर

रखना है, उसे सम्हाल-सम्हाल कर रखना है।

पहली तो शर्त यह है कि इन्हें बीमारी की तरह पहचानें और जिस दिन आप इन्हें बीमारी की तरह पहचानेंगे, उसी दिन छुटकारा शुरू हो जाएगा। 'द वेरी रिकग्निशन' ––इस बात की प्रत्यभिज्ञा कि ये बीमारियाँ हैं, आपको इनमें जाने से रोकने लगेंगे। और जब क्रोध आयेगा तो आपको लगेगा कि बीमारी आती है। हाथ ढीले पड़ जाएँगे, भीतर कोई चीज रुक जाएगी। लेकिन क्रोध बीमारी नहीं है, हमारी अकड़ है। हम सोचते हैं, क्रोध नहीं रहेगा तो रीढ़ ही टूट जाएगी। हम सोचते हैं कि क्रोध ही नहीं रहेगा, तो कौन हमारी फिक्र करेगा। हम सोचते हैं कि क्रोध नहीं रहेगा, तो जीवन की गति और जीवन का मोटिवेशन और जीवन की प्रेरणा सब चली जाएगी। हम कहते हैं कि लोभ नहीं रहेगा, तो फिर हम क्या करेंगे ! हमें पता ही नहीं है कि हम क्या कर रहे हैं !

लोभ की वजह से हम कुछ भी नहीं कर पाते। क्रोध की वजह से हम कुछ भी नहीं कर पाते। काम की वजह से हम कुछ भी नहीं कर पाते। हमारी सारी शक्ति तो इन्हीं छिद्रों में बह जाती है। बहुत दीन-हीन हुए भीतर जो थोड़ी बहुत शक्ति बच जाती है, उससे हम किसी तरह जिंदगी घसीट पाते हैं; हमारी जिंदगी आनन्द नहीं बन सकती। क्योंकि आनन्द सदा 'ओवर फ्लोअिंग एनर्जी' है। आनन्द सदा ही ऊपर से बह गयी शक्ति है––जैसे नदी में बाढ़ आ जाए और किनारे टूट जाएँ और नदी चारों तरफ नाचती हुई बहने लगे।

किसी पौधे में फूल तब तक नहीं आते, जब तक पौधे में जरूरत से ज्यादा शक्ति न हो। और अगर पौधे में जरूरत से ज्यादा शक्ति आती है, तो ओवरफ्लो हो जाते हैं उसके रंग––फूल बन जाते हैं। कोई पक्षी तब तक गीत नहीं गाता, जब तक उसके पास जरूरत से ज्यादा शक्ति न हो। जब जरूरत से ज्यादा शक्ति होती है, तो पक्षी गीत गाता है, मोर नाचता है। लेकिन आदमी की जिंदगी में सब नाच, सब आनन्द ––सब खो गया है।

कारण ? मोर हमसे ज्यादा होशियार हैं; कोयल हमसे ज्यादा बुद्धिमान हैं; फूल हमसे ज्यादा वैज्ञानिक हैं; नदियाँ हमसे ज्यादा प्रज्ञावान हैं––नहीं। एक ही बात की भूल हो गयी है। हम अपने को जरूरत से ज्यादा बुद्धिमान समझे हुए हैं। और अपनी बुद्धिमानी में न मालूम कितनी प्रकार की मूढ़ताओं को पाल रखा है। बीमारियों को भी हम स्वास्थ्य समझे बैठे हैं। दुश्मनों को मित्र समझते हैं; काँटों को फूल समझते हैं, फिर छाती से लगाते हैं। फिर वे गड़ते हैं, चुभते हैं, घाव कर देते हैं। और इन सारे ज्वरों में हमारी इतनी शक्ति व्यर्थ ही व्यय हो जाती है कि ओवरफ्लो करने के लिए, फूल बनने के लिए कभी कोई शक्ति शेष नहीं बचती।

इसलिए जिंदगी में आनंद (ब्लिस) कभी दिखाई नहीं पड़ता; जिंदगी एक उदास कहानी बन जाती है।

शेक्सपीयर ने कहीं कहा है, "Life is a tale told by an idiot full of furry and noise signifyig nothing." (एक मूर्ख के द्वारा कही हुई एक कहानी है जिंदगी। शोरगुल बहुत, मतलब कुछ भी नही।) बस, बचपन से लेकर बुढ़ापे तक बड़ा शोरगुल, जैसे भारी कुछ हो रहा है। अंत में हाथ कुछ भी नहीं। कहानी लंबी, दृश्य बहुत बदलते हैं, निष्कर्ष कोई भी नहीं, निष्पत्ति कोई भी नहीं। आखिर में खबर आती है कि वह आदमी मर गया और कहानी सदा बीच में ही टूट जाती है।

कहीं कुछ भूल हो रही है। वह भूल यह हो रहीं है कि जीवन की ऊर्जा (लाइफ-एनर्जी) ज्वर से बह रही है, बीमारियों से बह रही है, इसलिए हम जीवन के संगीत से, जीवन के फूल से वंचित ही रह जाते हैं, उन्हें शक्ति ही नहीं मिल पाती है। इस सूत्र में कृष्ण कह रहे हैं कि 'विगत-ज्वर होकर अर्जुन, तू मुझको समर्पित हो।' समर्पित वही हो सकता है, जो परम शक्तिशाली है। कमजोर कभी समर्पित नहीं हो सकता। समर्पण बड़ा आत्मबल है।

मैंने सुना है कि एक युवक ने विवाह किया नया-नया और अपनी पत्नी को लेकर वह दूर देश की यात्रा पर गया, नाव में। पुरानी कहानी है। तूफान आ गया और नाव डोलने-डगमगाने लगी और सारे यात्री कंपने-थर्राने लगे। कोई प्रार्थना करने लगा, कोई हाथ जोड़ने लगा, कोई भगवान् को बुलाने लगा, कोई मनौती मनाने लगा, लेकिन वह युवक बैठा हुआ है। उसकी पत्नी ने कहा कि 'क्या कर रहे हो तुम! कुछ प्रार्थना नहीं करोगे? कोई उपाय नहीं करोगे? तुम जरा भी भयभीत नहीं मालूम होते? नाव खतरे में है।' उस युवक ने अपनी तलवार म्यान के बाहर निकाल कर उस नई-नई दूल्हन के कन्धे पर रख दी। चमकती हुई तलवार, गरदन पास में है। जरा-सा धक्का और गरदन अलग। लेकिन वह युवती हँसती रही। उस युवक ने पूछा, 'तुझे भय नहीं लगता?' तो उस युवती ने कहा कि 'जब तुम्हारे हाथ में तलवार हो, तो मुझे भय कैसा?' उस युवक ने कहा कि 'परमात्मा के हाथ में जब सब कुछ है, तो मुझे भय कैसा।' तलवार म्यान के भीतर रख ली।

जब परमात्मा के हाथ में सब कुछ है तो भय कैसा? लेकिन सब कमजोर प्रार्थनाएँ कर रहे हैं; प्रार्थनाएँ करने वाले मालूम पड़ते हैं भक्त हैं बड़े, धार्मिक हैं। लेकिन यह आदमी धार्मिक है; इतना भरोसा है। लेकिन इतने भरोसे के लिए बड़ा शक्तिशाली आदमी चाहिए। यह कहता है: ठीक है, उसके हाथ में है। वह जानेगा, हम क्या सलाह दें? और जब हाथ में तलवार उसके है, तो उसकी मरजी; अगर गरदन ही काटनी है, तो काट ले। इसी में कुछ हित होगा, तो यही सही।

शक्तिशाली ही समर्पण करता है, अहंकारी सदा कमजोर होता है। लेकिन हम कहेंगे: गलत है। अहंकारी को तो यह 'कमजोर अहंकार' बड़ा बलशाली मालूम पड़ता है।

यहाँ आपसे एक और मनोवैज्ञानिक सत्य कहूँ: एडलर ने इस सदी में कुछ गहरे मनोवैज्ञानिक सत्यों की शोध की है, उसमें एक सत्य यह भी है कि जितना हीन आदमी होता है, उतना ही अहंकारी होता है। जितना 'इनफीरियॉरिटी' (हीन-भाव) से पीड़ित आदमी होता है, उतना अहंकारी होता है। क्योंकि जिसके पास शक्ति होती है, उसे अहंकार की कोई जरूरत ही नहीं होती। उसकी शक्ति दिखती ही है; उसकी घोषणा की कोई जरूरत नहीं होती। उसके लिए बैंड-बाजे बजाकर कोई खबर नहीं करनी पड़ती। वह होती ही है।

सूरज कोई खबर नहीं करता कि मैं आता हूँ। आ जाता है और सारी दुनिया जानती है कि आ गया। फूल खिलने लगते हैं और पक्षी गीत गाने लगते हैं और लोगों की नींद टूट जाती है। वृक्ष जाग जाते हैं, हवाएँ बहने लगती हैं, सागर की लहरें उठने लगती हैं। सब तरफ पता चल जाता है कि आ गया। उसका आना ही काफी है। लेकिन कोई नकली सूरज अगर आ जाए, जिसके पास भीतर कोई ताकत न हो, तो सामने वह बैंड मास्टरों को लाएगा, और कहेगा, 'चोट करो, खबर करो कि मैं आता हूँ।' क्योंकि खुद के आने से तो कोई खबर नहीं हो सकती।

यह जो हमारा अहंकार है, वह भीतर की कमजोरी को छिपाता है; यह सामने से इंतजाम करता है। पता है इसे कि भीतर मैं कमजोर हूँ। सीधा तो मेरा कोई भी पता नहीं चलेगा। हाँ, मिनिस्टर हो जाऊँ, तो पता चल सकता है। कुर्सी पर बैठ जाऊँ, तो पता चल सकता है। धन मेरे पास हो, तो पता चल सकता है। बड़ा मकान मेरे पास हो, तो पता चल सकता है, ऐसे मेरा तो कोई पता नहीं चलेगा। कुछ हो, जिसके सहारे मैं घोषण कर सकूँ कि मैं हूँ। मैं 'सम-बड़ी' हूँ, 'नो-बड़ी' नहीं हूँ। मैं 'कुछ नहीं' नहीं हूँ, कुछ हूँ। लेकिन कुछ हूँ अगर भीतर, तब तो कोई जरूरत नहीं है। महावीर नंगे भी खड़े हो जायँ, तो भी पता चलता है कि वे हैं। बुद्ध भिक्षा का पात्र लेकर भी गाँव में निकल जायँ, तो भी पता चल जाता है कि वे हैं।

बुद्ध एक गाँव में गये। उस गाँव के सम्राट् ने अपने वजीर से पूछा कि 'मेरी पत्नी कहती है, बुद्ध के स्वागत के लिए मुझे भी जाना चाहिए। लेकिन क्या यह उचित है? मैं एक सम्राट् हूँ, वह एक भिखारी है, उसे आना होगा आ जायेगा।' आजकल का कोई मंत्री होता तो कहता 'धन्य महाराज! आप बिलकुल ठीक कहते हैं।' लेकिन उस मंत्री ने इतना सुना, कागज उठाया, कलम उठाया, तो सम्राट् ने पूछा क्या करते हो? उसने कहा कि 'मेरा इस्तीफा स्वीकार करें।' कोई बात नहीं हुई, इस्तीफा

किस बात का ? उसने कहा कि 'ऐसी जगह एक क्षण रुकना कठिन है। क्योंकि जिस दिन सिर्फ अहंकार आत्मा के सामने अपने को श्रेष्ठ समझेगा, उस दिन से बड़ा दुर्भाग्य नहीं होगा। आपको जाना पड़ेगा। क्योंकि बुद्ध भिक्षा का पात्र लिये हुए भी भिखारी नहीं हैं, सम्राट् हैं और तुम सम्राट् होते हुए भिखारी हो। तुम्हारे पास कुछ नहीं है। तुम से अगर सब छीन लिया जाय, तो तुम ना-कुछ हो जाओगे। बुद्ध ने सब कुछ छोड़ दिया है, फिर भी वे सब कुछ हैं।'

असल में जो सब कुछ है, वही सब कुछ छोड़ पाता है। जो कुछ भी नहीं है, वह छोड़ेगा कैसे ?

अहंकार बहुत दीनता को छिपाये रहता है भीतर। वह हमेशा 'इनफीरियॉरिटी कॉम्पलेक्स' का बचाव है, वह हीन-ग्रन्थि का इंतजाम है, सुरक्षा का इंतजाम है, सेफ्टी मेजर है। तो अहंकारी निर्बल होता है। निर्बल अहंकारी होता है। सबल—आत्मबल से भरा हुआ व्यक्ति अहंकारी नहीं होता। और आत्मबल से भरा हुआ व्यक्ति ही समर्पण कर सकता है। क्योंकि समर्पण शक्ति की सबसे बड़ी घोषणा है। यह बात बड़ी कन्ट्राडिक्टरी (अन्तर्विरोधी) मालूम होगी। समर्पण का संकल्प सबसे बड़ा संकल्प है। इससे बड़ा कोई विल पावर नहीं जगत् में कि आदमी कह सके कि मैंने छोड़ा, सब छोड़ा।

कृष्ण जब अर्जुन से कहते हैं कि सब मुझ पर छोड़ दे; छोड़—अपनी सब बीमारियों को, छोड़ आकांक्षाओं को, छोड़ ममताओं को, छोड़ आशाओं को, छोड़ अपेक्षाओं को, सब छोड़ दे, मुझ पर छोड़ दे। इस में दो मजेदार बात है। अगर अर्जुन बहुत सबल हो, तो छोड़ सकता है। लेकिन कृष्ण बहुत सबल आदमी हैं। छोड़ना भी सबल के लिए संभव है और किसी को इस भाँति छोड़ने के लिए कहना भी सबल के लिए संभव है। निर्बल के लिए दोनों संभव नहीं है।

कृष्ण कितनी सहजता से कहते हैं कि छोड़ सब मेरे ऊपर! दूसरे की बीमारियाँ लेने को केवल वही राजी हो सकता है, जिसे अब बीमार होने की कोई सम्भावना नहीं है। दूसरों के भार लेने को केवल वही राजी हो सकता है, जो इतना निर्भार है कि अब कोई भार उसके लिए भार नहीं बन सकता। दूसरों को सहारा देने के लिए वही कह सकता है, जिसे अब खुद किसी तरह के सहारे की कोई भी जरूरत नहीं रह गई। कृष्ण बड़ी सबलता से कहते हैं; इतनी सबलता से कि बहुत मुश्किल से कभी ऐसा कहा गया है। और अब, अब इतना सबल आदमी खोजना बहुत मुश्किल होता चला जाता है। कृष्ण कहते हैं कि 'छोड़, तू सब मुझ पर छोड़ दे।' यह तभी वे कह पाते हैं, जब कि परमात्मा से तादात्म्य इतना गहरा है कि उन्हें पता है कि मुझ पर क्या छूटता है, परमात्मा पर छूटता है। कृष्ण बीच में हैं ही नहीं।

अर्जुन भी तभी छोड़ सकता है, जब स्वयं के सारे ज्वरों के बाहर हो जाय। तब तक नहीं छोड़ सकता है, जब तक उसे एक-एक ज्वर पकड़ेगा। वह एक-एक सवाल उठाएगा। उसकी हर बीमारी के अपने सवाल हैं, अपनी जिज्ञासाएँ हैं। और गीता अर्जुन की एक-एक बीमारी का उत्तर है। अनेक-अनेक मार्गों से अर्जुन कृष्ण से वही-वही पूछेगा। वह कृष्ण से उत्तर नहीं चाह रहा है, वह कृष्ण से मार्ग नहीं चाह रहा है। क्योंकि मार्ग इससे सरल और क्या हो सकता है कि कृष्ण कहते हैं कि छोड़ मुझ पर।

एक महिला मेरे पास आई अभी आठ-दस दिन पहले। वह मुझे कहने लगी कि 'संतों के हाथ में तो सब कुछ है। आप सब कुछ कर दें, मेरे लिए। मैंने कहा, 'राजी हूँ। तू क्या करने का इरादा रखती है?' उसने कहा, 'हमसे क्या हो सकता है?' मैंने उसको कहा, 'मैं राजी हूँ। तू अपने को छोड़ने की हिम्मत रखती है।' छोटी उम्र नहीं; सत्तर साल उम्र होगी। बूढ़ी स्त्री है। अब कुछ छोड़ने को बचा भी नहीं है, सिर्फ मौत है आगे। उसने कहा कि 'मैं घर अपने लड़के से, बहू से पूछ कर आपको कुछ कहूँगी।' लेकिन बोली कि 'संत तो सब कर सकते हैं, आप कर ही दें। संत क्या नहीं कर सकते?'

बड़ा मजेदार है सब मामला। संत निश्चित ही सब कुछ कर सकते हैं, लेकिन सिर्फ उन्हीं के लिए जो सब कुछ छोड़ने की हिम्मत रखते हैं। तत्काल हो जाता है सब कुछ। संत को कुछ करना नहीं पड़ता। संत तो सिर्फ वेहिकल बन जाता है, सिर्फ परमात्मा के लिए साधन हो जाता है। पर आज दुनिया बहुत बदल गई है।

कृष्ण कहते हैं,'छोड़ मुझ पर।' अर्जुन छोड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। आज तो हालत और उलटी है। आज तो कोई कहेगा नहीं किसी से कि छोड़ मुझ पर। क्योंकि हम समझेंगे कि पता नहीं 'बैंक बैलेंस' छुड़ा लेगा, कि पता नहीं क्या मतलब है। फिर दुबारा आयेंगे ही नहीं वहाँ। क्योंकि हम तो संतों के पास लेने जाते हैं, देने तो नहीं जाते। हम कहेंगे, 'यह किस तरह का संत है!'

गुरजिएफ से अगर कोई सवाल पूछता, तो वह कहता, 'सौ रुपये पहले रख दो।' लोग कहते 'आप कैसे संत हैं? हम तो सवाल पूछते हैं और आप सौ रुपये माँगते हैं!' तो गुरजिएफ कहता कि 'मैं बहुत सस्ते में तुम्हें जवाब दे रहा हूँ।' इस तुलना में कृष्ण का बड़ा महँगा जवाब है—वे कह रहे हैं कि तू छोड़ दे सब। सौ रुपये नहीं—सब। तू अपने को ही छोड़ दे। वे अर्जुन से कह रहे हैं कि सब छोड़ दे मुझ पर—सारी आशा, सारी आकांक्षा, सारी ममता; मैं तयार हूँ। लेकिन अर्जुन तैयार नहीं है।

अर्जुन की हालत वैसी है, जैसे कभी-कभी ऐसा होता है कि ट्रेन में कोई देहाती आदमी आ जाय, तो सिर पर बिस्तर रखकर बैठ जाता है। इस खयाल में कि कहीं ट्रेन में ज्यादा वजन न पड़े, तो खुद बैठे रहते हैं और सिर पर बिस्तर रखे रहते हैं। हम सब

भी ऐसा ही करते हैं। हम सोचते हैं कि परमात्मा पर ज्यादा वजन न पड़ जाय, इसलिए अपना वजन खुद ही रखे रहते हैं। सब वजन परमात्मा पर है, आपका भी, आपके वजन का भी। सब उसी पर है। और जब 'ट्रेन' चल ही रही है, तो नाहक सिर पर क्यों बोझ रखे हुए हैं!

कृष्ण इतना ही कहते हैं कि 'बिस्तर' नीचे रख, मुझ पर छोड़ दे, तू आराम से बैठ। तू नाहक इतना बोझ क्यों लिये हुए है? तू इतनी चिंता में क्यों पड़ता है कि क्या होगा युद्ध से? कौन मरेगा, कौन बचेगा? इतने लोग मर जायँ, तो फिर क्या होगा? समाज का क्या होगा? राज्य का क्या होगा? तू इतनी सारी चिंताएँ अपने सिर पर क्यों लेता है? तू छोड़ दे मेरे ऊपर।

अर्जुन को चिंता है भी नहीं, वह सब। हम कभी भी नहीं पहचान पाते कि हम सब तरह से 'रेशनॅलाइजेशन्स (तर्कगत व्याख्या) करते रहते हैं। अर्जुन सिर्फ भागना चाहता है। वह अपनों से लड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा है, इसलिए सब तर्क खोज रहा है। वह तर्क का एक जाल खड़ा कर रहा है। वह कह रहा है, यह तकलीफ होगी, वह तकलीफ होगी, यह तकलीफ होगी। कुल मामला इतना है कि तकलीफों से उसे कोई मतलब नहीं है। मतलब उसका सिर्फ इतना है कि 'मेरों से कैसे लड़ूँ? यह उसका 'मैं' जो है, वह 'मेरों' से लड़ने के लिए तैयार नहीं हो पाता। किसी का 'मैं तैयार नहीं हो पाता। 'मेरों' से हम कभी लड़ने को तैयार नहीं होते। और इसलिए अकसर होता है कि अगर 'मेरों' से लड़ने की हालत आ जाय, तो बड़ी कठिनाई होती है और तब अगर 'तेरों' से लड़ने का मौका कोई मिल जाय, तो 'मेरों' की लड़ाई एकदम बंद हो जाय।

आपने देखा, चीन का हमला हो गया हिन्दुस्तान पर, तो फिर हिन्दुस्तान में हिन्दी बोलने वाले, गैर-हिन्दी बोलने वालों का कोई झगड़ा नहीं। फिर हिन्दू मुसलमान का कोई झगड़ा नहीं। फिर मैसूर महाराष्ट्र का कोई झगड़ा नहीं। फिर मद्रास इसका या उसका—ऐसा कोई झगड़ा नहीं; सब झगड़े शांत—'मेरों' से लड़ाई बंद? क्योंकि 'तेरों' से लड़ाई शुरू हो गई।

लड़ने में कोई दिक्कत नहीं, लेकिन 'मेरों' से लड़ने में बड़ी कठिनाई होती है। हाँ, जब कोई 'तेरे' मिलते ही नहीं, तो मजबूरी में 'मेरों' से लड़ते हैं। इसलिए सारी दुनिया में 'तेरों' से लड़ाई खोजी जाती है; चौबीस घंटे खोजी जाती है। नहीं तो 'मेरों' से लड़ाई हो जाएगी।

अभी मेरे एक मित्र की पत्नी मेरे पीछे पड़ी थी कि मेरे पति को समझा दें कि वे अलग हो जाय माँ-बाप से। मैंने मित्र को बुलाकर कहा कि लगता तो है कि जहाँ उपद्रव चलता है, तो अलग हो जाओ। तो एक ही बात मुझे पूछनी है कि अभी तुम्हारी

पत्नी तुम्हारे माँ-बाप से लड़ लेती है, तुम्हें पक्का भरोसा है कि उनसे छूटकर तुमसे नहीं लड़ेगी? जहाँ तक मैं समझता हूँ——लड़ेगी। क्योंकि और करेगी क्या? वह 'तेरों' से लड़ाई बंद हो जायेगी, तो और पास सरक आयेगी। इसलिए संयुक्त परिवार थे, तो पति-पत्नियों में कलह नहीं होती थी।

आपको मालूम है, संयुक्त परिवार थे तो पति-पत्नी में कभी कलह नहीं थी। जिस दिन से संयुक्त परिवार टूटा, उस दिन से पति-पत्नी की कलह बहुत गहरी हो गई। पति-पत्नी बच नहीं सकते, वे भी टूटेंगे। संयुक्त परिवार में बड़ा हिस्सा चलता रहता था, अपनों को बचाकर लड़ाई चलती रहती थी। दूसरे काफी थे, उनसे लड़ाई हो जाती थी। अब कोई बचे ही नहीं। अब दो ही बचे हैं पति-पत्नी। अब वे लड़ेंगे। इसलिए अकसर ऐसा होता है कि पति-पत्नी साँझ अकेली न बीत जाय, इससे डरे रहते हैं। किसी मित्र को बुला लो, किसी मित्र के घर चले जाओ। कोई तीसरा मौजूद रहे, तो साँझ सरलता से बीत जाती है।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि तू सब छोड़ दे मुझ पर, फिर तेरे लिए करने को कुछ नहीं बचता; मैं करूँगा। तू वाहन हो जा।

धर्म की एक ही पुकार है कि आप सिर्फ वाहन हो जायँ और परमात्मा को करने दें। आप कर्ता न बनें, परमात्मा पर कर्तव्य छोड़ दें सब और साधन, 'इस्ट्रुमेन्ट' मात्र रह जायँ। कबीर ने कहा कि जब से मैंने जाना, तब से गीत मेरे नहीं रहे। मैं तो सिर्फ बाँसुरी हूँ। मैं तो सिर्फ बाँस की पोंगरी हूँ, गीत परमात्मा के हैं। जो भी जान लेता है, वह बाँस की पोंगरी रह जाता है। स्वर परमात्मा के, गीत परमात्मा का, हम केवल मार्ग रह जाते हैं।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि 'तू बस, मार्ग बन जा। मुझे मार्ग दे; जो मुझे करना है, होने दे।' 'मुझे' से मतलब परमात्मा को जो करना है, वह होने दे।

कृष्ण क्यों इतने आश्वस्त ढंग से अर्जुन से कह सके? अर्जुन को शक नहीं आता कि कृष्ण अपने को परमात्मा क्यों बनाये चले जा रहे हैं! अनेकों को शक आता है। जब भी कोई गीता पढ़ता है, तो अगर भक्त पढ़ता है, तब तो उसे कुछ पता नहीं चलता, लेकिन अगर कोई विचार करके पढ़ता है, तो उसे खयाल आता है कि कृष्ण क्यों ऐसा कहते हैं कि 'मुझ पर सब छोड़ दे।' बड़े अहंकारी मालूम होते हैं!

मुझे अनेक लोगों ने कहा कि कृष्ण का अहंकार भारी मालूम पड़ता है। वे कहते हैं, मुझ पर सब छोड़ दो। एक तरफ अर्जुन से कहते हैं, अहंकार छोड़ और एक तरफ कहते हैं, मुझ पर सब छोड़! तो क्या यह अहंकार ही नहीं है? मैंने उनसे कहा कि कृष्ण इतनी सरलता से कहते हैं कि 'मुझ पर सब छोड़' कि अहंकार नहीं हो सकता। अहंकार कभी सीधा नहीं कहता कि सब मुझ पर छोड़। अहंकार सदा तरकीब से

जीता है। अहंकार कहता है कि मैं तो आपके पैर की धूल हूँ। जरा आँख में देखें, तब पता चलेगा। इधर हाथ पैर में झुके होते हैं, उधर आँखें आकाश में जड़ी होती हैं।

अहंकार कहता है, 'मैं तो कुछ भी नहीं।' लेकिन अगर आपने मान लिया कि आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं, बिलकुल सच कह रहे हैं कि कुछ भी नहीं, तो बड़ा दुःखी होता है। नहीं, अब अहंकार कहता है, 'मैं कुछ भी नहीं, तो वह सुनना चाहता है कि आप कहें कि 'आप भी कैसी बात कर रहे हैं! आप तो सब कुछ हैं।' तब वह प्रसन्न हो जाता है।

अहंकार कभी सीधा नहीं बोलता। उसका कारण है। अहंकार इसलिए सीधा नहीं बोलता कि सीधा अहंकार दूसरे के अहंकार को चोट पहुँचाता है और दूसरे के अहंकार को चोट पहुँचा कर आप कभी अपने अहंकार की तृप्ति नहीं कर सकते। इसलिए जो 'कनिंग' अहंकार हैं, जो चालाक अहंकार हैं—और सब अहंकार चालाक हैं—वे तरकीब से अपनी तृप्ति करते हैं। वे दूसरे के अहंकार को परसुएड करते हैं, फुसलाते हैं।

वान पेकार्ड ने एक किताब लिखी है, 'द परसुएडर'—(फुसलानेवाले)। वे चारों तरफ हैं। लेकिन अहंकार से बड़ा 'परसुएडर' कोई भी नही है। अहंकार बड़ी तरकीब से फुसलाता है। वह जो कहलवाना चाहता है, वह जो खुद कहना चाहता है, वह दूसरे से कहलवाता है। अगर आप किसी स्त्री से कहलवाना चाहते हैं कि आप बड़े सुंदर हैं, तो आप खुद मत कह देना जाकर कि मैं सुंदर हूँ, नहीं तो मुश्किल में पड़ जाएँगे। नहीं, आप कहेंगे कि 'तुम बड़ी सुंदर हो; तुमसे सुंदर कोई भी नहीं; और फिर प्रतीक्षा करना। फिर वह स्त्री जरूर कहेगी कि आपसे सुंदर कोई भी नहीं है। यह एक 'म्यूचुअल ग्रेटिफिकेशन' (पारस्परिक तृप्ति) है। यह एक दूसरे के अहंकार की तृप्ति है। आप उन्हें बड़ा बनाओ, वे आपको बड़ा बनाते हैं। एक नेता दूसरे नेता को बड़ा बनाता है, दूसरा नेता तीसरे को। एक महात्मा दूसरे महात्मा को, दूसरा महात्मा तीसरे को। एक दूसरे को बड़ा बनाते चले जाओ। इस तरह परोक्ष, इन्डाइरेक्ट, अहंकार अपने रास्ते खोजता है।

कृष्ण अद्‌भुत निरहंकारी व्यक्ति हैं; वे कहते हैं, 'छोड़ मुझ पर।' वे इतनी सरलता से कहते हैं कि अहंकार कहीं लेश-मात्र मालूम नहीं पड़ता। अहंकार कभी इतना सरल होता ही नहीं। अहंकार हमेशा तिरछा चलता है। कृष्ण की सहजता अद्‌भुत है। वे यह भी नहीं कहते हैं कि मैं भगवान् हूँ, इसलिए छोड़ मुझ पर। क्योंकि वह भी 'इन्डाइरेक्ट' हो जाएगा। ऐसा वे नहीं कहते। वे कहते हैं, छोड़ मुझ पर। कोई कारण भी नहीं देते। कोई परोक्ष उपाय भी नहीं करते। सीधा कहते हैं कि छोड़ मुझ पर। यह सरलता ही उनके निरहंकार होने की घोषणा है। इतना

अत्यधिक सीधापन उनके निरहंकार होने का सबूत है। और जब वे कहते हैं, 'छोड़ मुझ पर तो आज हमारे सामने वे मौजूद नहीं हैं, इसलिए बड़ी कठिनाई होती है।

दुनिया में जो भी महत्त्वपूर्ण सत्य आज तक प्रगट हुए हैं, वे लिखे नहीं गये, बोले गये। इस बात को खयाल में रखना। दुनिया का कोई पैगम्बर, कोई तीर्थंकर, लेखक नहीं था। दुनिया का कोई अवतार लेखक नहीं था। यह स्मरण रखना। चाहे बाइबिल, और चाहे कुरान, और चाहे गीता, और चाहे बुद्ध और चाहे महावीर के वचन, चाहे लाओत्से के—ये सब वचन बोले गये। ये लिखे नहीं गये और इनके मुकाबले लेखक अभी भी कहीं नहीं पहुँच पाता। उसका कारण है कि बोले गये शब्दों में एक लिविंग क्वालिटी (जीवंत गुण) है।

जब अर्जुन से कृष्ण ने बोला होगा, तो सिर्फ शब्द नहीं था। हमारे सामने सिर्फ शब्द है। जब कृष्ण ने अर्जुन से कहा होगा कि छोड़ मुझ पर, तो कृष्ण की आँखें, और कृष्ण के हाथ, और कृष्ण की सुगंध, और कृष्ण की मौजूदगी ने, सब ने अर्जुन को घेर लिया होगा। कृष्ण की उपस्थिति ने अर्जुन को चारों तरफ से लपेट लिया होगा। कृष्ण के प्रेम, और कृष्ण के आनन्द, और कृष्ण के प्रकाश ने अर्जुन को सब तरफ से भर लिया होगा। नहीं तो अर्जुन भी पूछता कि 'आप भी क्या बात करते हैं? सारथी होकर मेरे और मुझसे कहते हैं कि आपके चरणों में सब छोड़ दूँ? अर्जुन ने यह कहने का उपाय भी नहीं पाया होगा। पाया ही नहीं। अर्जुन को यह प्रश्न भी नहीं उठा, क्योंकि कृष्ण की मौजूदगी ने ये सब प्रश्न गिरा दिये होंगे। कृष्ण की मौजूदगी अर्जुन को वहाँ-वहाँ छू गई होगी, जहाँ-जहाँ प्राण की गहराइयाँ हैं—वहाँ-वहाँ। और इसलिए अर्जुन को शक भी नहीं उठता कि यह कहीं अहंकार तो नहीं पूछ रहा है मुझसे कि इनके चरणों में अपने को छोड़ दूँ। अहंकार वहाँ मौजूद ही नहीं था; वहाँ कृष्ण की पूरी प्रतिभा, पूरी आभा मौजूद थी।

बुद्ध के चरणों में लोग आते हैं और बुद्ध के चरणों में लोग सिर रखते हैं। और बुद्ध के पास आकर त्रिरत्न की घोषणा करते हैं। वे कहते हैं—'बुद्धं शरणं गच्छामि। एक दिन एक आदमी आया और उसने बुद्ध से कहा, 'आप तो कहते हैं कि किसी की शरण में मत जाओ और आपकी शरण में आकर लोग आप के सामने ही कहते हैं: बुद्धं शरणं गच्छामि—मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ। आप रोकते क्यों नहीं?' बुद्ध ने कहा: जो रोक सकता था, वह अब मेरे भीतर कहाँ है? और किसने तुमसे कहा कि वे मेरी शरण जाते हैं! मेरी शरण में वे जाते नहीं, क्योंकि मैं तो बचा नहीं। शायद मेरे द्वारा वे किसी और की शरण जाते होंगे, जो बचा है। मैं तो सिर्फ एक दरवाजा हूँ—जस्ट अ डोर, जस्ट अ विन्डो—एक खिड़की, एक दरवाजा।' इस दरवाजे, इस खिड़की पर आप हाथ रख कर मकान के भीतर के मालिक को नमस्कार करते हैं।

खिड़की क्यों रोके, खिड़की क्यों कहे कि अरे-अरे ! ये क्या कर रहे हैं ? मत करिये नमस्कार मुझे। लेकिन उसको कर ही नहीं रहे हैं। बुद्ध कहते हैं, 'वे मुझे तो नमस्कार करते ही नहीं, मेरी शरण वे जाते नहीं, मैं तो हूँ नहीं। एक द्वार हूँ, जहाँ से वे किसी को निवेदन करते हैं।'

कृष्ण जरूर इस क्षण में एक द्वार बन गये होंगे। नहीं तो अर्जुन भी सवाल उठाता —उठाता ही। अर्जुन छोटा सवाल उठाने वाला नहीं। कृष्ण द्वार बन गये होंगे। और अर्जुन ने अनुभव किया होगा कि जो कह रहा है, वह मेरा सारथी नहीं; जो कह रहा है, वह मेरा सखा नहीं है। जो कह रहा है, वह स्वयं परमात्मा है। ऐसी प्रतीति में अगर अर्जुन को कठिनाई लगी होगी, तो वह कृष्ण के भगवान् होने की नहीं, वह अपने समर्पण के सामर्थ्य न होने की कठिनाई लगी होगी। वही लगी है।

नौवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, दिनांक ४ जनवरी, १९७१
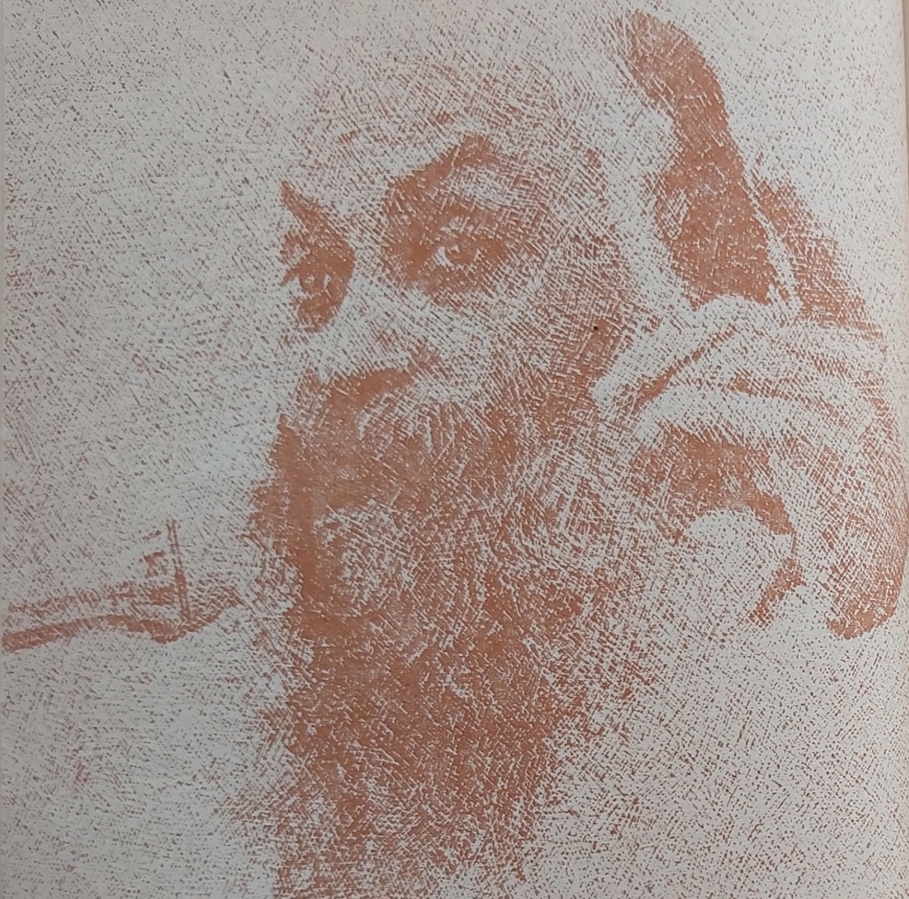
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्तेऽपिकर्मभिः ।। ३१ ।।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वं ज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।। ३२ ।।
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। ३३ ।।

और हे अर्जुन जो कोई भी मनुष्य दोषबुद्धि से रहित और श्रद्धा से युक्त हुए सदा ही मेरे इस मत के अनुसार बर्तते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण कर्मों से छूट बजाते हैं। और जो दोषदृष्टि वाले मूर्ख लोग इस मेरे मत के अनुसार नहीं बर्तते हैं, उन सम्पूर्ण ज्ञानों में भ्रमित चित्त वालों को तू कल्याण मार्ग से भ्रष्ट हुए ही जान। क्योंकि सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा !

श्रद्धा है द्वार

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि जो मैंने कहा है, श्रद्धापूर्ण हृदय से उसे अंगीकार करके जो जीता और कर्म करता है, वह समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है, वह समस्त कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

श्रद्धा शब्द को थोड़ा समझेंगे, तो इस सूत्र के हृदय के द्वार खुल जायेंगे। श्रद्धा शब्द के आसपास बड़ी भ्रांतियाँ होती हैं। सबसे बड़ी भ्रांति तो यह है कि श्रद्धा का अर्थ लोग करते हैं: विश्वास, 'बिलीफ' या कुछ लोग श्रद्धा का अर्थ करते हैं: फेथ—अंधविश्वास। दोनों ही अर्थ गलत हैं। क्यों? जो भी विश्वास करता है, उसके भीतर अविश्वास सदा ही मौजूद रहता है। असल में अविश्वासी के अतिरिक्त और कोई विश्वास करता ही नहीं। यह उलटी लगेगी बात, लेकिन विश्वास की जरूरत ही इसलिए पड़ती है कि भीतर अविश्वास है। जैसे बीमार को दवा की जरूरत पड़ती है, ऐसे अविश्वासी चित्त को विश्वास की जरूरत पड़ती है। भीतर है संदेह, भीतर है अविश्वास, उसे दबाने के लिए विश्वास, बिलीफ को हम पकड़ते हैं।

श्रद्धा विश्वास नहीं है। भीतर अविश्वास हो और उसे दबाने के लिए कुछ पकड़ा हो, तो उसका नाम विश्वास है। और भीतर अविश्वास न रह जाय, शून्य हो जाय, तब जो शेष रह जाती है, वह श्रद्धा है। भीतर अविश्वास हो...एक आदमी को विश्वास न हो कि ईश्वर है और विश्वास करे...जैसे कि अधिक लोग किये हुए हैं ...विश्वास बिलकुल नहीं है, लेकिन किये हुए हैं। विश्वास भी नहीं है, अविश्वास करने की हिम्मत भी नहीं है। भीतर अविश्वास है गहरे में, ऊपर से विश्वास के वस्त्र ओढ़े हुए हैं। ऐसी बिलीफ, ऐसा विश्वास स्किनडीप, चमड़ी से ज्यादा गहरा नहीं होता। जरा जोर से खरोंचो—भीतर का अविश्वास बाहर निकल आता है।

श्रद्धा का ऐसा अर्थ नहीं है। श्रद्धा बहुत ही कीमती शब्द है। श्रद्धा का अर्थ है:

जहाँ अविश्वास नष्ट हो गया—विश्वास आ गया नहीं। श्रद्धा का अर्थ है, जहाँ अविश्वास नहीं रहा। जब भीतर कोई अविश्वास नहीं होता, तब श्रद्धा फलित होती है। या कहें श्रद्धा अविश्वास का अभाव है। 'एबसेन्स ऑफ डिस-बिलीफ, प्रेजेन्स ऑफ बिलीफ नहीं'—विश्वास की उपस्थिति नहीं, अविश्वास की अनुपस्थिति। इसलिये कोई आदमी कितना ही विश्वास करे, कभी श्रद्धा को उपलब्ध नहीं होता। उसके भीतर अविश्वास खड़ा ही रहता है और काँटे की तरह चुभता ही रहता है।

एक आदमी कहे चला जाता है कि आत्मा अमर है और फिर भी मरने से डरता चला जाता है। एक तरफ कहता है, आत्मा अमर है, दूसरी तरफ मरने से भयभीत होता है। यह कैसा विश्वास है? इसके पीछे अविश्वास खड़ा है। कहता है, आत्मा अमर है और डरता है मरने से। अगर आत्मा अमर है, तो मरने का डर बेमानी है। अब यह कैसे आश्चर्य की बात है। लेकिन अगर ठीक से देखेंगे तो आश्चर्य नहीं मालूम पड़ेगा। सौ में निन्यानबे मौकों पर संभावनाएँ यही हैं कि चूंकि मरने का डर है, इसलिये मानते हैं कि आत्मा अमर है। इस विश्वास को किये चले जाते हैं। डर है भीतर कि मर न जायँ, तो 'आत्मा अमर है' इस पाठ को रोज-रोज पढ़े चले जाते हैं। दोहराये चले जाते हैं कि आत्मा अमर है। समझाये चले जाते हैं अपने को कि आत्मा अमर है। और भीतर जिसे दबाने के लिये आप कह रहे हैं, आत्मा अमर है, वह मिटता नहीं है। वह भय और गहरे में सरकता चला जाता है। हमारे सारे विश्वास ऐसे ही हैं।

कृष्ण भी कह सकते थे कि विश्वासपूर्वक जो मेरी बात को मानता है, वह कर्म से मुक्त हो जाता है। उन्होंने यह नहीं कहा। यद्यपि गीता के अर्थ करने वाले वही अर्थ किये चले जाते हैं। वे लोगों को यही समझाये चले जाते हैं कि विश्वास करो। कृष्ण कह रहे हैं—श्रद्धा—विश्वास नहीं। विश्वास दो कौड़ी की चीज है। श्रद्धा की कोई कीमत ही आँकनी मुश्किल है। उदाहरण के लिये थोड़ा समझाऊँ :

विवेकानन्द खोजते थे कि परमात्मा है या नहीं है। खबर मिली कि रवीन्द्रनाथ के दादा, महर्षि हैं। खबर मिली कि वे गाँव में आये हैं। नाव पर—बजरे में वे साधना करते हैं। आधी रात किसी मित्र ने यह कहा। आपसे कहा होता तो आप कहते, सुबह उठकर चल पड़ेंगे; सुबह मिल लेंगे। पर विवेकानन्द आधी रात ही गंगा पार करके बजरे पर चढ़ गये। धक्का दिया, दरवाजा खुल गया। महर्षि ध्यान कर रहे थे। ध्यान फिर उचट गया। विवेकानन्द ने जाकर कोट का कालर पकड़ लिया और कहा, 'ईश्वर है?' अब ऐसे जिज्ञासाएँ नहीं की जातीं! यह कोई शिष्ट बात नहीं है। लेकिन जो परमात्मा के लिये दीवाने हैं, वे शिष्टाचार के लिये नहीं रुक पाते। कोई भी दीवाना नहीं रुक पाता है। महर्षि ने कहा, 'बैठो भी, यह भी कोई ढंग है!' अँधेरी रात, पानी से तर-बतर, नदी में तैर

कर आया हुआ युवक, आकर गर्दन पकड़ ले और कहे, ईश्वर है? महर्षि ने कहा, 'बैठो भी।' पर विवेकानन्द ने कहा कि 'नहीं, जवाब मिल गया। आपकी झिझक ने कह दिया कि आपको पता नहीं। अन्यथा मैं पूछता हूँ—ईश्वर है—और आप देखते हैं कि मेरे कपड़े पानी में भीगे हुए हैं। मैं पूछता हूँ, ईश्वर है?—और आप देखते हैं कि आधी रात है। मैंने नहीं देखी।' जो अभी खोज रहा है, वह क्या खाक देखेगा कि आधी रात है। विवेकानन्द कूद पड़े वापस। महर्षि ने बहुत बुलाया कि 'युवक, ठहर; जवाब लेकर जा।' विवेकानन्द ने पानी से कहा, 'जवाब मिल गया। झिझक ने सब कह दिया कि अभी कुछ पता नहीं है।'

फिर यही विवेकानन्द कुछ महीनों के बाद रामकृष्ण के पास गये। भक्त इकट्ठे थे; बीच में घुसकर जाकर उनके पास खड़े होकर कहा, 'ईश्वर है?' उसी तरह जैसे उस दिन रात महर्षि को पकड़ कर कहा था कि ईश्वर है। रामकृष्ण ने यह नहीं कहा कि है या नहीं। रामकृष्ण ने जवाब में ही जवाब दिया और कहा, 'तुझे जानना है?' विवेकानन्द ने लिखा है कि वे आँखें....रामकृष्ण का वह कहना कि 'तुझे जानना है? फिक्र छोड़ इसकी कि है या नहीं। तुझे जानना है क्या, यह बता तो मैं तैयार हूँ।' विवेकानन्द ने लिखा है कि मैंने महर्षि को दिक्कत तें डाल दिया था। रामकृष्ण ने मुझे दिक्कत में डाल दिया। मैंने यह सोचा ही न था कि कोई इतने जोर से पकड़ कर कहेगा कि तेरी तैयारी है, देखना है, जानना है? मैं दिखाने को तैयार हूँ।

रामकृष्ण एक श्रद्धा से बोल रहे हैं, जहाँ सब अविश्वास गिर गये हैं। महर्षि देवेन्द्रनाथ बोलते भी तो विश्वास से बोलते—सब अविश्वास भीतर किसी कोने में प्रतीक्षा कर रहे हैं। श्रद्धा का अर्थ है : एक ऐसा हृदय जहाँ विरोध में कोई भी स्वर नहीं है। जहाँ 'जो है', वह पूरी तरह से है, जिसके विपरीत कुछ है ही नहीं। जिससे अन्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिससे भिन्न का कोई सवाल नहीं है। जो है, है—पूरा, टोटल। श्रद्धा का अर्थ है : हृदय की समग्रता।

कृष्ण कह रहे हैं कि श्रद्धापूर्वक, हृदय की समग्रता से, जिसके भीतर विपरीत कुछ स्वर नहीं है, जिसके भीतर अविश्वास की रेखा भी नहीं है, वही व्यक्ति इस मार्ग पर चलकर कर्मों को क्षीण करके मुक्त हो जाता है।

तो पहला फर्क विश्वास और श्रद्धा में ठीक से समझ लें। और आपके पास जो है, उसे ठीक से देख लें। वह विश्वास है या श्रद्धा है? और ध्यान रहे : अविश्वासी तो कभी श्रद्धा पर पहुँच भी सकता है, विश्वासी कभी नहीं पहुँच पाता है। उसके कारण हैं। जिस आदमी के हाथ में कुछ भी नहीं है, कंकड़, पत्थर भी नहीं है, वह आदमी हीरों की खोज कर सकता है। लेकिन जिस आदमी ने कंकड़, पत्थर के रंगीन टुकड़ों को समझा हो—हीरे जवाहरात और उनसे मुट्ठी बाँधे रहे, वह कभी हीरों की खोज पर नहीं

निकलता है।

अविश्वासी तो किसी दिन श्रद्धा को पा सकता है। उसके कारण हैं। अविश्वास में जीना असम्भव है, इम्पासिबल है। अविश्वास आग है--जलाती है, पीड़ा देती है, चुभती है; अंगारे हैं उसमें। अविश्वास में कोई भी खड़ा नहीं रह सकता। उसे आज नहीं कल या तो श्रद्धा में प्रवेश करना पड़ेगा या विश्वास में प्रवेश करना पड़ेगा।

ध्यान रहे, श्रद्धा का विरोध अविश्वास से नहीं है; श्रद्धा का विरोध विश्वास से है। विश्वास (बिलीव) करने वाले लोग कभी श्रद्धा को उपलब्ध नहीं होते। यह बहुत उलटी-सी बात लगेगी। क्योंकि हम सोचते हैं कि पहले विश्वास करेंगे, फिर धीरे-धीरे श्रद्धा आ जायेगी। ऐसा कभी नहीं होता। क्योंकि जिसने विश्वास कर लिया, वह झूठी श्रद्धा में पड़ जाता है और झूठे सिक्के असली सिक्कों के मार्ग में अवरोध बन जाते हैं। आप ठीक से जाँच कर लेना कि आपके पास जो है, वह विश्वास है कि श्रद्धा है।

और ध्यान रहे, विश्वास सदा मिलता है दूसरों से, श्रद्धा सदा आती है--स्वयं से। एक आदमी हिंदू है, यह विश्वास है--श्रद्धा नहीं; क्योंकि अगर वह मुसलमान के घर में रखकर बड़ा किया गया होता, तो वह मुसलमान होता। एक आदमी मुसलमान है, यह विश्वास है--श्रद्धा नहीं; क्योंकि वह ईसाई के घर में रखकर बड़ा किया गया होता तो वह ईसाई होता। और एक आदमी आस्तिक है; यह विश्वास है--श्रद्धा नहीं। वह रूस में अगर पैदा हुआ होता तो नास्तिक होता। जो हमें बाहर से मिल जाता है, वह विश्वास है--और जो हमारे भीतर से जन्मता है, वह श्रद्धा है।

इसलिये और तीसरी बात: विश्वास--हमेशा मुरदा होता है, डेड। श्रद्धा सदा जीवंत होती है, लिविंग। और मुरदे आपको डुबा सकते हैं, पार नहीं करवा सकते। मरे हुये विश्वास सिर्फ डुबा सकते हैं, पार नहीं करवा सकते। और मरे हुये विश्वास जंजीर बन सकते हैं, मुक्ति नहीं बन सकते। और मरे हुये विश्वास बाँध सकते हैं, खोल नहीं सकते। इसलिये कृष्ण जब कह रहे हैं, तो विश्वास को बलकुल काट डालना; विश्वास से कुछ लेना-देना कृष्ण का नहीं है। जिनके पास श्रद्धा नहीं है, वे अपने को श्रद्धा का धोखा देते हैं, विश्वास से। जैसे आपके पास असली मोती नहीं है, तो इमिटेशन (नकली) मोती गले में डालकर घूम लेते हैं। किसी को धोखा नहीं होता। मोती को तो धोखा होता ही नहीं। उसे तो पता ही नहीं है! आपको भी धोखा नहीं होता। आपको भी पता है। और जिनको आप धोखा दे रहे हैं, उनको धोखा देने से कोई प्रयोजन ही नहीं। विश्वास आरोपित है, श्रद्धा जन्मती है। यह फर्क है।

दूसरी बात, अगर श्रद्धा जन्मती है, तो बाहर से कैसे आ जायेगी? विश्वास तो उधार लिया जा सकता है--बारोड हो सकता है। सब बारोड है। कोई आप से, कोई गुरु से, कोई कहीं से, कोई कहीं से, उधार ले लेता है विश्वास। क्योंकि बिना विश्वास के जीना

बहुत मुश्किल है। मुश्किल इसीलिये है कि अविश्वास में जीना मुश्किल है। और इसलिये अद्‌भुत घटना घटती है कि नास्तिक को हम अविश्वासी कहते हैं--कहना नहीं चाहिये। नास्तिक पक्का विश्वासी होता है--ईश्वर के न होने में। नास्तिक भी अविश्वास में नहीं जीता, नकारात्मक विश्वास (निगेटिव बिलीफ) में जीता है। उसका भी पक्का विश्वास होता है और वह भी लड़ने-मारने को तैयार हो जाता है। अगर आप कहें कि ईश्वर है, तो उसके 'ईश्वर नहीं' होने की धारणा को चोट लगे। तो वह भी लड़ने को तैयार हो जाता है।

नास्तिक के अपने विश्वास हैं। आस्तिक से उलटे हैं, यह दूसरी बात है, पर उसके अपने विश्वास हैं। उनके बिना वह भी नहीं जीता। कम्युनिस्ट भी नहीं जीता, बिना विश्वासों के। हाँ, उसके विश्वास और तरह के हैं। यह बिलकुल दूसरी बात है कि उससे हमें कोई भी फर्क नहीं पड़ता है। बिना विश्वास के जीना मुश्किल है। अविश्वास इतनी तकलीफ पैदा कर देता है कि आपको श्रद्धा की यात्रा करनी ही पड़ेगी। लेकिन आप विश्वास पर रुक जाते हैं। अपने को धोखा दे लेते हैं और श्रद्धा की यात्रा नहीं हो पाती।

यह श्रद्धा की यात्रा क्या है? इस श्रद्धा का क्या मतलब है? इसे थोड़ा दो-चार आयामों में देखना पड़े। और धार्मिक-चित्त को इसे समझ लेना बहुत ही आधारभूत है।

विश्वास और अविश्वास दोनों ही तर्क से जीते हैं। विश्वास भी, अविश्वास भी--दोनों का भोजन तर्क है। नास्तिक तर्क देता है कि ईश्वर नहीं है, आस्तिक तर्क देता है कि ईश्वर है; लेकिन दोनों तर्क देते हैं और दोनों का तर्क पर भरोसा है। संत तर्कातीत में जीता है। आपने ईश्वर के लिये प्रमाण सुने होंगे। सारी दुनिया के आस्तिकों ने ईश्वर है, इसके प्रमाण दिये हैं। नास्तिकों ने प्रमाणों का खंडन किया है कि ईश्वर नहीं है। विश्वास, अविश्वास दोनों ही तर्क से चलते हैं और श्रद्धा इस अनुभूति का नाम है कि तर्क ना-काफी है--नॉट इनफ। 'तर्क पर्याप्त नहीं है', इस प्रतीति से श्रद्धा की शुरूआत होती है। जीवन में गहरे देखकर ऐसा दिखाई पड़ता है कि तर्क की सीमा है और जीवन तर्क की सीमा के आगे भी है। ऐसा दिखाई पड़ता है कि तर्क थोड़े दूर तर्क चलता है और फिर नहीं चलता। अनुभव होता है कि जीवन में बहुत कुछ है जो तर्क के बाहर पड़ जाता है, जो तर्क में नहीं है, जो खुद तर्क के बाहर है। जीवन खुद अतर्क्य है, इल्लॉजिकल है। आप न होते, तो आप किसी से भी नहीं कह सकते थे कि मैं क्यों नहीं हूँ? आप हैं, तो आप किसी से पूछ नहीं सकते कि मैं क्यों हूँ?

जिंदगी बिलकुल अतर्क्य है। जिंदगी के पास कोई तर्क नहीं है। है तो है, नहीं है तो नहीं है। प्रेम अतर्क है, प्रार्थना भी अतर्क है। जीवन में जो गहरा और महत्त्वपूर्ण है, वह तर्क से समझ में आता नहीं, पकड़ में आता नहीं। तर्क चूक जाता है और जीवन

बाहर रह जाता है। ऐसे अनुभव से पहली बार श्रद्धा की ओर कदम उठते हैं; पता चलता है कि जीवन अतर्क्य है; पता चलता है कि बुद्धि थक जाती है और जीवन नहीं चुकता। आदमी कितना सोचता है, कितना सोचता है फिर भी कहीं नहीं पहुँचता; सिद्धांत हाथ में रह जाते हैं—कोरे—राख; अनुभव कोई भी हाथ में नहीं आता। सब गणित हार जाते हैं; कुछ अनजाना पीछे शेष रह जाता है; कुछ 'अननोन' सदा ही पीछे शेष रह जाता है। जो हम जानते हैं, वह बहुत क्षुद्र है। जो हमारे जानने के क्षुद्र को घेरे हुये हैं—अनजाना—वह बहुत विराट् है।

१८वीं सदी का वैज्ञानिक सोचता था कि सौ वर्ष में वह घटना घट जायेगी कि दुनिया में जानने को कुछ भी शेष नहीं रहेगा। उसे पक्का विश्वास था विज्ञान पर। सौ साल पहले वैज्ञानिक को पक्का विश्वास था, विज्ञान पर, कि हम सब जान लेंगे, जो भी अनजाना है, जान लिया जायेगा। आज वैज्ञानिक कहता है कि जो हमने जाना, वह तो कुछ नहीं, लेकिन जितना हमने जानने की कोशिश की, उससे हजार गुना अनजाना प्रकट हो गया है। एक इंच हम जानते हैं तो हजार इंच और खुल जाते हैं, जो अनजाने हैं। एक सवाल हल होता है, तो हजार सवाल खड़े हो जाते हैं। और अब वैज्ञानिक हिम्मत बाँध कर नहीं कह पाता कि हम कभी भी सब जान लेंग। वह इतना ही कह पाता है कि हम जो भी जानेंगे, वह उसके मुकाबले ना-कुछ होगा, जो अनजाना छूट जायेगा। विज्ञान सौ साल में हारा है, दार्शनिक हजारों साल कोशिश करके हार गये और उन्होंने कहा कि कुछ है, जो विचार के बाहर छूट जाता है। इस बात की प्रतीति कि 'कुछ है, जो विचार के बाहर छूट जाता है', श्रद्धा के जन्म का पहला अंकुर है।

क्या आपको जीवन रहस्य (मिस्ट्री) मालूम पड़ता है? तो आपकी जिंदगी में श्रद्धा पैदा हो सकती है। और ध्यान रखें, विश्वासी को जिंदगी रहस्य (मिस्ट्री) नहीं मालूम पड़ती है। उसके लिये तो सब खुला हुआ मामला है। सब गणित साफ है। वह कहता है: यहाँ स्वर्ग है, यहाँ नरक है; यहाँ मोक्ष है, यहाँ भगवान् बैठा हुआ है। यहाँ यह हो रहा है, वहाँ वह हो रहा है। सब नक्शा साफ है। विश्वासी के पास पूरा गणित है, पूरा मैप है, सब सिद्धांत साथ है। विश्वासी कभी भी रहस्य में नहीं होता। जो आदमी रहस्य में होता है, वह श्रद्धा में जा सकता है। रहस्य (मिस्ट्री) श्रद्धा का द्वार है। तर्क, गणित, प्रमाण, विश्वासों के द्वार हैं। उनसे हम विश्वास निर्मित कर लेते हैं।

क्या आपको जिंदगी में रहस्य मालूम होता है? क्या आपको लगता है कि हम कुछ भी नहीं जानते?—तो आपकी जिंदगी में श्रद्धा पैदा हो सकती है। कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि 'जो श्रद्धापूर्वक जीता है अर्थात् जो जीवन के रहस्य को अंगीकार करता है उसके पास संदेह का उपाय नहीं बचता।' यह भी समझ लेना जरूरी है।

आप में संदेह तभी तक उठते हैं, जब तक आप विश्वास को पकड़ते हैं, क्योंकि सब संदेह विश्वास के खिलाफ उठते हैं। जिस आदमी का कोई विश्वास नहीं, उसके भीतर कोई संदेह भी नहीं पैदा होता। संदेह पैदा होता है, विश्वास के खिलाफ। आपने विश्वास किया कि परमात्मा ने दुनिया बनाई, तब सवाल उठता है कि क्यों बनाई? एक विश्वास हुआ तो सवाल खड़ा हुआ कि क्यों बनाई। फिर दूसरा सवाल उठता है कि ऐसी क्यों बनाई, जिसमें इतना दुःख है। फिर तीसरा सवाल उठता है कि जब वही बनाने वाला है, तो इस सब दुःख को क्यों नहीं मिटा देता! फिर सवाल उठते चले जाते हैं। आपने तय किया कि ईश्वर ने दुनिया नहीं बनायी। तब फिर सवाल उठता है, फिर कैसे बनी? तो फिर वैज्ञानिक खोजता है कि नेबुला, और अणु, और परमाणु और उन सबसे दुनिया बनती है। लेकिन वे अणु, परमाणु कहाँ से आते हैं? और तब सवालों की यात्रा फिर शुरू हो जाती है। हर विश्वास सवालों की यात्रा पर ले जाता है; लेकिन रहस्य का बोध सवालों को गिरा देता है और रहस्य में, मिस्ट्री में डुबा देता है। और जब कोई व्यक्ति रहस्य में डूबता है, तो श्रद्धा अंकुरित होती है।

किसी बीज को अगर पत्थर पर रख दें तो कभी अंकुर न आयेगा। जीसस कहा करते थे कि मैं एक मुट्ठी भर बीज फेंक दूँ अँधेरे में; कुछ पत्थर पर गिरे, कुछ रास्ते पर गिरे, कुछ खेत के मेढ़ पर गिरे, कुछ खेत के बीच की भूमि पर गिर जाये। जो पत्थर पर गिरेंगे, वे पड़े ही रहेंगे, वे कभी अंकुरित न होंगे। जो रास्ते पर गिरेंगे, वे अंकुरित होना भी चाहेंगे, रास्ता उन्हें अंकुरित होने के लिये सहायता भी देगा। पर उसके पहले कि वे अंकुरित हों, किन्हीं के पैर उनकी संभावनाओं को नष्ट कर जायेंगे। खेत की मेढ़ पर जो बीज गिरेंगे, वे अंकुरित हो जायेंगे। लेकिन मेढ़ से लोग कभी गुजरते हैं, वे भी बच न सकेंगे। खेत के ठीक बीच में जो बीज पड़ गये हैं, वे अंकुरित भी होंगे, बड़े भी होंगे, फूल को उपलब्ध भी होंगे। श्रद्धा का बीज जब रहस्य की भूमि में गिरता है, तभी अंकुरित होता है। रहस्य भी भूमि में श्रद्धा अंकुरित होती है।

और ध्यान रहे, श्रद्धावान् से मेरा मतलब कभी भी भूल कर विश्वास करने वाला नहीं लेना। श्रद्धावान् अर्थात् वह जो जीवन को रहस्य की भाँति अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति, कृष्ण कहते हैं, अगर मेरे मार्ग पर आ जाय...और ऐसा व्यक्ति सदा ही पूरा का पूरा आ जाता है, क्योंकि रहस्य खण्ड-खण्ड नहीं बनाता, तर्क खण्ड-खण्ड बनाता है।

यह भी खयाल में ले लें कि तर्क एनालिटिकल है; तर्क तोड़ता है; तर्क चल ही नहीं सकता तोड़े बिना। तर्क प्रिज्म की तरह है। जैसे काँच के प्रिज्म में से हम सूरज की किरण निकालें, तो वह सात टुकड़ों में टूट जाती है। ऐसे ही तर्क के प्रिज्म से कुछ भी निकालें तो खण्ड-खण्ड हो जाता है। तर्क तोड़ता है, वह एनालिटिक है। श्रद्धा जोड़ती है, वह सिन्थेटिक है। श्रद्धा में सब जुड़ जाता है, एक हो जाता है, जैसे किरणें प्रिज्म

से वापस लौट गई और एक हो गई।

रहस्य टोटल है। विश्वास हमेशा पार्शियल (आंशिक) है। आप कभी पूरा विश्वास नहीं कर सकते। लेकिन आप कभी अधूरे रहस्य में नहीं हो सकते। यह आपने कभी खयाल किया कि आप यह कभी नहीं कह सकते कि मैं थोड़ा-थोड़ा रहस्य अनुभव कर रहा हूँ! रहस्य जब भी अनुभव होता है, तो पूरा अनुभव होता है। रहस्य कभी थोड़ा-थोड़ा अनुभव नहीं होता। मिस्ट्री कभी थोड़ी-थोड़ी अनुभव नहीं होती है, पूरी अनुभव होती है। या तो होती है अनुभव या तो नहीं होती। लेकिन जब भी होती है, तो पूरी होती है।

विश्वास सदा थोड़ा-थोड़ा होता है, इसलिये हिस्सा मन का बँटा रहता है। रहस्य का अनुभव मन को इकट्ठा कर देता है। इसलिये जितना सरल चित्त व्यक्ति हो, उतने रहस्य को अनुभव कर पाता है। इसलिये छोटे बच्चों की आँखों में, उनके उठने-बैठने, उनके खेलने में परमात्मा की झलक कहीं-कहीं से दिखाई पड़ती है। क्योंकि सारा जीवन रहस्य है। तितलियाँ उड़ रही हैं, तो उनके लिये हीरे-जवाहरात उड़ रहे हैं। पत्थर लुड़क रहे हैं और उनके लिये स्वर्ग का आनन्द उतर रहा है। नदी बह रही है और उनके लिये द्वार खुला है—कुबेर के खजाने का। सब रहस्य है। रहस्य के अनुभव को उपलब्ध होना, बचपन को फिर से पा लेना है।

जीसस से किसी ने पूछा कि 'कौन लोग तुम्हारे स्वर्ग के राज्य को पाने के अधिकारी होंगे', तो उन्होंने कहा कि 'वे जो बच्चों की भाँति फिर से हो जायेंगे।' तो बच्चे श्रद्धालु होते हैं। बूढ़े ज्यादा से ज्यादा विश्वासी हो सकते हैं—बच्चे श्रद्धालु होते हैं।

कभी देखा है, बच्चे को बाप हाथ पकड़े हुये? आपका हाथ पकड़कर बच्चा चलता है। कितना ट्रस्ट, कितना भरोसा है! बाप को खुद इतना भरोसा नहीं कि हाथ को सँभाल पायेगा कि नहीं सँभाल पायेगा; रास्ते का पता है या नहीं है? उसको खुद भी पता नहीं है, कुछ भी। लेकिन बेटा उसके हाथ को बड़े ट्रस्ट से पकड़े हुये है। श्रद्धा के लिये अगर अंग्रेजी में ठीक शब्द है तो वह ट्रस्ट है—बिलीफ नहीं, फेथ नहीं—ट्रस्ट। बेटा हाथ पकड़े हुये है, जैसे कि बाप परमात्मा है—सब उसे मालूम है।

एक बेटा आया और अपनी माँ की गोद में सिर रखकर सो गया; कितना भरोसा है! जैसे माँ की गोद सारे दुःखों से बाहर है, सारी चिंताओं के बाहर है। माँ नहीं है बाहर चिंताओं के, माँ नहीं है बाहर दुःखों के, माँ परेशानियों में हो सकती है, लेकिन एक जो छोटा-सा बेटा, दिन भर थका-माँदा बाहर से खेलकर लौट आया, वह माँ की गोद में सिर रख कर सो गया—निश्चिंत। उसे परमात्मा की गोद मिल गयी। ट्रस्ट (भरोसा) — माँ को नहीं है, बेटे को है। और इसलिये बेटे के लिये माँ की गोद परमात्मा का स्थान बन सकती है। खुद माँ को नहीं है वह अनुभव।

जो इतनी श्रद्धा से जैसे कि छोटा बेटा बाप का हाथ पकड़ ले और बेटा माँ की गोद में सिर रखकर सो जाय और समझे कि अब दुनिया में कोई खतरा नहीं है, कोई इनसिक्योरिटी नहीं है अब दुनिया में, कोई मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता, अब बात खत्म हो गयी, वह निश्चिंत सो गया है, अब कोई चिंता नहीं—कृष्ण कहते हैं कि इस भाँति जो मेरी बात को मानकर चलता है, वह सब कर्मों से मुक्त हो जाता है।

क्या कृष्ण का मतलब यह है कि जो किसी और की बात को मानकर चलता है, वह मुक्त नहीं होता? ऐसा मतलब लगाया जाता है; लगायेंगे ही। अनुयायी तो ऐसे अर्थ लगायेंगे ही। वे कहेंगे: देखो, कृष्ण ने तो कहा है कि 'मेरी बात को मानकर जो चलता है', तो बाइबिल की बात मत मानना नहीं तो भटक जाओगे; कुरान की बात मत मानना नहीं तो भटक जाओगे। कृष्ण ने साफ कहा है कि 'जो मेरी बात मानकर चलता है श्रद्धापूर्वक, वह कर्मों के जाल से मुक्त हो जाता है।' इतनी साफ बात और क्या होगी? अब किसी और की बात मत मान लेना—महावीर की मत मानना, बुद्ध की मत मानना। लेकिन यह बिलकुल गलत अर्थ है। कृष्ण के भीतर से जो कह रहा है कि मेरी बात मानकर जो चलता है, वह पहुँच जाता है, वही बुद्ध के भीतर से कहता है कि मेरी बात मानकर जो चलता है, वह पहुँच जाता है। वही क्राइस्ट के भीतर से कहता है कि जो मेरी बात मानकर चलता है, वह पहुँच जाता है। वही मोहम्मद के भीतर से कहता है कि जो मेरी बात मानकर चलता है, वह पहुँच जाता है। जिस 'मैं' की बात चल रही है, वह एक ही है। दरवाजे अनेक हैं, आवाज एक ही है। इसलिये इस भ्रांति में मत पड़ना कि जो गीता की बात मानकर चलता है, वही पहुँचता है। कुरान की भी माने तो पहुँच जायेगा, बाइबिल की भी माने तो पहुँच जायेगा।

असली सवाल गीता, कुरान और बाइबिल का नहीं है, असली सवाल श्रद्धापूर्ण हृदय का है। अगर उतनी ही श्रद्धापूर्ण हृदय से कोई जीसस का हाथ पकड़ ले, तो वहाँ से भी पहुँच जाता है। कोई मुहम्मद का हाथ पकड़ ले, तो वहाँ से भी पहुँच जाता है। असली सवाल यह है कि श्रद्धापूर्ण हृदय, अनासक्त कर्म करते हुये कर्म के बाहर पहुँच जाता है। और कृष्ण की बात, कृष्ण की बात नहीं है। उनकी बात परमात्मा की बात है।

कृष्ण सिर्फ झरोखा हैं, जिससे परमात्मा ने झाँका है, अर्जुन के सामने। कभी वह मुहम्मद से झाँकता है, कभी वह मूसा से झाँकता है। हजार-हजार झरोखों से वह झाँकता है और जब भी झाँकता है, तब उसकी अवाज इतनी ही ऑथेन्टिक (प्रामाणिक) होती है। वे सब कहते हैं कि 'मेरी बात मानोगे तो पहुँच जाओगे।' और इससे बड़ा विवाद दुनिया में पैदा होती है। क्योंकि कोई कहता है: यह मुहम्मद ने कहा है; कोई कहता है: यह कृष्ण ने कहा है; कोई कहता है कि क्राइस्ट ने कहा है और फिर इन तीनों में

झगड़ा होता है कि किसकी मानें। वे कहते हैं कि हमारे गुरु ने कहा है। जीसस ने कहा है : 'मैं हूँ मार्ग, मैं हूँ द्वार, जो मुझ पर चलेगा वह पहुँच जायेगा। (आई एम द वे)। मैं ही सत्य हूँ, (आईएम द ट्रुथ)। मैं हूँ द्वार—आओ। मुझ पर चलोगे तो पहुँच जाओगे।' तब तो जीसस को मानने वाला ईसाई जरूर कहेगा कि इतना साफ कहा है; तुम कहाँ भटक रहे हो? राम को मानोगे, कृष्ण को मानोगे, बुद्ध को मानोगे तो भटक जाओगे, नरक में पड़ोगे। लेकिन बड़ी भूल हो गई; पूरी मनुष्यता से भूल हो गई।

यह जो जीसस से कह रहा है, 'आई एम द वे'—यह वही है, जो कृष्ण के द्वारा कह रहा है कि 'अर्जुन, मेरी बात मान तो कर्म से मुक्त हो जायेगा।' यह एक ही जीवना-धारा का अनेक-अनेक झरोखों से झाँकना है। इसे ऐसा समझें कि गंगा के पास गये और गंगा ने कहा, 'मेरा पानी पियोगे तो प्यास से मुक्त हो जाओगे।' फिर वोल्गा के किनारे गये और वोल्गा ने कहा, 'मेरा पानी पियोगे तो प्यास से मुक्त हो जाओगे।' तो हमने कहा कि यह तो बड़ा कन्ट्राडिक्टरी मामला है। गंगा भी वही कहती है, वोल्गा भी यही कहती है; हम किसकी मानें? हम तो गंगा को मानने वाले हैं, हम तो वोल्गा का पानी नहीं पियेंगे। हम तो गंगा का ही पानी पियेंगे। तो आप पागल हैं। गंगा के जिस पानी ने कहा था कि मुझे पियोगे तो प्यास से मुक्त हो जाओगे, वही पानी वोल्गा से कह रहा है कि मुझे पियोगे तो प्यास से मुक्त हो जाओगे। गंगा और वोल्गा का फर्क पानी का फर्क नहीं है। गंगा और वोल्गा का फर्क सिर्फ तटों का फर्क है।

कृष्ण के तट अलग हैं, बुद्ध के तट अलग हैं। लेकिन जो जल की धार उनसे बहती है, वह एक ही परमात्मा की है। इसे स्मरण रखें, तो यह बात ठीक से खयाल में आ सकती है।

● प्रश्न : भगवान् श्री, आखिरी का श्लोक है, उसका अर्थ है, सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव से परवश हुये कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा? इसका अर्थ भी स्पष्ट करें।

कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं समर्पण के लिये, सरेण्डर के लिये। वही मूल सूत्र है, जहाँ से व्यक्ति अपने को छोड़ता और परमात्मा को पाता है। तो वे उस समर्पण के लिये कह रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों के परवश कर्म करता है—ज्ञानी भी, अज्ञानी भी। अब किसी का हठ इसमें कुछ भी नहीं कर सकता है। जैसे, अज्ञानी भी मरता है, ज्ञानी भी मरता है और किसी का हठ इसमें कुछ भी नहीं कर सकता है। क्योंकि शरीर का गुण-धर्म है कि जो पैदा हुआ, वह मरेगा। असल में जिस दिन पैदा हुआ, उसी दिन मरना शुरू हो गया है। जिसका एक छोर है, उसका दूसरा छोर भी है। इधर जन्म एक छोर है, मृत्यु दूसरा छोर है। ज्ञानी भी मरता है, अज्ञानी भी मरता है और अगर कोई

हठ करे कि मैं नहीं मरूँगा, तो वह पागल है। हठ से कुछ भी नहीं होगा। लेकिन एक सवाल उठ सकता है कि अगर ज्ञानी भी मरता है, अज्ञानी भी मरता है और ज्ञानी भी परवश होकर जीता है और अज्ञानी भी परवश होकर जीता है, तो फिर दोनों में फर्क क्या है।

फर्क है—और बड़ा फर्क है। अज्ञानी हठपूर्वक प्रकृति के गुणों से लड़ता हुआ जीता है। हारता है, पर लड़ता जरूर है। ज्ञानी जानकर कि प्रकृति के गुण काम करते हैं, लड़ता नहीं, इसलिये हारता भी नहीं। और साक्षी-भाव से जीता है। मृत्यु दोनों की होती है—ज्ञानी की भी, अज्ञानी की भी। अज्ञानी कोशिश करते हुये मरता है कि मैं न मरूँ, ज्ञानी बाँहें फैलाकर आलिंगन करता हुआ मरता है कि मृत्यु स्वाभाविक है। इसलिये अज्ञानी मरने की पीड़ा भोगता है; ज्ञानी मरने की कोई पीड़ा नहीं भोगता। अज्ञानी मरने से भयभीत, काँपता हुआ मरता है; ज्ञानी आनन्द से पुलकित नये द्वार से नये जीवन में प्रवेश करता है। दोनों मरते हैं। प्रकृति के गुण के अनुसार दोनों के जीवन में सब कुछ वही घटता है।

अज्ञानी भी जवान होता है—प्रकृति के गुणों से; ज्ञानी भी जवान होता है। अज्ञानी समझ लेता है कि मैं जवान हूँ और ज्ञानी समझता है कि जवानी एक स्टेज है, यह यात्रा का एक पड़ाव है—आया और गया। फिर अज्ञानी जवानी छूटती है, तो दुःखी होता है, पीड़ित होता, परेशान होता, लेकिन ज्ञानी के लिये जैसे साँझ डूब जाता है—ऐसी जवानी डूब जाती है और वह आगे बढ़ जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानी में जो फर्क है, वह इतना ही है कि अज्ञानी जो होने ही वाला है, उससे भी व्यर्थ लड़कर परेशान होता है। ज्ञानी जो होने ही वाला है, उसे सहज स्वीकार करके परेशान नहीं होता है; प्रकृति के गुण दोनों पर एक-सा काम करते हैं; उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

प्रकृति ज्ञानी और अज्ञानी को अलग नहीं देखती, प्रकृति का अपना कर्म है, अपनी व्यवस्था है, अपने गुण-धर्मों की यात्रा है। प्रकृति वैसी ही चलती रहती है। वह कभी नहीं देखती; देखने का कोई सवाल भी नहीं होता है।

कृष्ण कह रहे हैं कि इसलिये हठधर्मी व्यर्थ है। क्यों वे अर्जुन से यह कह रहे हैं? अर्जुन थोड़ा हठधर्मी पर तो उतारू है। वह कहता है कि 'मैं यह क्षत्रिय होना छोड़कर भागता हूँ। मैं युद्ध बंद करता हूँ। यह मैं नहीं करूँगा।' वह कहता है कि 'मैं लोगों को नहीं मारूँगा।' कृष्ण यह कह रहे हैं कि मरना जिसे है, वह मरता है; तू नाहक हठधर्मी करता है कि तू नहीं मारेगा, या तू मारेगा; ये दोनों ही हठधर्मियाँ हैं। जो मरता है, वह मरता है; जो नहीं मरता, वह नहीं मरता है।

कृष्ण का गणित बहुत साफ है। वे यह कह रहे हैं कि तू इसमें व्यर्थ हठधर्मी न कर।

तू सिर्फ एक पात्र हो जा, इस अभिनय का और जो परमात्मा से तेरे ऊपर गिरता है, उसे होने दे। और जो प्रकृति से होता है, उसे होने दे। तू इसमें बीच में मत आ, तू अपने को बीच में मत ला।

ज्ञानी और अज्ञानी में इतना ही फर्क है। घटनाएँ वही घटती हैं, रुख अलग-अलग हो जाता है; कोण देखने का अलग हो जाता है। बीमारी आ जाती है, तो अज्ञानी छाती पीटकर रोता है कि बीमारी आ गई। ज्ञानी स्वीकार कर लेता है कि बीमारी आ गई। शरीर का धर्म है कि वह बीमार होगा, नहीं तो मरेगा कैसे! नहीं तो वृद्ध कैसे होगा!

शरीर एक बड़ा संस्थान है, एक संघात है, उसमें करोड़ों जीवाणुओं का जोड़ है। उतनी बड़ी मशीनरी चलेगी, खराब भी होगी, ओवर हॉलिंग की भी जरूरत होगी; रिपेयरिंग भी होगी; वह सब होगा। इतनी बड़ी मशीन अभी पृथ्वी पर दूसरी कोई नहीं है, जितनी आदमी के पास है। इतनी कॉम्पलेक्स, इतनी जटिल मशीन कोई नहीं है जितनी कि आदमी का शरीर है। आप कोई छोटी-मोटी घटना नहीं हैं। वह तो आपको कुछ करना नहीं पड़ता, इसलिये आपको कुछ पता नहीं चलता कि कितनी बड़ी मशीन काम कर रही है चौबीस घण्टे, अहर्निश। माँ के पेट में जिस दिन गर्भाधान हुआ था, उस दिन काम शुरू हुआ और जब तक लोग चिता पर न चढ़ा देंगे, तब तक जारी रहेगा—चिता पर इसलिये ही कह रहा हूँ कि जिनको हम कब्र में गाड़ते हैं, तो गाड़ने के बाद भी बहुत दिन तक काम जारी रहता है, मशीन का। आत्मा तो जा चुकी होती है, लेकिन मुरदों के भी नाखून बढ़ जाते हैं, बाल बढ़ जाते हैं कब्र में। मशीन काम ही करती रहती है, मोमेन्टम (त्वरा) पकड़ जाती है। जैसे कि कोई साइकिल चलाता है, तो घर आने के दस-बीस कदम पहले पाइडल मारना बंद कर देता है, फिर भी साइकिल चली ही जाती है। यात्री उछलकर उतर भी जाय नीचे, तो साईकिल अकेली दस-बीस कदम चली जाती है। पुरानी चलने की गति पगड़ जाती है। मुरदे कब्र में अपने नाखून बढ़ा लेते हैं, बाल बढ़ा लेते हैं, तो मशीन काम करती चली जाती है। पता ही नहीं लगता एकदम मशीन को कि मालिक जा चुका है, पता लगते-लगते ही पता लगता है। इसलिये मैंने कहा, चिता तक, जब तक कि हम जला ही नहीं देते, मशीन काम करती चली जाती है, अहर्निश। बहुत आटोमेटिक है—स्वचालित है। फिर उसके अपने गुणधर्म हैं। वे आते रहेंगे।

अज्ञानी हर चीज से परेशान होता है कि यह क्यों हो गया? और कभी-कभी तो ऐसा होता है कि न हो तो भी परेशान होता है कि ऐसा क्यों नहीं हुआ। हो गया तब तो ठीक ही है, न हुआ तो भी परेशान होता है।

एक मेरे मित्र हैं। उनको दमा का दौरा पड़ता है तो परेशान होते हैं, और किसी दिन नहीं पड़ता तो भी परेशान होते हैं। वे मुझसे कहते हैं कि 'आज दौरा नहीं पड़ा; क्या बात है?' उन्हें इसलिये घबड़ाहट लगती है कि यह भी जीवन का एक क्रम हो गया उनके—कि दौरा पड़ना चाहिये। न पड़े तो भी बैचेनी होती है कि कुछ गड़बड़ है। दुःख आता है तो परेशानी होती है, नहीं आता है तो परेशानी होती है। सुख आता है तो परेशानी होती है, नहीं आता है तो परेशानी होती है।

अज्ञानी हर चीज को परेशानी बनाने की कला जानता है, हठधर्मी जानता है। हठधर्मी कला है—जिंदगी को परेशानी बनाने की। अगर जिंदगी को परेशानी बनाना है, तो हर चीज में हठ किये चले जाइये; जब जो हो, उसके खिलाफ लड़िये और जब जो न हो उसके खिलाफ भी लड़िये और फिर आपकी पूरी जिंदगी एक संताप, एक एंग्विश, एक नरक बन जायेगी; बन ही गयी है। कृष्ण कह रहे हैं, 'इस हठधर्मी में कुछ भी सार नहीं है। अर्जुन, जान कि जो होता है, होता है। जो नहीं होता है, वह नहीं होता है। ऐसा जान।'

जीसस को एक रात पकड़ा गया और लोग सूली पर चढ़ाने के लिये ले जाने लगे। जीसस को साँझ ही कुछ लोगों ने खबर दी थी। खबर दी थी कि 'आप पकड़े जायेंगे, रात खतरा है, भाग जायँ।' तो जीसस ने कहा, 'जो होनेवाला है, वह होगा।' फिर वे वहीं गैथस्मेने (Gathasmene) के बगीचे में रुके। फिर भी रात मित्रों ने कहा, 'अभी भी कुछ देर नहीं हुई, अभी भी भाग सकते हैं।' लेकिन जीसस ने कहा कि 'जो होने ही वाला है, उससे कब कौन निकल पाया है। फिर दुश्मनों की आवाज सुनाई पड़ने लगी, मशालें दिखाई पड़ने लगीं। लोग उन्हें खोज रहे हैं। शिष्यों ने, मित्रों ने कहा, 'देखते हैं, मशालें अँधेरे में दिखाई पड़ती हैं। मालूम होता है वे आते हैं। तो जीसस ने कहा कि 'अगर उन्हें पहुँचना ही है, तो रास्ता जरूर उन्हें मिल जायेगा।' वह ज्ञानी का लक्षण है।

सॉक्रेटीज को जहर दिया जा रहा है। अदालत ने सॉक्रेटीज से कहा कि तुम एथेन्स छोड़कर चले जाओ, तो हम तुम्हें मुक्त कर सकते हैं, जहर नहीं देंगे। सॉक्रेटीज से कहा गया कि अगर तुम एथेन्स में भी रहो और सत्य बोलना बंद कर दो, तो हम तुम्हें मुक्त कर दें और जहर न दें। सॉक्रेटीज ने कहा कि 'मैं कुछ भी नहीं कह सकता। सत्य बोला जाना होगा, तो बोला जायेगा और नहीं बोला जाना होगा, तो नहीं बोला जायेगा। मैं वायदा कल के लिये कैसे करूँ? मुझे यह पक्का नहीं कि कल होगा भी कि नहीं होगा, तो मैं वादा कर सकता हूँ। तो तुम अपने जहर का इन्तजाम कर लो। मैं कोई वायदा नहीं कर सकता। कल का क्या पता, क्या होगा? जो होगा, मैं राजी हूँ।' फिर मित्रों ने कहा कि 'यह तो बड़ी गलत बात है! हम रिश्वतखोरी करके आपको जेल से निकाले ले जाते हैं रात में।' तो सॉक्रेटीज ने कहा कि 'मैं राजी हूँ। लेकिन तुमसे मैं यह पूछता हूँ कि अगर मेरी मौत कल आयेगी, तो उससे बाहर तुम मुझे निकाल पाओगे कि नहीं।

तो मित्रों ने कहा, 'मौत के बाहर हम कैसे निकाल पायेंगे ! तो सॉक्रेटीज ने कहा, 'तो फिर क्यों परेशान होते हो ? इतनी परेशानी भी क्या ! अगर मरना ही है, और मरना है ही, तो दिन दो दिन से क्या फर्क पड़ेगा। लेकिन इन दो दिनों के लिये मुझे चोर क्यों बनाते हो। नाहक की हठधर्मी क्यों ? ठीक है मौत आती है, तो आ जाय।'

फिर जहर पीस रहा है एक आदमी—सॉक्रेटीज को देने के लिये। छह बजे जहर देना है, लेकिन सवा छह बज गया, तो सॉक्रेटीज खुद उठकर बाहर आया और उससे पूछा, 'बड़ी देर कर रहे हो !' उसने कहा कि 'तुम पागल तो नहीं हो ! मैं तो तुम्हारी वजह से देर कर रहा हूँ कि थोड़ी देर और जी लो।' सॉक्रेटीज ने कहा कि 'पागल हो, कितनी देर जिला पाओगे ! जब मौत आती ही है तो ठीक है; सूरज के रहते आ जाय, तो जरा मैं भी देख लूं कि मौत कैसी होती है। तू अँधेरा किये दे रहा है।' यह गैर-हठधर्मी का व्यक्तित्व ही ज्ञानी का व्यक्तित्व है।

कृष्ण कह रहे हैं कि तू हठधर्मी मत कर और हठधर्मी करेगा, तो समर्पण न कर सकेगा। और हठधर्मी न कर, तो समर्पण कर सकता है।' समर्पण वही कर सकता, जो हठधर्मी नहीं करता है। वह आदमी समर्पण कभी नहीं कर सकता है, जो हठधर्मी करता है।

●प्रश्न : भगवान् श्री, एक मित्र पूछते हैं कि कृष्ण जिस श्रद्धा की बात करते हैं, वह श्रद्धा अंधश्रद्धा भी हो सकती है। कृष्ण ने विवेक शब्द का उपयोग क्यों नहीं किया, जो श्रद्धा से कहीं ज्यादा सार्थक शब्द है। कृपया इसे स्पष्ट करें ?

श्रद्धा कभी भी अंधश्रद्धा नहीं हो सकती, सिर्फ विश्वास ही अंधविश्वास हो सकता है। सच तो यह है कि विश्वास अंध-विश्वास होता ही है। श्रद्धा कभी अंधी नहीं हो सकती है। नहीं हो सकने का कारण है। कारण यह है कि श्रद्धा मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व की एकता है, पूर्ण व्यक्तित्व की एकता है। इन्टिग्रेटेड माइन्ड का नाम श्रद्धा है; एकजुट हुये मन का नाम श्रद्धा है। और अगर इकट्ठा मन ही आपका अंधा है, तो फिर आपकी आँख का कोई उपाय नहीं, क्योंकि कोई जगह और बची ही नहीं। श्रद्धा का अर्थ है पूरा—आप में जो भी चेतना है—वह पूरी। तो अगर पूरी चेतना भी आँख न बने, तो फिर और क्या आँख बन सकेगा !

जितनी चेतना इकट्ठी होती है, उतनी आँख बन जाती है। चेतना जितनी इकट्ठी योगस्थ होती है, उतनी देखने वाली, दर्शन के योग्य हो जाती है। इसलिये हमने सत्य के अनुभव को दर्शन कहा है, क्योंकि जब चेतना पूरी जाग कर एक हो जाती है, तो पूरी आँख बन जाती है और देखती है सत्य को। इसलिये मैंने सत्य के साक्षात्कार की बात कही है। सत्य दिखाई पड़ता है।

श्रद्धा कभी भी अंधी नहीं हो सकती और अगर अंधी हो, तो जानना कि वह विश्वास

है। वहीं मैं फर्क कर रहा हूँ। विश्वास अंधा होता है, अविश्वास भी अंधा होता है। आमतौर से लोग समझते हैं कि विश्वास अंधा होता है। हम कहते हैं : ब्लाइंड बिलीफ, लेकिन ब्लाइंड डिस-बिलीफ जैसा शब्द हम आमतौर से उपयोग नहीं करते। हम कहते हैं, अंधविश्वास, लेकिन अंधा अविश्वास ? कभी खयाल किया आपने कि अंधा अविश्वास भी होता है !

एक नास्तिक कहता है कि ईश्वर को नहीं मानता। यह आँख वाला अविश्वास है। इस नास्तिक ने ईश्वर को जाना है ? खोजा है सब जगह ? देख ली है, जहाँ-जहाँ हो सकता था, फिर वह रहा है कि नहीं है ? नहीं, बिना खोजे यह कह रहा है कि नहीं है। हम ईश्वर को सिद्ध नहीं कर पाते, इसलिये हम कहते हैं कि नहीं है। कोई सिद्ध न कर पाये तो भी सिद्ध नहीं होता कि नहीं है। इतना ही सिद्ध होता है कि 'है'—यह सिद्ध नहीं हो पा रहा है।

अविश्वास भी अंधा होता है, विश्वास भी अंधा होता है, लेकिन जो व्यक्ति न विश्वास में होता है, न अविश्वास में होता है, उसको पहली बार आँख मिलती है। लेकिन खयाल में मुझे आया कि आप क्या चाहते हैं। आपने कहा कि विवेक शब्द और ऊपर है। नहीं, बहुत ऊपर नहीं है। विवेक और श्रद्धा में कुछ बुनियादी अंतर है। वह मैं आपको खयाल दिला दूँ।

विवेक व्यक्ति की घटना है। आप ही सोच-विचार कर, खोजबीन कर जो तय कर लेते हैं, वह विवेक है। लेकिन श्रद्धा आपकी घटना नहीं है। आप खोजबीन के, सोच-विचार के भी पाते हैं कि नहीं पाया जाता और परमात्मा पर छोड़ देते हैं सब। आप और परमात्मा के संयुक्त होने पर जो अनुभव घटित होता है, वह श्रद्धा है।

विवेक व्यक्ति निर्भर है, श्रद्धा समष्टि निर्भर है। विवेक बूँद का है, श्रद्धा सागर की है। बूँद जब तक अपने बल-बूते जीती है, तब तक विवेक है। ठीक जिये तो विवेक और गलत जिये तो अविवेक। लेकिन बूँद जब जीती ही नहीं अपनी तरफ से, सागर में अपने को छोड़ देती है, और कहती है: सागर का जीवन ही अब मेरा जीवन है, तब श्रद्धा है।

श्रद्धा बहुत विराट् है। विवेक बहुत सीमित है। आपकी सीमा विवेक की सीमा है, आपकी सीमा श्रद्धा की सीमा नहीं है। इसलिये श्रद्धा असीम है और विवेक सीमित है। विवेक फाइनाइट है और श्रद्धा इनफानाइट है। विवेक में आप ही हैं, भूल-चूक हो सकती है, क्योंकि आप सर्वज्ञ नहीं हैं। इसलिये विवेक में सदा गलती हो सकती है, श्रद्धा में गलती का कोई उपाय ही नहीं है, क्योंकि आपने परमात्मा पर ही छोड़ दिया और अगर परमात्मा से ही गलती होती है, तो फिर अब गलती से बचने की कोई जरूरत नहीं है। फिर कोई कारण भी नहीं, फिर बचियेगा भी कैसे ?

विवेक भटक सकता है; श्रद्धा कभी नहीं भटकती। विवेक चूक सकता है, श्रद्धा

अचूक है। क्योंकि विवेक आपका ही है आखिर, श्रद्धा सिर्फ आपकी नहीं है। श्रद्धा का मतलब ही है कि अपने से अब न होगा; अपने हाथ नहीं पहुँच पाते उतनी दूर, जहाँ सत्य है; अपनी छलाँग नहीं लग पाती उस खाई में जहाँ परमात्मा है; अपने से न होगा। जिस क्षण इस हेल्पलेस, इस असहाय स्थिति का अनुभव होता है कि हमारी सीमा है, हमसे न होगा, उसी क्षण श्रद्धा जगती है। हम कहते हैं: अब तू ही कर, अब मुझसे कुछ नहीं होता; अब मैं कहीं चल पाता, अब तू ही चला—अब मेरे हाथ काम नहीं करते, अब तू ही हाथ पकड़; अब मेरे पैर नहीं उठते, अब तू ही उठा तो उठा। जिस क्षण व्यक्ति थक जाता है पूरा, उसी क्षण उसी थकान से आविर्भाव होता है उस श्रद्धा का, जो विराट् से एक कर देती है।

विवेक बहुत बड़ा शब्द नहीं है। और ध्यान रहे, विवेक में बहुत गहरे विचार छिपे हैं। वह, कहें कि विचार का सार अंत है, कहें कि बहुत विचार का निचोड़, कहें कि जैसे बहुत-से फूलों को निचोड़कर कोई इत्र बना ले, ऐसा बहुत से विचारों को निचोड़ कर कोई इत्र बना ले, तो उसका नाम विवेक है। लेकिन श्रद्धा निर्विचार है। वह किसी विचार का इत्र नहीं है। वह किन्हीं फूलों का इत्र नहीं है। वह हमारा अनुभव ही नहीं है। वह हमारे अनुभव की असमर्थता है। इसलिये श्रद्धा बहुत बड़ा शब्द है।

पर मैं यह जरूर कहूँगा कि श्रद्धा तक वे ही पहुँचते हैं, जो विवेकवान् हैं; वे नहीं पहुँचते, जो विवेकहीन हैं। इतना कहूँगा। और इतना ही उपयोग है विवेक का। विवेकहीन श्रद्धा तक कभी नहीं पहुँचते। विवेकहीन अश्रद्धा तक पहुँच जाते हैं। विवेक-वान् श्रद्धा तक पहुँच जाते हैं। क्या मतलब मेरा? विवेकहीन अश्रद्धा तक पहुँच जाते हैं। मैंने अभी आपको कहा कि श्रद्धा का मैं अर्थ करता हूँ, ट्रस्ट, भरोसा—सहज, सरल। अश्रद्धा का अर्थ करता हूँ, गैरभरोसा—कठिन, जटिल—किसी का भी नहीं, परमात्मा तो दूर है। किसी का भी नहीं, भरोसा ही नहीं। अंततः अपना भरोसा भी नहीं।

एक आदमी को मैं जानता हूँ, जो मेरे गाँव में मेरे घर के सामने रहते हैं। वे ताला लगाते हैं, दस कदम जाते हैं, फिर लौट कर आकर ताला हिला कर देखते हैं। फिर जाते हैं, फिर देखते हैं किसी ने देखा तो नहीं, फिर लौटते हैं, फिर हिला कर देखते हैं। एक दिन मैं छत पर बैठा देख रहा था। दो बार मैंने देखा, मैंने सोचा तीसरी बार भी यह आदमी जरूर लौटेगा। क्योंकि जब दो बार में भरोसा नहीं आया कि ताला लगा है कि नहीं, तो तीसरी बार में कैसे आयेगा! लेकिन उस आदमी ने ही मुझे देख लिया। तो ठीक जगह, जहाँ से वह लौटता था, उस जगह जाकर उसके पैर थोड़े से डगमगाये। मैंने कहा, 'लौट आओ।' उसने कहा कि 'मैं आपके डर से लौट नहीं रहा हूँ।' तो मैंने कहा, 'यहाँ मेरे पास आओ। बात क्या है?' उसने कहा, 'मुझे भरोसा ही नहीं होता। ऐसा लगता है कि पता नहीं भूल-चूक से ताला खुला ही न रह गया हो और पता नहीं कि

मैंने हिला कर देखा भी है या नहीं!' वह आदमी इतनी दफे देख चुका है हिला कर कि शक हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

अब यह जो आदमी है, यह अश्रद्धा को उपलब्ध हुआ है। उसकी अश्रद्धा टोटल हो गयी है। यह पत्नी पर भरोसा नहीं कर सकता। बेटे पर भरोसा नहीं कर सकता। मित्र पर भरोसा नहीं कर सकता। यह अपने ही हाथों का भरोसा नहीं कर सकता। यह अपनी बुद्धि पर ही भरोसा नहीं कर सकता। इसका सब भरोसा खो गया। अब ऐसा अश्रद्धावान् जीते जी मर गया। पर इतनी अश्रद्धा कैसे आयी होगी? यह अविवेक के कारण आयी है: अविवेक का क्या मतलब? अविवेक का मतलब: विवेक का गलत उपयोग किया है इसने।

अगर आप को एक आदमी ने धोखा दे दिया, तो आप समझते हैं कि अब किसी आदमी पर भरोसा नहीं करना; यह अविवेक है। सच तो यह है कि जिस आदमी ने आज आपको धोखा दिया, वह कल भी धोखा देगा, यह जरूरी नहीं है। आदमी बदल जाते हैं। और आपको एक आदमी ने धोखा दिया और सारी मनुष्यता पर से आपका विश्वास उठ गया—यह बड़ी अविवेक की बात है। बड़ी विवेकहीन बात है। एक जगह ठोकर लग गयी, तब सारी दुनिया में ठोकर लगेगी, यह निर्णय ले लिया!

एक दिन ऐसा हुआ कि मैं एक ट्रेन में सवार था। एक स्टेशन पर रुकी, बहुत देर तक। एक आदमी भीख माँगने खिड़की पर आया और उसने कहा कि 'मैं बड़ी मुसीबत में हूँ।' मैंने कहा, 'तुम मुसीबत मत बताओ, क्योंकि मुसीबत बताने में तुम्हारा भी समय जाया होगा, मेरा भी। तुम मुझे यह कहो कि मैं क्या कर सकता हूँ?' उसने मेरी तरफ देखा, उसे शक हुआ, क्योंकि बिना मुसीबत बताये किसी को फँसाया नहीं जा सकता। क्योंकि जब वह पूरी मुसीबत बता ले और आप पाँच मिनट सुन लें, तो फिर इनकार करने में कठिनाई हो जाती है। मैंने कहा कि 'तुम मुसीबत की बात ही मत करो। तुम मुझे यही कहो कि मैं क्या कर सकता हूँ?' उसने बड़ी हिम्मत जुटा कर कहा कि एक रुपया दे देना।' मैंने कहा, 'तुम एक रुपया लो। इतनी सरलता से छूटती है बात! तुम नाहक मुसीबत मुझे मत बताओ। मैं तुम्हारी मुसीबत सुनूँ, इसके बदले तुम यह रुपया लो और जाओ।' वह आदमी बड़ी बेचैनी में गया। उसने बार-बार रुपये को देखा, फिर लौटकर मुझे भी देखा कि आदमी भरोसे का नहीं मालूम पड़ता। क्या गड़बड़ है! कुछ मैंने कहा ही नहीं, कोई मुसीबत नहीं सुनी। होता तो ऐसा है कि मुसीबत पूरी बताओ, तो भी कोई कुछ नहीं देता और उसने सोचा कि यह आदमी......!

पाँच सात मिनट बाद वह वापस आया, टोपी लगाये हुये था, वह उतार कर रख आया। उसने आकर फिर खिड़की पर कहा कि 'मैं बड़ी मुसीबत में हूँ।' मैंने कहा, 'मुसीबत की बात ही मत करो। तुम मुझे यह बताओ कि मैं क्या कर सकता हूँ?'

उसने मुझे पूरी आँख से देखा कि पागल तो नहीं हूँ। फिर बड़ी हिम्मत जुटाई उसने, सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता कि यह आदमी भूल ही गया होगा—सिर्फ टोपी अलग कर लेने से। और फिर वही की वही बात। उसने बहुत हिम्मत जुटा कर कहा कि 'मुझे दो रुपये..... !' मैंने कहा कि 'तुम यह दो रुपये लो।' वह फिर मुझे बार-बार लौटता हुआ देखे, रुपया देखे।

दो-तीन मिनट बाद फिर वह आ गया। कोट पहने था, उसको भी उतार आया। खिड़की पर आया। मैंने उससे पहले ही कहा कि 'तू शुरू ही मत कर कि तू मुसीबत बता। उसने कहा, 'आप आदमी कैसे हो? मैं वही आदमी हूँ, आपको समझ में नहीं आ रहा है!' मैंने कहा, 'मैं तो यही समझ रहा हूँ कि तुम नहीं समझ पा रहे हो कि मैं वही आदमी हूँ। मैं तो इस खयाल में हूँ।' वह मेरे तीन रुपये वापस लौटाने लगा। उसने कहा, 'रुपये रख लो आप। रुपये मैं नहीं लूँगा।' मैंने कहा, 'रुपये तुम ले जाओ। रुपये तुमने कमाये हैं—तुमने मेहनत पूरी की है।' वह रुपया रखकर छोड़ गया दरवाजे पर। उसने कहा, 'रुपया मैं नहीं लूँगा।' मैंने पूछा, 'बात क्या है? रुपया क्यों नहीं लेते? उसने कहा कि 'जिस आदमी ने मुझ पर इतना भरोसा किया, उसे मैं इस तरह धोखा नहीं दे सकता हूँ।'

एक आदमी धोखा दे जाय, तो हम मान बैठते हैं कि सारी दुनिया ने धोखा दे दिया है हमें। अब हम सबसे सम्हले हुये बैठे हैं। हालाँकि बचाने को पास में कुछ भी नहीं है। सम्हले हुये बैठे हैं!

अविवेक, अश्रद्धा पर ले जाता है। धीरे-धीरे सब तरफ अश्रद्धा हो जाती है। और विवेक श्रद्धा पर ले जाता है और धीरे-धीरे सब तरफ श्रद्धा हो जाती है। अविवेक वहाँ पहुँचा देता है, जहाँ सिवाय धोखे के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। और विवेक वहाँ पहुँचा देता है, जहाँ सिवाय भरोसे के और कुछ दिखाई नहीं पड़ता है।

तो मैं समझता हूँ कि विवेक का मूल्य है—'बट एज ए मीन्स'—एक साधन की तरह। श्रद्धा तक पहुँचा दे, यही उसका मूल्य है। लेकिन विवेक श्रद्धा से बड़ा शब्द नहीं है। श्रद्धा बड़ी गहरी अनूभुति है।

इस जगत् में श्रद्धा से बड़ा कोई आनन्द नहीं है कि मुझे समग्र भरोसा आ जाय कि सब परमात्मा है। इस जगत् में इससे बड़ी कोई निश्चितता नहीं है कि मुझे स्मरण आ जाय कि सब तरफ मैं ही हूँ। इस जगत् में इससे बड़ी कोई अनुभूति नहीं है कि सब हाथ मेरे, सब आँखें मेरी, सब पैर मेरे। ऐसी प्रतीति का नाम श्रद्धा है। जिस दिन कोई पराया दिखाई ही नहीं पड़ता है, उसी दिन परमात्मा दिखाई पड़ता है। उसी को हम समर्पण कह सकते हैं।

कृष्ण समर्पण की ही बात समझा रहे हैं। विवेक समर्पण तक ले जाय तो काफी है।

लेकिन विवेक स्वयं समर्पण नहीं बनता। विवेक सिर्फ बता सकता है कि तुम असमर्थ हो अपने में। बस, इतना निगेटिव काम कर सकता है कि वह कह दे कि तुम न पा सकोगे सत्य को। बस, इतना भी पता चल जाय तो विवेक ने काम पूरा कर दिया। अब छलाँग लगा सकते हैं, वहाँ, जहाँ परम श्रद्धा है।

श्रद्धा की अपनी आँख है; लेकिन वह आँख तर्क जैसी नहीं है, वह आँख प्रेम जैसी है। वह आँख चीर-फाड़ करनेवाली नहीं है, वह आँख छेद देनेवाली नहीं है; आँखों में भी फर्क होता है। जब कभी कोई आपको प्रेम से देखता है, तो उसकी आँख और होती है। वह आपको चीरती-फाड़ती नहीं, सर्जरी नहीं करती है वह आँख। आपके भीतर कहीं घाव हो, तो उनको जोड़ देती है। वह मलहम कर जाती है। कभी प्रेम की आँख फाड़ती नहीं, काटती नहीं, विश्लेषण नहीं करती। प्रेम की आँख आपको जोड़ जाती है, फाँकों को इकट्ठा कर जाती है। आपके भीतर घाव हो तो उसे पूर जाती है! प्रेम की आँख आपको इन्टिग्रेट कर जाती है। लेकिन घृणा की आँख? घृणा की आँख आपको टुकड़े-टुकड़े कर जाती है, छार-छार काट देती है।

हमारे पास एक शब्द है लुच्चा। लुच्चा हम कहते हैं, बुरे आदमी को। आपने कभी सोचा कि लुच्चा का मतलब क्या होता है? लुच्चा संस्कृत के लोचन शब्द से बना है—आँख से। जिसकी आँख चीर-फाड़कर देखती है, किसी के भीतर जाकर—वह लुच्चा है। लुच्चा का मतलब होता है, इस तरह देखनेवाला आदमी कि उसकी आँख भीतर छुरी की तरह प्रवेश कर जाती है। उसकी आँख छुरी की तरह काम करती है। तो लुच्चे को पहचानने के लिये और कोई रास्ता नहीं है, सिवाय आँख के। हम 'क्रिटिक' को आलोचक कहते हैं। वह भी आँख से बनता है। आलोचक शब्द भी लोचन से ही बनता है। आलोचक उसे कहते हैं, जो बड़ी खोजबीन करके देखता है कि कहाँ क्या है।

आँखें बहुत तरह की हैं। तर्क की भी अपनी आँख है, उसी से विज्ञान का जन्म होता है। श्रद्धा की अपनी आँख है, उसी से धर्म का जन्म होता है। श्रद्धा तर्क की नजरों में अंधी हो सकती है। श्रद्धा की नजरों में तर्क बिलकुल विक्षिप्त है—अंधा ही नहीं, पागल भी। लेकिन वह बड़े अलग कोणों पर खड़े होकर जीवन को देखती है। हाँ, जिसने तर्क से जीवन को देखा होगा कि, वह कहेगा कि श्रद्धा अंधी होती है। लेकिन जिसने श्रद्धा के और ऊँचे पर्वत शिखर से देखा है, वह कहेगा कि तर्क विक्षिप्त है।

और ध्यान रहे, श्रद्धा तक कोई भी नहीं पहुँचता, जो तर्क से न गुजरा हो। और जो श्रद्धा पर पहुँच जाय, वह कभी तर्क पर भी पहुँचा था। इसलिये श्रद्धावाले को तर्क और श्रद्धा दोनों का अनुभव होता है, तर्क वाले को सिर्फ तर्क का अनुभव होता है। और जिसको एक का अनुभव हो, उसकी बात बहुत भरोसे की नहीं होती। जिसको दोनों का अनुभव है, उसकी बात ही भरोसे की होती है।

●प्रश्न : अगले श्लोक के प्रसंग में जाने से पहले एक छोटा-सा प्रश्न और है। श्लोक क्रमांक ३० में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'अध्यात्म चेतसा' होकर सम्पूर्ण कर्मों को मुझे समर्पित करके तू युद्ध कर। कृपया 'अध्यात्म चेतसा' होकर इसका अर्थ समझाएँ।

मनुष्य के पास तीन प्रकार की चेतनायें हो सकती हैं—(थ्री टाइप्स ऑफ कांशसनेस)। एक विज्ञान चेतना है, एक कला चेतना और एक अध्यात्म चेतना। मनुष्य तीन चेतनाओं से जीवन के सत्य से संबंधित हो सकता है—तीन ढंग, तीन एप्रोच से। एक विज्ञान की एप्रोच है, एक अध्यात्म की या धर्म की और एक है कला की या आर्ट की। ठीक है, इन तीनों का अन्तर समझ लेना जरूरी भी है।

विज्ञान-चेतना अन्वेषण करती है; सत्य क्या है, इसकी खोज करती है। विज्ञान-चेतना डिस्क्वर करती है, जो ढँका है उसे उघाड़ती है, निर्वस्त्र करती है, तथ्य को नग्न करती है। कला-चेतना (आर्ट कॉन्शसनेस), जो है, उसे सजाती और सँवारती है; उघाड़ती नहीं, ढाँकती है—अभूषणों से, वस्त्रों से, रंगों से, कविताओं से, लयों से, छंदों से। विज्ञान उघाड़ता, नग्न तथ्य (नैकेड ट्रुथ)को खोजता। विज्ञान तथ्य के साथ दुश्मन की भाँति लड़ता है, जूझता है; सत्य को जीतने (कांकरिंग) की कोशिश करता है। कला जहाँ-जहाँ कुरूप है, असुंदर है, वहाँ-वहाँ सुंदर का निर्माण करती, तथ्यों का स्वप्न बनाती, जिंदगी के सीधे-सादे रंगों को रंगीन करती, काव्य देती, फिक्शन देती। काव्य संजोता संवारता—तथ्य जो है, उसे उघाड़ता नहीं, ढाँकता है, डेकोरोट करता है। कला डेकोरोटिव है। इसलिए विज्ञान कई दफा ऐसे तथ्य उघाड़ लेता है, जो बड़े संघातक सिद्ध होते हैं। और कला कई बार जीवन की ऐसी अभद्रताओं को ढाँक जाती है, जो अप्रीतिकर हो सकती थी।

कृष्ण कहते हैं : अध्यात्म चेतस होकर तू समर्पण कर। अध्यात्म चेतना तीसरे तरह की है। न तो वह सत्य को उघाड़ती है और न सत्य को ढाँकती। वह सत्य के साथ स्वयं को लीन करती है। विज्ञान उघाड़ता, कला ढाँकती, धर्म एक हो जाता। अध्यात्म—सत्य क्या है, इसे नहीं जानना चाहता, सत्य कैसा होना चाहिए इसे नहीं बनाना चाहता, अध्यात्म स्वयं ही सत्य हो जाना चाहता है। अध्यात्म की जिज्ञासा संघर्ष की नहीं, अध्यात्म की जिज्ञासा संवारने की नहीं, अध्यात्म की जिज्ञासा तल्लीनता की है, लीन हो जाने की है। अध्यात्म (चेतन) सत्य जो है, उसी में डूब जाना चाहता है। वह जैसा भी हो—सुंदर असुंदर—सत्य जैसा भी है, अध्यात्म उसमें डूब जाना चाहता है। विज्ञान दुश्मन की तरह व्यवहार करता। कला मित्र की तरह व्यवहार करती। अध्यात्म भेद ही नहीं रखता। मित्र और शत्रु में अभेद व्यवहार करता है।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि तू अध्यात्म चेतसा होकर, आध्यात्मिक चेतना सम्पन्न होकर समर्पण को उपलब्ध हो।' क्योंकि अध्यात्म चेतना ही समर्पण कर सकती है।

विज्ञान कभी समर्पण नहीं करता। विज्ञान समर्पण कर दे तो बेकार हो गया। अगर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में समर्पण कर दे, तो विज्ञान खत्म। विज्ञान लड़ता है, प्रकृति को सर्मापित करवाने की कोशिश करता है; खुद समर्पण कभी नहीं करता। वैज्ञानिक योद्धा की तरह जूझता है। और प्रकृति से कहता है : तू समर्पण कर, अपने रहस्यों को उघाड़, अपने वस्त्रों को अलग कर, अपने तथ्यों को प्रगट कर, मेरे सामने सर्मापित हो। विज्ञान योद्धा की तरह, प्रकृति को शत्रु की भाँति लेकर जीतने की कोशिश करता है।

कला लड़ती नहीं, प्रकृति को फुसलाती है, परसुएड करती है। वह कहती है, 'जो भी है, कोई फिक्र नहीं।' लेकिन हमारा मन चाहता है, ऐसा हो। खलिल जिब्रान ने गीत गाया है, कि 'अगर मेरा बस चले तो सारी दुनिया को मिटा कर फिर अपने मन की दुनिया ढंग से बना लूँ।' कवि वही करता है, नहीं बस चलता यहाँ, तो कविता में बन लेता है। चित्रकार वही करता है—कोई सुंदर नहीं मिलता ऐसा पृथ्वी पर, तो एक मूर्ति बना लेता है। कला संवारती है, ढाँकती है, श्रृंगार करती है—प्रेयस बन जाय जगत्, जीवन प्रिय हो जाय, बस।

अध्यात्म में न मित्र है, न शत्रु। अध्यात्म कहता है : जो है, उसके साथ मैं एक होना चाहता हूँ। कला सृजन करती, विज्ञान अन्वेषण करता, धर्म समर्पण करता। कला क्रियेटिव है, विज्ञान इन्वेन्टिव है और धर्म सरेन्डरिंग है। इसलिये कृष्ण कहते हैं कि 'तू अध्यात्म चेतसा हो, तो ही समर्पण को उपलब्ध हो सकता है।'

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रिय इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी इन्द्रियों के भोगों में स्थित जो राग और द्वेष हैं, उन दोनों के वश में न होवे। क्योंकि वे दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महाशत्रु हैं।

जीवन के सारे अनुभव द्वन्द्व के अनुभव हैं। जीवन का सारा विस्तार ही द्वन्द्व और द्वैत (ड्युएलिटी) का ध्रुवीय (पोलर) विस्तार है। यहाँ कुछ भी नहीं है ऐसा, जिसके विपरीत न हो; यहाँ कुछ भी नहीं है ऐसा, जिसका प्रतिकूल न हो। यहाँ कुछ भी नहीं है ऐसा, जिससे उलटा न हो। जगत् का सारा अस्तित्व पोलर है, ध्रुवीय है। ठीक वैसे ही जैसे एक आर्किटेक्ट, एक वस्तु शिल्पकार, एक भवन निर्माता द्वार बनाता है, तो कभी आपने देखा, द्वार पर वह कोई सहारे नहीं लेता। सिर्फ ईंटों को गोलाई में जोड़ देता है। सिर्फ ईंटों को उलटा और गोलाई में जोड़ देता है और आर्क बन जाता है। तो भवन का सारा वजन उस गोलाई पर टिक जाता है। कभी आपने खयाल किया कि बात क्या है? उन उलटी ईंटों का जो तनाव है, टेन्शन है...वे

उलटी ईंटें एक दूसरे को दबाती हैं और पूरे भवन के वजन को उठा लेती हैं। अगर एक सी ईंटें लगा दी जायँ, एक कोने से दूसरे कोने तक एक ही रुख वाली ईंटें लगा दी जायँ, तो भवन तत्काल गिर जाएगा, तब भवन बन ही नहीं सकता।

जीवन का सारा भवन उलटी ईंटों पर टिका हुआ है। यहाँ सुख की भी ईंट है और दुःख की भी ईंट है। यहाँ राग की भी ईंट है और विराग की भी ईंट है। यहाँ प्रेम की भी ईंट है और घृणा की भी ईंट है। और ध्यान रहे : जगत् में अकेली प्रेम की ईंट पर भवन निर्मित नहीं हो सकता; घृणा की ईंट भी उतनी ही जरूरी है। यहाँ मित्र भी उतना ही जरूरी है, शत्रु भी उतना ही जरूरी है। यहाँ सब उलटी चीजें जरूरी हैं। क्योंकि उलटे के तनाव पर ही जीवन खड़ा होता है।

यह बिजली चल रही है, तो उसमें निगेटिव और पाजिटिव के पोल, ध्रुव जरूर हैं। अगर वह एक ही पोल की हो, तो अभी अंधकार हो जाय। यहाँ हम इतने पुरुष, स्त्रियाँ बैठे हुए हैं स्त्री और पुरुष के अस्तित्व के लिए स्त्री और पुरुष का विरोध, द्वैत जरूरी है। वह जिस दिन समाप्त हो जाय, उस दिन सब समाप्त हो जाय।

जगत् द्वैत निर्भर है। कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि इन्द्रियों के सब अनुभव द्वन्द्वग्रस्त हैं। वहाँ सुख आता है तो पीछे दुःख आता है। वहाँ सुख आता है तो दुःख को निमंत्रण देकर आता है। वहाँ दुःख आता है तो जल्दी मत करना, धैर्यमत खोना, पीछे सुख आता ही होगा। जैसे लहर के पीछे ढलान आती है, और जैसे पहाड़ के पीछे खाई आती है, ऐसे ही प्रत्येक अनुभव के पीछे विपरीत अनुभव आता है! आ ही रहा है। जब लहर आ रही है सागर की, तो समझें कि पीछे लहर का गड्ढा भी आ रहा है! क्योंकि बिना गड्ढे की लहर नहीं हो सकती। और जब पहाड़ देखें —उत्तुंग शिखर आकाश को छूता—तो जान लेना कि पास ही खाई भी है, पाताल को छूती खड्ड भी होगी। एक के बिना दूसरी नहीं हो सकती। जब वृक्ष आकाश में उठता है, छूने के लिए तारों को, तो उसकी जड़ें नीचे जमीन में उतर जाती हैं, पाताल को छूने को। अगर जड़ें नीचे न जायँ, तो वृक्ष ऊपर नहीं जा सकता।

सारा जीवन विरोध पर खड़ा है। इसलिए एक बहुत अद्भुत घटना मनोवैज्ञानिक कहते हैं घटती है। हम उलटा काम करते हैं। हम सदा एक कोशिश करते हैं कि दो में से एक बच जाय, जो हो नहीं सकता। हम कोशिश में लगते हैं कि मकान ऐसा बनायें कि इकतरफा, एक रुखवाली ईंटों पर भवन खड़ा हो जाय। डूबेंगे उसी के नीचे और मरेंगे। ऐसा भवन खड़ा नहीं हो सकता।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो आदमी घृणा नहीं कर सकता, वह आदमी प्रेम भी नहीं कर सकता। हालाँकि सब हमें समझाते हैं कि प्रेम करो, घृणा मत करो। लेकिन, जो आदमी घृणा नहीं कर सकता, वह प्रेम भी नहीं कर सकता। सब हमें

समझाते हैं कि किसी को शत्रु मत मानो, सबको मित्र मानो। लेकिन, जो आदमी शत्रु नहीं बना सकता, वह आदमी मित्र भी नहीं बना सकता है। जीवन का ऐसा ही कठोर सत्य है कि जो आदमी क्रोध नहीं कर सकता, वह क्षमा भी नहीं कर सकता। हालाँकि हम कहते हैं कि क्षमा करो, क्रोध मत करो। लेकिन क्रोध न करोगे, तो क्षमा क्या खाक करोगे?—किसको—और कैसे—और किस प्रकार?

जीवन वैपरित्य पर निर्भर है। यह हमें खयाल में न आये तो हम एक को बचाने की कोशिश में लग जाते हैं। अज्ञानी एक को बचाने की कोशिश करता है। ज्ञानी क्या करेगा? यदि ज्ञानी दोनों को छोड़ दे तो तत्क्षण जीवन के बाहर हो जायेगा, जीवन के भीतर नहीं रह सकता। या दोनों को एक साथ स्वीकार कर ले।

कृष्ण दूसरी सलाह दे रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तू दोनों को एक साथ स्वीकार कर ले। यहाँ सुख भी है, यहाँ दुःख भी है। जन्म भी है, मृत्यु भी है। इन्द्रियाँ अच्छा भी लाती हैं, बुरा भी लाती हैं। इन्द्रियाँ प्रीतिकर को भी जन्माती हैं, अप्रीतिकर को भी जन्माती हैं। इन्द्रियाँ सुख का भी आधार बनतीं और दुःख का भी आधार बनतीं। ज्ञानी इन दोनों के अनिवार्य जोड़ को जान कर दोनों में रहते हुए भी दोनों के बाहर जाता है, साक्षी हो जाता है। समझता है कि ठीक है; सुख आया तो ठीक है; दुःख आया तो ठीक है। क्योंकि वह जानता है कि वे दोनों ही आ सकते हैं। इसलिए वह इस भूल में नहीं पड़ता कि एक को बचा लूँ और दूसरे को छोड़ दूँ। वह इस उपद्रव में नहीं पड़ता है। अज्ञानी उसी उपद्रव में पड़ता है और वह बेचैन हो जाता है। ज्ञानी चैन में होता है, बेचैनी में नहीं होता।

इसका यह मतलब नहीं कि ज्ञानी पर दुःख नहीं आते। ज्ञानी पर दुःख आते हैं, लेकिन ज्ञानी दुःखी नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं कि ज्ञानी पर सुख नहीं आता। ज्ञानी पर सुख आते हैं, लेकिन ज्ञानी सुखी नहीं होता। किस अर्थ में सुखी नहीं होता? इस अर्थ में सुखी नहीं होता कि जो भी आता है, वह उससे अपना तादात्म्य, अपनी आइडेन्टिटी नहीं करता है। सुख आता है तो वह कहता है, ठीक है; सुख आया, वह भी चला जायेगा। दुःख आया, वह कहता है, ठीक है; दुःख आया, वह भी चला जायेगा और मैं जिस पर दुःख और सुख आते हैं, उन दोनों से अलग हूँ। ऐसा पृथकत्व, ऐसा भेद—अपने अलग होने के अनुभव का, इसे वह कभी भी नहीं छोड़ता और खोता।

ज्ञानी जानता है—सुबह आई साँझ आई—प्रकाश आया, अँधेरा आया। न तो वह कहता है कि मैं अँधेरा हो गया और वह न कहता कि मैं प्रकाश हो गया। न वह कहता कि मैं दुःख हो गया, न तो वह कहता कि मैं सुख हो गया। वह कहता है कि मुझ पर दुःख आया, मुझ पर सुख आया, मुझ पर कुछ आया, मैं अलग खड़ा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि यह सुख आ रहा है। जैसे सागर के तट पर बैठे हैं। आप लहर

हो जायँ, तो मुश्किल में पड़ जायेंगे। लहरें आयेंगी और आपको डुबा ले जायेंगी। लेकिन आप लहर नहीं होते। लेकिन जिंदगी के सागर में लहरें आती हैं और आप लहर ही हो जाते हैं। आप कहते हैं कि मैं दुःखी हो गया। इतना ही कहिए कि दुःख की लहर आ गई। भीग गए हैं, बिलकुल चारों तरफ दुःख की लहरों ने घेर लिया है। डूब गये हैं बिलकुल। लेकिन हैं तो अलग ही। यह रहा दुःख, यह रहा मैं। सुख आये तो एकदम सुखी हो जाते हैं। दीवाने हो जाते हैं। पैर जमीन पर नहीं पड़ते। आँखें यहाँ-वहाँ देखतीं नहीं, आकाश में अटक जाती हैं। हृदय ऐसे धड़कने लगता है कि पता नहीं कब बंद हो जाय। हम सुख ही हो जाते हैं। सुख की लहर आई है। ठीक है, आ जाने दें, डुबाने दें, जाने दें। समझें कि सागर है जीवन का। आता है सुख, आता है दुःख; मित्र आते हैं, शत्रु आते हैं, सम्मान-अपमान, गाली आती, प्रशंसा आती। कभी कोई फूल मालाएँ डाल जाता, कभी कोई पत्थर फेंक जाता। जीवन में दोनों आते रहते हैं। ज्ञानी दोनों को देख कर अपने को तीसरा जानता है।

ऐसा अनासक्त हुआ व्यक्ति—कृष्ण कहते हैं—जीवन के समस्त बन्धन से, जीवन के सारे कारागृह से मुक्त हो जाता है।

दसवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, दिनांक ५ जनवरी, १९७१
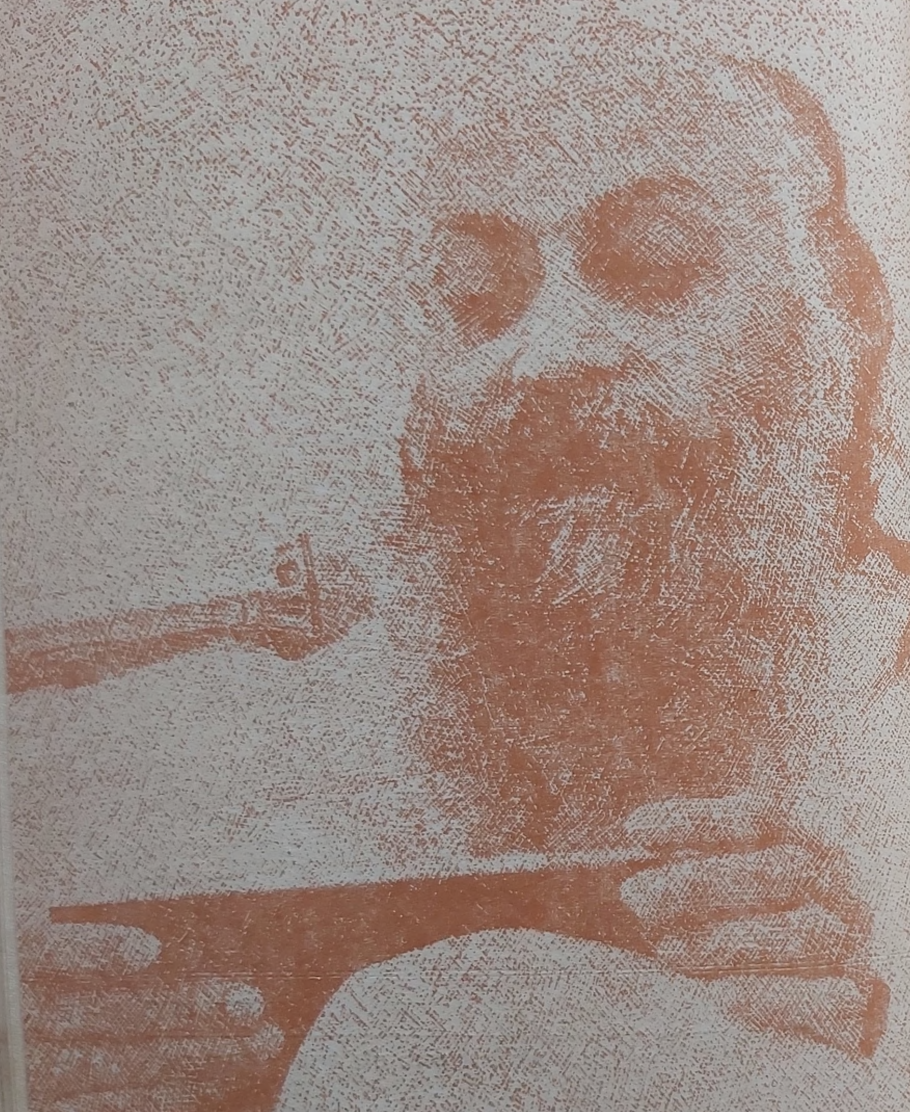
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। ३५ ।।

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से—गुणरहित भी, अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में मरना भी कल्याण कारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है।

पर-धर्म, स्व-धर्म और धर्म

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजता, अपनी इंडिवीजुएलिटी है। प्रत्येक व्यक्ति का कुछ अपना निज है; वही उसकी आत्मा है। उस निजता में ही जीना आनन्द है और निजता से च्युत हो जाना, भटक जाना ही दुःख है।

कृष्ण के इस सूत्र में दो बातें कृष्ण ने कही हैं। एक: स्वधर्म में मर जाना भी श्रेयस्कर है। स्वधर्म में भूल-चूक से भटक जाना भी श्रेयस्कर है। स्वधर्म में असफल हो जाना भी श्रेयस्कर है, बजाय परधर्म में सफल हो जाने के।

स्वधर्म क्या है? और परधर्म क्या है? प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वधर्म है और किन्हीं दो व्यक्तियों का एक स्वधर्म नहीं है। पिता का धर्म भी बेटे का धर्म नहीं है। गुरु का धर्म भी शिष्य का धर्म नहीं है। यहाँ धर्म से अर्थ है—स्वभाव, प्रकृति, अन्तः प्रकृति। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अन्तःप्रकृति है, लेकिन एक बीज की तरह बंद, अविकसित, पोटेन्शियल। और जब तक बीज अपने में बंद है, तब तक बेचैन है। और जब तक बीज खिल न सके, फूट न सके, अंकुर न बन सके, और फूल बन कर बिखर न सके जगत् सत्ता में, तब तक बेचैनी रहेगी। जिस दिन बीज अंकुरित होकर वृक्ष बन जाता है और फूल खिल जाते हैं, उस दिन परमात्मा चरणों में वे अपनी निजता को सर्मपित कर देते हैं। फूल के खिले हुए होने में जो आनन्द है, वैसा ही आनन्द स्वयं में जो छिपा है, उसमें भी है। और परमात्मा के चरणों में एक ही नैवेद्य, एक ही फूल चढ़ाया जा सकता है, वह है—स्वयं की निजता का खिला हुआ फूल—'फ्लावरिंग ऑफ इंडिवीडुएलिटी' और कुछ हमारे पास चढ़ाने को भी नहीं है।

जब तक हमारे भीतर का फूल पूरी तरह न खिल जाय, तब तक हम संताप, दुःख, बेचैनी, तनाव में जियेंगे। इसलिये जो व्यक्ति परधर्म की ओढ़ने को कोशिश करेगा, वह वैसी ही मुश्किल में पड़ जायेगा, जैसे चमेली का वृक्ष चम्पा के फूल लाने की कोशिश

में पड़ता है। गुलाब का फूल होने की कोशिश में पड़ जाय तो जैसी बेचैनी में गुलाब का फूल पड़ जाय. . .और बेचैनी दोहरी होगी। एक तो गुलाब का फूल कमल का फूल कितना ही होना चाहे, हो नहीं सकता; असफलता सुनिश्चित है। गुलाब का फूल कितना चाहे, तो कमल का फूल नहीं हो सकता। और कमल का फूल चाहे तो कभी भी गुलाब का फूल नहीं हो सकता है। यह असंभव है।

स्वभाव के प्रतिकूल होने की कोशिश भर हो सकती है, होना नहीं हो सकता। यदि गुलाब का फूल कमल का फूल होना चाहे तो कमल का फूल कभी न हो सकेगा, इसलिए विफलता, फ्रस्ट्रेशन, हार, हीनता उसके मन में घूमती रहेगी। और दूसरी उससे भी बड़ी दुर्घटना घटेगी कि उसकी शक्ति कमल होने में नष्ट हो जायेगी और वह गुलाब भी कभी न हो सकेगा। क्योंकि गुलाब होने में जो शक्ति चाहिए थी, वह कमल होने में लग जाती है। कमल हो नहीं सकता; गुलाब हो नहीं सकेगा, जो हो सकता था। क्योंकि शक्ति सीमित है। उचित है कि गुलाब का फूल गुलाब का फूल ही रहे और गुलाब का फूल चाहे छोटा भी हो जाय तो भी हर्ज नहीं। न हो बड़ा, फूल कमल का, गुलाब का फूल छोटा भी हो जाय तो भी हर्ज नहीं है। और अगर न भी हो पाये गुलाब, लेकिन होने की कोशिश भी कर ले तो भी एक सृजन है।

जो मैं हो सकता था, उसकी होने की मैंने पूरी कोशिश की और उस असफलता में भी एक सफलता है कि मैंने होने की पूरी कोशिश कर ली। कुछ बचा नहीं रखा था, कुछ छोड़ नहीं रखा था। लेकिन गुलाब कमल होना चाहे, तो वह सफल तो हो ही नहीं सकता। अगर किसी तरह धोखा देने में सफल हो जाय—आत्मवंचना में, सेल्फ डिसेप्शन में सफल हो जाय, सपना देख ले कि वह कमल हो गया. . . सपने ही देख सकता है, परधर्म में कभी हो नहीं सकता। सपना देख सकता है कि मैं हो गया, भ्रम में पड़ सकता है कि मैं हो गया। तो वैसी सपने की सफलता से वह छोटा-सा गुलाब हो जाना, असफल होकर भी, बेहतर है, क्योंकि तृप्ति का रस सत्य से मिलता है, स्वप्न से नहीं मिलता है।

कृष्ण ने यहाँ बहुत बीज-मंत्र कहा है। अर्जुन को वे कह रहे हैं कि 'स्वधर्म की—जो तेरा धर्म हो उसकी—तू खोज कर। पहले तो तू इसको खोज कि तू क्या हो सकता है; तू अभी दूसरी बातें मत खोज कि तेरा युद्ध होने से क्या होगा। सबसे पहले तू यह खोज कि तू क्या हो सकता है। तू जो हो सकता है, उसका पहले निर्णय ले ले। और फिर वही होने में लग जा। और सारी चिंताओं को छोड़ दे। तो ही तू किसी दिन संतृप्ति के अंतिम मुकाम तक पहुँच सकता है।' लेकिन हम 'परधर्म' ओढ़ लेते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो स्वधर्म हमें तब तक पूरी तरह पता नहीं चलता, जब तक कि फूल खिल न जाय। गुलाब को भी पता नहीं चलता कि उसमें से क्या खिलेगा;

जब तक गुलाब खिल न जाय।

बड़ा कठिन है जानना कि स्वधर्म क्या है। मर जाते हैं और पता नहीं चलता; जीवन हाथ से निकल जाता है और पता नहीं चलता कि मैं क्या होने को पैदा हुआ था; परमात्मा ने किस 'मिशन' पर भेजा था; कौन-सी यात्रा पर पर भेजा था, क्या होने को भेजा था। किस बात का दूत होकर मैं पृथ्वी पर आया था, इसका मरते दम तक पता नहीं चलता है। न पता चलने में जो सबसे बड़ी बाधा है, वह यह है कि चारों तरफ से, 'पर धर्म' के प्रलोभन मौजूद हैं जो कि पता नहीं चलने देते कि किसका धर्म क्या है। गुलाब तो खिला नहीं है, अभी उसे पता नहीं है, लेकिन बगल में कोई कमल खिला है, कोई चमेली खिली है, कोई चम्पा खिली हुई है—उनकी सुगंध पकड़ जाती है, उनका रूप पकड़ जाता है, उनका आकर्षण उसको पकड़ जाता है और मन होता है कि मैं भी यही हो जाऊँ। महावीर के पास से गुजरेंगे तो मन होगा कि मैं भी महावीर हो जाऊँ। खिला फूल है वहाँ। बुद्ध के पास से गुजरेंगे तो मन होगा कि कैसे मैं भी बुद्ध हो जाऊँ। क्राइस्ट दिखाई पड़ जायेंगे तो प्राण आतुर हो जायेंगे कि ऐसा ही मैं कब हो जाऊँगा। कृष्ण दिखाई पड़ जायेंगे तो प्राण नाचने लगेंगे और कहेंगे कि कृष्ण कैसे हो जाऊँ।

खुद का तो पता नहीं कि मैं क्या हो सकता हूँ; लेकिन आसपास खिले हुए फूल दिखाई पड़ सकते हैं और उनमें भटकाव है, क्योंकि कृष्ण, इस पृथ्वी पर कृष्ण के सिवाय और कोई दूसरा नहीं हो सकता है। उस दिन नहीं, आज भी नहीं, कल भी नहीं, कभी नहीं। परमात्मा पुनरुक्ति करता ही नहीं है, रिपीटीशन करता ही नहीं है। परमात्मा बहुत मौलिक सर्जक है। उसने अब तक दुबारा एक आदमी पैदा नहीं किया। हजारों साल बीत गये कृष्ण को हुए, दूसरा कृष्ण पैदा नहीं हुआ। हजारों साल बुद्ध को हो गए, दूसरे बुद्ध पैदा नहीं हुए। हालाँकि लाखों लोगों ने कोशिश की है बुद्ध होने की, लेकिन कोई बुद्ध न हुआ। और हजारों लोगों ने आकांक्षा की है क्राइस्ट होने की। लेकिन कहाँ कोई क्राइस्ट होता है!

बस, एक बार ही कोई होता है। इस पृथ्वी पर पुनरुक्ति होती ही नहीं। पुनरुक्ति तो वही करता है, जिसकी प्रजनन की क्षमता सीमित होती है। परमात्मा की सृजन की क्षमता असीमित है। अकसर बुढ़ापे में कवि अपनी पुरानी कविताओं को फिर-फिर लिखने लगते हैं। चित्रकार चुक जाते हैं और फिर उन चित्रों को पेन्ट करने लगते हैं, जिनको वे कई दफा कर चुके थे। थोड़ा बहुत हेर-फेर—और फिर वही करते हैं। आदमी की सीमाएँ हैं। खलील जिब्रान ने अपनी पहली किताब 'प्रॉफेट' इक्कीस साल की उम्र में लिखी है, फिर बस चुक गये। फिर भी बहुत किताबें लिखी, लेकिन वे सब पुनरुक्तियाँ हैं। फिर 'प्रॉफेट' के आगे कोई बात नहीं लिखी। इक्कीस साल में

मर गया, एक अर्थ में। एक अर्थ में, खलील जिब्रान इक्कीस साल में मर जाय, तो बड़ी हानि होने वाली नहीं थी। जो वह दे सकता था, वह दिया जा चुका था, जिब्रान चुक गया।

अगर पिकासो के चित्र उठाकर देखें तो पुनरुक्ति हुई है। फिर वही वही दोहरता रहता है। और आदमी जुगाली करता है, जैसे भैंस घास खा लेती है और जुगाली करती रहती है। अन्दर जो डाल लिया, उसी को निकाल कर चबाते रहे।

लेकिन परमात्मा जुगाली नहीं करता, अनन्त है उसकी सृजनशीलता—'इनफाइनाइट क्रियेटिविटी'। जो एक दफा बनाया, उस मॉडल को फिर नहीं दुहराता। लेकिन किसी को देखकर हम आकर्षित हो जाते हैं कि ऐसे हो जायें। बस, भूल की यात्रा शुरू हो गई।

परधर्म लुभाता है, क्योंकि परधर्म खिला हुआ दिखाई पड़ता है। स्वधर्म का पता नहीं चलता, क्योंकि वह भविष्य में है। परधर्म अभी है, पड़ोस में ही खिला है; वह आकर्षित करता है कि मैं भी वैसा हो जाऊँ। कृष्ण जब कहते हैं कि स्वधर्म में हार जाना भी बेहतर है—परधर्म में सफल हो जाने के बजाय, तो वे यह कह रहे हैं कि परधर्म से सावधान रहो। परधर्म से अधिक खतरनाक और कोई चीज नहीं है। दूसरे को अपना आदर्श बना लेने से बड़ी और कोई खतरनाक बात नहीं है; इससे सावधान रहना। लेकिन हम इससे कभी भयभीत नहीं होते। क्योंकि हम अपने बच्चे से कहते हैं कि विवेकानन्द जैसे हो जाओ, रामकृष्ण जैसे हो जाओ, बुद्ध जैसे हो जाओ, मुहम्मद जैसे हो जाओ, जैसे कि परमात्मा चुक गया हो—कि मुहम्मद को बना कर अब और कुछ अच्छा नहीं हो सकता है—तो कृष्ण को बनाकर अब कोई उपाय नहीं रहा। जैसे परमात्मा हार गया और आपको सिर्फ रिपीटीशन के लिए भेजा है, पुनरुक्ति के लिए, आपको 'डिट्टो', लगा कर भेज दिया कि जाओ किसी के जैसे (कार्बन कापी) होने का ही तुम्हारा अधिकार है।

नहीं, परमात्मा चुकता नहीं है। कृष्ण के सूत्र में बड़े कीमती अर्थ हैं। वे कहते हैं, 'भयावह है परधर्म'। और अगर भयभीत ही होना है तो मौत से भयभीत मत होना। कृष्ण नहीं कहेंगे कि मौत से डरो। जो आदमी कहता है, मौत से मत डरो, वह आदमी कहता है—परधर्म से डरो! मौत से भी ज्यादा खतरनाक है परधर्म! क्यों? क्योंकि परधर्म आत्मघातक (सुसाइडल) है। जिस आदमी ने दूसरे के धर्म को स्वीकार कर लिया, उसने एक आत्महत्या कर ली। उसने अपनी आत्मा को तो मार ही डाला, अब वह दूसरे की आत्मा की कॉपी (नकल) ही बनने की कोशिश में रहेगा। और कोई कितनी ही कोशिश करे, आवरण ही बदल सकता है। भीतर आत्मा तो जो है, वह वही ही है। वह कभी दूसरे की नहीं हो सकती।

मृत्यु से भी ज्यादा भयावह है परधर्म, क्योंकि वह आत्मघात है। आत्मघात जिसे हम कहते हैं, उससे भी ज्यादा भयावह है परधर्म। क्योंकि जिसे हम आत्मघात कहते हैं, उसमें सिर्फ शरीर मरता है, और जिसे कृष्ण भयावह कह रहे हैं, उसमें आत्मा को ही हम दबा कर मार डालते हैं, आत्मा को ही घोंट जालते हैं।

दूसरे के धर्म से सावधान होने की जरूरत है और स्वधर्म पर दृष्टि लगाने की जरूरत है। इस बात की खोज करने की जरूरत है कि 'मैं क्या होने को हूँ? मैं क्या हो सकता हूँ? मेरे भीतर छिपा बीज क्या माँगता है?' और साहसपूर्वक उस यात्रा पर निकलने की जरूरत है। इसलिए धर्म सबसे बड़ा दुस्साहसिक काम है, सबसे बड़ा एडवेन्चर है। न तो चाँद पर जाना इतना दुस्साहसिक है, न एवरेस्ट पर चढ़ना इतना दुस्साहसिक है, न प्रशांत महासागर की गहराइयों में डूब जाना इतना दुस्साहसिक है, न ज्वालामुखी में उतर जाना इतना दुस्साहसिक है, जितना दुस्साहस है स्वधर्म की यात्रा पर निकलने में। क्यों? क्योंकि भला चाहे एवरेस्ट पर कोई न पहुँचा हो लेकिन बहुत लोगों ने पहुँचने की कोशिश की है; भला कोई ऊपर तेनसिंह और हिलेरी के पहले न पहुँचा हो, लेकिन आदमी के चरण चिह्न काफी दूर तक एप्रोक्सिमेटली (करीब-करीब) पहुँच गए थे। यात्री जा चुके थे उस रास्ते पर। चाहे प्रशांत महासागर से कोई इतना गहरे न गया हो, लेकिन लोग जा चुके हैं। लोग निर्णायक रास्ता छोड़ गये हैं। लेकिन आपके स्वधर्म की यात्रा पर आपके पहले कोई भी नहीं गया है, बिलकुल अननोन है वह; एक इंच कोई नहीं गया। आप ही जायेंगे पहली बार—एकदम अज्ञात में छलाँग लगाने—जहाँ कोई नहीं गया है।

परधर्म आकर्षक मालूम पड़ता है। क्योंकि परधर्म में सेक्यूरिटी मालूम पड़ती है। नक्शा मिलता है न, परधर्म में! हमें पता है, बुद्ध ने क्या-क्या किया है। तो ठीक वैसे ही पालथी मार कर हम भी कुछ करें, नक्शा हमारे पास होता है। हमें पता है कि कृष्ण ने क्या किया, तो ठीक है, हमें भी एक बाँसुरी खरीदना है और एक झाड़ के नीचे खड़े होकर बजाना है। नक्शे हैं पास में। परधर्म का नक्शा है, स्वधर्म अन्चार्टर्ड है। वहाँ कोई नक्शा नहीं है, कोई कुतुबनुमा नहीं, कोई बतानेवाला नहीं। क्योंकि आप ही पहली दफा उस यात्रा पर जा रहे हैं, जो आपका स्वधर्म है। इसलिए आदमी डरकर दूसरे के रास्ते पर चला जाता है।

बँधे-बँधाए रास्ते, तैयार पगडंडियाँ, राजपथ लुभाते हैं कि बँधा हुआ रास्ता है, लोग उस पर जा चुके हैं पहले भी, और मैं भी इस पर चला जाऊँ। लेकिन ध्यान रहे, दूसरे के रास्ते से कोई अपनी मंजिल पर नहीं पहुँच सकता। जब रास्ता दूसरे का है, तो मंजिल भी दूसरे की होगी। और दूसरे की मंजिल पर पहुँच जाने से बेहतर है, अपनी मंजिल को खोजने में भटक जाना। क्योंकि भटकना भी जीत बन जाती है। और

भूल भी सुधारी जा सकती है। भूल से, आदमी भूल करने से बचता है। भूल ज्ञान है। अपनी खोज में भटकना और गिरना भी उचित है। दूसरे की खोज में अगर बिलकुल राजपथ है, तो भी व्यर्थ है, क्योंकि वह आपकी मंजिल पर नहीं पहुँचता।

स्वधर्म दुस्साहस है। क्योंकि स्वधर्म है—अज्ञान, अनजान, अपरिचित। यहाँ तो रास्ता बना-बनाया नहीं है। यहाँ तो चलना और रास्ता बनाना एक ही बात के दो ढंग हैं, कहने के। यहाँ तो चलना ही रास्ता बनाना है। एक बीहड़ जंगल में आप चलते हैं और रास्ता बनता है। जितना चलते हैं, उतना ही रास्ता बनता है। बेकार लगेगा, क्योंकि रास्ता होना चाहिए चलने के पहले, तो उसका कोई सहारा मिलता है। आप चलते हैं जंगल में, लताएँ टूट जाती हैं, वृक्षों को हटा लेते हैं, जगह साफ कर लेते हैं, लेकिन उससे कोई हल नहीं होता। आगे फिर रास्ता बनाना पड़ता है।

स्वधर्म में चलना ही मार्ग का निर्माण है। इसलिए भटकन तो निश्चित है, लेकिन भटकन से जो भयभीत है, वह परधर्म की सुरक्षापूर्ण, सीक्योर्ड यात्रा पर निकल जायेगा। तो कृष्ण कहते हैं कि वह और भयपूर्ण है, क्योंकि यहाँ तुम भटक सकते थे, लेकिन वहाँ तुम पहुँच ही नहीं सकते हो। भटकने वाला पहुँच सकता है। भटकता वही है, जो ठीक रास्ते पर होता है। जरा इसे समझ लेना उचित होगा।

भटकता वही है, जो ठीक रास्ते पर होता है। क्योंकि तभी उसे झटकाव का पता चलता है कि वह भटक गया; लेकिन जो बिलकुल गलत रास्ते पर होता है, वह कभी नहीं भटकता, क्योंकि भटकने के लिए कोई मापदंड नहीं होता। दूसरे के रास्ते पर आप कभी नहीं भटकेंगे; रास्ता मजबूती से दिखाई पड़ेगा; कोई चल चुका है। आप लकीर पीटते हुए चले जायेंगे। लेकिन स्वधर्म के रास्ते पर भटकाव का डर है, साहस की जरूरत है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि धर्म बहुत जोखिम है और उसी जोखिम (रिस्क) की वजह से हम दूसरे का धर्म चुन लेते हैं। बेटा बाप का चुन लेता है, शिष्य गुरु का चुन लेता है, पीढ़ियाँ-दर-पीढ़ियाँ एक दूसरे के पीछे चली जाती है। कोई इसकी फिक्र नहीं करता कि दूसरे का धर्म मेरा धर्म नहीं हो सकता है।

मैं एक स्वभाव लेकर आया हूँ, जिसका अपना स्वर है, जिसका अपना संगीत है, जिसकी अपनी सुगंध है, जिसका अपना जीने का ढंग है। उस ढंग को मुझे विकसित करना होगा।

कृष्ण जोर देकर अर्जुन से कहते हैं कि 'तू ठीक से पहचान ले कि तेरा स्वधर्म क्या है।' और अर्जुन अगर आँख बंद करे और जरा ध्यान करे तो वह कह सकता है कि उसका स्वधर्म क्या है। हम कभी आँख बंद नहीं करते, नहीं तो हम भी कह सकते हैं कि

हमारा स्वधर्म क्या है। हम कभी खयाल नहीं करते कि हमारा स्वधर्म क्या है। और इसलिए कोई चीज हमें तृप्त नहीं करती है। जहाँ भी जाते हैं, वहीं अतृप्त होते हैं।

आज सारी दुनिया उदास है और लोग कहते हैं कि जीवन अर्थहीन है। अर्थहीन नहीं है जीवन, सिर्फ स्वधर्म खो गया है। इसलिए अर्थहीनता है। दूसरे के काम में अर्थ नहीं मिलता। अब एक आदमी जो गणित बना सकता है, वह कविता कर रहा है! अर्थहीन हो जायेगी कविता। सिर्फ बोझ मालूम पड़ेगा कि इससे तो मर जाना बेहतर है। यह कहाँ का नारकीय काम मिल गया। जब जो गणित कर सकता है, वह कविता कर रहा है। गणित और बात है—बिलकुल और। उसका काव्य से कोई लेना-देना नहीं है। गणित में दो और दो चार ही होते हैं। तो वहाँ उतनी सुविधा नहीं है, इतनी लोच नहीं। गणित बहुत सख्त है। काव्य बहुत लोचपूर्ण (फ्लेक्सिबल) है। काव्य तो एक बहाव है। गणित एक बहाव नहीं है। अब जो गणितज्ञ हो सकता था, अगर वह कवि होकर बैठ जाय, तो जीवन भर पायेगा कि किसी मुसीबत में पड़ा है; कैसे छुटकारा हो इस मुसीबत से? जो कवि हो सकता था, वह गणितज्ञ हो जाय, तो कठिनाई खड़ी होने वाली है; बहुत कठिनाई खड़ी हो जानेवाली है। क्योंकि इन दोनों के जीवन को देखने के ढंग ही भिन्न हैं। इन दोनों के सोचने की प्रक्रिया ही अलग है। इनके पास आँखें एक-सी दिखाई पड़ती हैं, एक-सी हैं नहीं।

मैंने सुना है, एक जेलखाने में दो आदमी एक ही दिन बंद किये गये। साँझ, पूर्णिमा की रात, चाँद निकला है। दोनों सीखचों को पकड़ कर खड़े हैं। एक के चेहरे पर इतना आह्लाद है, जैसे उसे स्वर्ग का खजाना मिल गया हो—जेल के सीखचों के भीतर। दूसरे के चेहरे पर ऐसा क्रोध है कि अगर उसका बस चले तो सब में आग लगा दे, जैसे नरक में खड़ा हो। तो दूसरे आदमी ने पास खड़े आदमी से कहा कि 'इतने प्रसन्न दिखाई पड़ रहे हो, पागल तो नहीं हो! यह जेलखाना है; इतनी प्रसन्नता? सामने देखते हो डबरा भरा हुआ है, गंदगी फैली हुई है; बास आ रही है; मच्छड़-कीड़े घूम रहे हैं। कहाँ बंद किया हुआ है हमें लाकर!' तो उस दूसरे आदमी ने कहा कि 'तुमने कहा तो मुझे याद आया कि जेल के भीतर हैं, अन्यथा मैं पूर्णिमा के चाँद के पास पहुँच गया था। मुझे पता ही नहीं था कि मैं जेलखाने में हूँ और तुम कहते हो तो मुझे दिखाई पड़ता है कि सामने डबरा है, अन्यथा पूर्णिमा का चाँद जब ऊपर उठा हो, तो डबरे सिर्फ पागल देखते हैं, डबरे को देखने की फुर्सत कहाँ? आँख कहाँ?'

ये दोनों आदमी एक ही साथ खड़े हैं, एक ही जेलखाने में। इन दोनों के पास एक-सी आँखें हैं, लेकिन एक-सा स्वधर्म नहीं है; स्वधर्म भिन्न-भिन्न है। और वह आदमी कहता है कि 'मुझे पता ही नहीं था कि मैं जेलखाने में हूँ। जब पूर्णिमा का चाँद निकला हो, तो कैसे पता हो सकता है कि जेलखाने में हैं।' वह दूसरा आदमी कहेगा कि

'पागल हो गये हो! जब जेलखाने में हो तो पूर्णिमा का चाँद निकल ही कैसे सकता है ?' ठीक है न ! जब जेलखाने में बंद है आदमी, तो पूर्णिमा का चाँद निकलता है कहीं ? --जेलखाने में ? जेलखाने में कभी पूर्णिमा नहीं होती; वहाँ अमावस्या ही रहती है। और ये दो आदमी, इनके देखने के दो ढंग. . .और दो ढंग ही होते तो भी ठीक था। जितने आदमी उतने ढंग हैं।

स्वधर्म का मतलब है कि पृथ्वी पर जितनी आत्माएँ हैं, उतने धर्म हैं, उतने स्वभाव हैं। दो कंकड़ भी एक जैसे खोजना मुश्किल है, दो आदमी तो खोजना बहुत ही मुश्किल है। सारी पृथ्वी को छान डालें, तो दो कंकड़ भी नहीं मिल सकते, जो बिलकुल एक जैसे हों। आदमी बड़ी घटना है। कंकड़ों तक को परमात्मा व्यक्तित्व देता है, तो आदमी को तो देता है ही है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'खोज, पीछे लौट कर देख, तू क्या हो सकता है।' अर्जुन को कृष्ण, अर्जुन से ज्यादा बेहतर ढंग से जानते हैं। कृष्ण की आँखें अर्जुन को आप-पार देख पाती हैं।

पश्चिम में मनोविज्ञान कह रहा है कि प्रत्येक नर्सरी स्कूल में, किंडरगार्डेन में, प्राइमरी स्कूल में मनोवैज्ञानिक होने चाहिए, जो प्रत्येक बच्चे का एप्टिट्यूड (अगर कृष्ण की भाषा में कहें तो स्वधर्म)--प्रत्येक बच्चे के झुकाव का पता लगाये। और मनोवैज्ञानिक कहें कि बच्चे का यह झुकाव है तो बाप उस बच्चे के लिए कुछ भी कहे कि इसको डॉक्टर बनाना है, लेकिन अगर मनोवैज्ञानिक कहे कि चित्रकार, तो बाप की नहीं चलनी चाहिए। सरकार कहे कि इसे डॉक्टर बनाना है, तो सरकार की नहीं चलनी चाहिए। सरकार कितना ही कहे कि हमें डॉक्टरों की जरूरत है, हमें पेन्टरों की जरूरत नहीं है, तो भी नहीं चलनी चाहिए। क्योंकि यह आदमी डॉक्टर हो ही नहीं सकता। हाँ, डॉक्टर की डिग्री इसे मिल सकती है, लेकिन यह डॉक्टर हो नहीं सकता। इसके पास चिकित्सा का एप्टिट्यूड नहीं है। इसके पास वह गुणधर्म नहीं है।

पश्चिम का मनोवैज्ञानिक इस सत्य को समझने के करीब आ गया है। और वह कहता है कि अब तक बच्चों के साथ ज्यादती होती रही है। कभी बाप तय कर लेता है कि बेटे को क्या बनाना है, कभी माँ तय कर लेती है, कभी समाज तय कर देता है कि इंजीनियर की ज्यादा जरूरत है। कभी बाजार तय कर देता है। मार्केट वेल्यू (बाजार में कीमत) डॉक्टर की ज्यादा है, इंजीनियर की ज्यादा है, कभी किसी की ज्यादा है--इन सब से तय हो जाता है। सिर्फ एक व्यक्ति जिसे खुद ही तय करना था, वह भर तय नहीं करता है। तो उस व्यक्ति की अंतरआत्मा में कभी नहीं खोजा जाता है कि यह आदमी क्या होने को है। बाजार तय कर देगा, माँ-बाप तय कर देंगे, हवा तय कर देगी कि क्या होना है।

स्वभावतः मनुष्य विजड़ित हो गया, क्योंकि कोई मनुष्य वह नहीं हो पाता है, जो

वह हो सकता है। और जब कभी हम करोड़ों लोगों में एकाध आदमी वही हो जाता है, जो होने को पैदा हुआ था, तो उसका आनंद और है, उसका नृत्य और है, उसका गीत और है, उसकी जिंदगी की खुशी और है; फिर हम तड़पते हैं कि यह खुशी हमको कैसे मिले ? कौन-सा मंत्र पढ़ें ? कौन-सा ग्रंथ पढ़ें कि यह खुशी मिले ? सच बात यह है कि खुशी सिर्फ स्वधर्म के पूर्ण होने से (फुलफिलमेन्ट से) मिलती है और किसी तरह मिलती नहीं। बाकी सब समझाने की तरकीबें हैं, कन्सोलेशन्स हैं।

आदमी को आनन्द सिर्फ उसी दिन मिलता है, जिस दिन उसके भीतर का बीज पूरा खिल जाता है और फूल बन जाता है। उस दिन वह परमात्मा के चरणों में समर्पित हो पाता है। उस दिन वह धन्यभागी हो जाता है। उस दिन वह कह पाता है कि प्रभु तेरी अनुकम्पा है, तेरी कृपा है; धन्यभागी हूँ कि तुमने मुझे पृथ्वी पर भेजा है। अन्यथा वह जिंदगी भर कहता रहता है कि मेरे साथ अन्याय हुआ है; मुझे क्यों पैदा किया है ? क्या वजह है मुझे सताने का ? मुझे क्यों न उठा लिया जाय ?

कामू ने अपनी एक किताब का प्रारम्भ एक बहुत अजीब शब्द से किया है। लिखा है, 'दि ओनली मेटॉफिजिकल प्रॉबलम फॉर ह्यूमन काइंड इज सूसाइड--(मनुष्य जाति के सामने एक ही धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक प्रश्न है--और वह है : आत्म-हत्या)।' हम आत्म-हत्या क्यों न कर लें ? रहने का क्या प्रयोजन है; क्या अभिप्राय है, क्या अर्थ है ? शायद ठीक कहता है वह।

एक ओर कहाँ हम कृष्ण को देखते हैं : बाँसुरी बजाते, नाचते--कहाँ तक ओर हम दुःख से, पीड़ा से भरे हुए लोग ! कहाँ एक ओर बुद्ध कहते हैं कि परम शांति है, कहाँ एक ओर हम कहते हैं कि शांति परिचित ही नहीं हैं, उसकी कोई पहचान नहीं है। कहाँ एक ओर क्राइस्ट कहते हैं कि प्रभु का राज्य है और कहाँ एक हम हैं, जिन्हें सिवाय नरक के और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। या तो ये सब पागल हैं या हम चूक गये हैं। जहाँ ये नहीं चूके हैं, वहाँ हम चूक गये हैं--स्वधर्म से चूक गये हैं।

इसलिए मैं भी दोहराता हूँ कि स्वधर्म में असफल हो जाना भी श्रेयस्कर है। परधर्म में सफल हो जाना भी अश्रेयस्कर है। स्वधर्म में मर जाना भी उचित है, परधर्म में अनंतकाल तक जीना भी नरक है। स्वधर्म में एक क्षण भी जो जी ले वह मुक्ति को अनुभव कर लेगा। एक क्षण भी अगर मैं पूरी तरह वही हो जाऊँ, जो परमात्मा ने चाहा है कि मैं होऊँ, तो बस, उससे ज्यादा प्राणों की और कोई प्यास नहीं है।

● प्रश्न : भगवान् श्री, आप कहते हैं, धर्म एक है, समाधि एक है, परमात्मा एक है, लेकिन स्वधर्म अनेक हैं, इन दोनों में कैसे तालमेल बैठे, इसे स्पष्ट करें।

ऐसे ही, जैसे सरिताएँ बहुत हैं और सागर एक है। ऐसे ही जैसे वर्षा की बूंदें बहुत हैं, वर्षा एक है। ऐसे ही, जैसे गुलाब अलग है, कमल अलग है, लेकिन खिलना

(फ्लावरिंग) एक है, फूल हो जाना एक है, खिल जाना एक है। स्वधर्म अलग-अलग हैं, धर्म अलग नहीं है। और जिस दिन मैं अपने स्वधर्म की पूर्ति करता हूँ और आप अपने स्वधर्म की पूर्ति करते हैं, तो जिस मंजिल पर हम पहुँच जाते हैं, वह एक है। लेकिन रास्ते अलग हैं। जिस रास्ते से आप पहुँचते हैं, वह मेरा रास्ता नहीं है। जिस रास्ते में से मैं पहुँचा हूँ, वह रास्ता आपका नहीं है। एक कवि भी अपने गीत को गाकर उस आनन्द को उपलब्ध हो जाता है, जो एक गणितज्ञ अपने सवाल को हल करके होता है। लेकिन सवाल अलग है और कविता अलग। एक चित्रकार भी अपने चित्र को बनाकर उसी आनन्द को उपलब्ध हो जाता है, जिसे एक नृत्यकार नाचकर होता है। लेकिन नाचना अलग है, चित्रकारी अलग है—पर आनन्द एक है। स्वधर्म जहाँ पहुँचा देता है, वह मंजिल एक है।

जैसे पहाड़ पर हम चढ़ते हों अपने-अपने रास्तों से और सब शिखर पर पहुँच जायें, तो शिखर पर पहुँच जाना एक, उस शिखर पर हवाएँ—और सूरज—और आकाश—और उड़ते बादल हैं, वे एक हैं, लेकिन जिन रास्तों से हम आये हैं वे सब अलग हैं।

दो आदमी एक रास्ते से नहीं पहुँचते एक शिखर पर, क्योंकि दो आदमी एक जगह नहीं खड़े हैं। एक जगह खड़े भी नहीं हो सकते। जो जहाँ खड़ा है, वह वहीं से यात्रा शुरू करेगा। अब मैं यहाँ बैठा हूँ और अगर आप सब मेरी तरफ चलना शुरू करें, तो आप वहीं से शुरू करेंगे न, जहाँ आप बैठे हैं। और आप अपनी जगह अकेले ही बैठे हैं। आपकी जगह और कोई नहीं बैठा है। चलेंगे तो दिशाएँ अलग होंगी, ढंग चलने के अलग होंगे, चलने की शक्तियाँ अलग होंगी, चलने के इरादे अलग होंगे, पहुँचने के चाल अलग होंगे। पहुँच जायेंगे एक जगह। जैसे सब सरिताएँ सागर में पहुँच जाती हैं, ऐसे ही सब स्व-धर्म महा-धर्म में पहुँच जाते हैं। वह धर्म एक है, लेकिन वह धर्म उस दिन मिलता है, जिस दिन स्व मिट जाता है।

अर्जुन से अभी कृष्ण उस धर्म की बात नहीं कर रहे हैं; उसकी भी बात करेंगे। तब वे अर्जुन से कहेंगे, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य...' वे उसकी भी बात करेंगे। वे कहेंगे—'तू सब धर्म छोड़ दे...।' अभी वे कह रहे हैं, स्वधर्म पकड़ ले। यही कृष्ण अर्जुन से कहेंगे कि तू अब सब धर्म छोड़। अब तू मुझमें आ जा।

हम गंगा से नहीं कह सकते कि तू यमुना के रास्ते पर चल। हम यमुना से नहीं कर सकते कि तू सिन्धु के रास्ते पर चल। हम सिन्धु से नहीं कह सकते कि ब्रह्मपुत्र के रास्ते से चल। लेकिन जब वे सागर के किनारे पहुँचेंगे, तब सागर कहेगा कि आ जाओ, सब अपने रास्तों को छोड़कर मुझमें आ जाओ। चलेंगे सब अपने रास्ते पर, फिर एक दिन रास्ते भी छोड़ देने पड़ते हैं। जिस दिन मंजिल मिल जाती है, उस दिन रास्ता छोड़ देना पड़ता है। मंजिल मिलकर जो रास्ते को पकड़े रहे, वह पागल

है। परमात्मा सामने आ जाय और वह स्व को पकड़े रहे, तो पागल है। लेकिन परमात्मा सामने न हो और कोई 'पर' को पकड़ ले परमात्मा की जगह, वह भी पागल है। 'पर' (दि अदर) परमात्मा नहीं है।

जब तक स्व ही सब कुछ है, तब तक परमात्मा ही नहीं मिलता। जब तक आत्मा ही सब कुछ है; तब तक आत्मा की ही फिक्र करें। जब तक सागर नहीं मिलता, तब तक नदी अपने रास्ते को पकड़ी रहे और जिस दिन सागर मिल जाय तो नाचे और लीन हो जाय। उस दिन सब रास्ते छोड़ दे, सब रास्ते तोड़ दे, फिर उस दिन मोह न करे कि इन तटों ने इतने दिन साथ दिया, इन्हें कैसे छोड़ूँ। फिर उस दिन यह चिंता न करे कि जिन रास्तों ने यहाँ तक पहुँचाया, उन्हें कैसे छोड़ूँ? रास्तों ने यहाँ तक पहुँचाया ही इसलिए कि अब उन्हें छोड़ दो। बस, रास्ते समाप्त हुए। धर्म वहाँ मिलता है, जहाँ स्वधर्म लीन हो जाता है।

तीन बातें हुईं। परधर्म, स्वधर्म और धर्म। हम परधर्म में जीते हैं। अर्जुन परधर्म के लिये लालायित हो रहा है। है क्षत्रिय। प्रतिभा (एप्टिट्यूड) उसकी वही है। अगर मनोवैज्ञानिक कहते, तो वे कहते कि तू कुछ और नहीं कर सकता। तेरी आत्मा निखरेगी, तेरी तलवार की चमक के साथ। तू जागेगा उसी क्षण में, जहाँ प्राण दाँव पर होंगे। तू कोई आँख बंद करके ध्यान करने वाला आदमी नहीं है। तुझे ध्यान लगेगा, लेकिन युद्ध की प्रखरता में, इन्टेन्सिटी में। वहाँ तू लीन हो जायेगा। वहाँ तू भूल जायेगा। तू ऐसा सुबह बैठकर ध्यान नहीं कर सकता कि 'मैं शरीर नहीं हूँ।' नहीं, जब तलवारें चमकेंगी धूप में और दाँव पर सब कुछ होगा, तब तू भूल जायेगा कि तू शरीर है, तब तुझे पता भी नहीं रहेगा कि तू शरीर है। तू जानेगा कि शरीर नहीं है। लेकिन वह तलवार की दाँव पर होगा। घर में बैठकर माला पकड़ कर तुझसे यह होनेवाला नहीं है। वह तेरा 'एप्टिट्यूड' नहीं है, वह तेरा स्वधर्म नहीं है। अभी तू परधर्म पकड़ने की मत सोच।

बड़े मजे की बात है, जो परधर्म को पकड़ ले, वह परमात्मा तक कभी नहीं पहुँच सकता। परधर्म पकड़नेवाले तो स्वधर्म तक ही नहीं पहुँचते, परमात्मा तक पहुँचने का तो सवाल ही नहीं उठता। कृष्ण कहते हैं कि तू पहले परधर्म छोड़, स्वधर्म पकड़। फिर घड़ी आयेगी, तब कृष्ण स्वधर्म छोड़ने की भी बात करेंगे। तब कृष्ण कहेंगे कि स्वधर्म भी छोड़ अब, परमात्मा में लीन हो जा। 'पर' को छोड़ पहले, फिर 'स्व' को भी छोड़ देना, तब सर्व उपलब्ध होगा। पर को छोड़कर स्व, स्व को छोड़कर सर्व। उसके आगे फिर कुछ छोड़ने और पकड़ने को नहीं रहता।

स्वधर्म परधर्म के विपरीत है। और धर्म जो है, वह अधर्म के विपरीत है। परधर्म से यात्रा स्वधर्म तक, स्वधर्म से यात्रा धर्म तक। जो आदमी स्वधर्म को लेकर चलेगा, एक

दिन धर्म में पहुँच जायेगा और जो आदमी परधर्म को पकड़ कर चलेगा, एक दिन अधर्म में पहुँच जायेगा। परधर्म का आखिरी कदम अधर्म होगा। क्योंकि परधर्म को पकड़ने वाले की निजता खो जाती है, उसका आत्मा खो जाता है। और जिस दिन आत्मा खो जाता है, उस दिन अधर्म घर कर लेता है। खुद का दिया बुझ गया, तो अँधेरा घर में प्रवेश कर जायेगा। जिसका स्वधर्म जागता है, वह अधर्म में कभी नहीं गिर पाता है। स्वधर्म की ज्योति बढ़ते-बढ़ते एक दिन धर्म के सूर्य के साथ एक हो जाती है। उस दिन वह धर्म को उपलब्ध हो जाती है। ये बातें खयाल में ले लेनी हैं।

हमारे सामने अभी विकल्प है—या तो स्वधर्म, या परधर्म। अगर अधर्म तक जाना हो, तो परधर्म का रास्ता उपयोगी है, हितकर है, सहयोगी है। अगर धर्म तक जाना हो, तो स्वधर्म का रास्ता हितकर है, सहयोगी है। अधर्म तक हम दूसरे के द्वारा पहुँचते हैं। अधर्म तक, सदा ही हम 'वाया दि अदर' (दूहरे के द्वारा) पहुँचते हैं और धर्म तक हम सदा ही 'वाया सेल्फ' (स्व के द्वारा) पहुँचते हैं। इसलिये धर्म पर जाने वाला आदमी एकांत में चला जाता है—जहाँ दूसरे न हों, दूसरे का चित्र भी न बने। इसलिये धर्म की खोज में बुद्ध जंगल में चले जाते हैं, महावीर पहाड़ों पर चले जाते हैं, मुहम्मद पहाड़ चढ़ जाते हैं, मूसा साइनाइ के पर्वत पर खो जाते हैं।

धर्म की खोज में जाने वाला आदमी दूसरे से हटता है, चुपचाप हट जाता है। 'न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी।' न पर रहे, न पर को पकड़ने का प्रलोभन रहे। हट जाता है। लेकिन जिस आदमी को अधर्म करना है, वह आदमी भीड़ खोजता है। वह आदमी कभी अकेलापन नहीं खोजता। क्योंकि अधर्म करने के लिये दूसरा बिलकुल जरूरी है।

यह बड़े मजे की बात है कि शांत तो आप अकेले भी हो सकते हैं, अशांत होने के लिये दूसरा बिलकुल जरूरी है। यह बड़े मजे की बात है कि आनन्दित तो आप अकेले में भी हो सकते हैं, लेकिन दुःखी होने के लिये दूसरा बहुत जरूरी है। यह बड़े मजे की बात है कि पवित्रता में तो आप अकेले भी हो सकते हैं, लेकिन पाप में उतरने के लिये दूसरा बिलकुल जरूरी है। ब्रह्मचर्य में तो आप अकेले भी हो सकते हैं, लेकिन कामुकता के लिए दूसरा बिलकुल जरूरी है। त्याग तो आप अकेले भी कर सकते हैं, लेकिन भोग के लिये दूसरा बिलकुल जरूरी है। इसे खयाल में ले लें।

एक ईसाई कहानी है ओल्ड टेस्टामेंट में। ईदन के बगीचे में अदम और ईव को परमात्मा ने बनाया। कहानी है, लेकिन एक बात देखने जैसी है, इसलिये आपसे कहता हूँ। और परमात्मा ने कहा कि यह एक वृक्ष है, इसके फल मत खाना। यह ज्ञान का वृक्ष है, इसके फल खाये कि तुम स्वर्ग के दरवाजे के बाहर कर दिये जाओगे। बड़ी अजीब बात थी! अज्ञान का कोई फल खाये और स्वर्ग के बाहर कर दिया जाये, तो समझ में आता है। ज्ञान का कोई फल खाये और स्वर्ग के दरवाजे से बाहर कर दिया जाये, यह समझ में

आने में कठिनाई होती है। लेकिन साफ परमात्मा ने कहा कि ज्ञान का वृक्ष है, इसके फल खाये तो स्वर्ग के बाहर कर दिये जाओगे।

एक साँप ने आकर ईव को, स्त्री को कहा कि 'तुम पागल हो। इस धोखे में मत पड़ो, परमात्मा खुद इसी वृक्ष के फल खाकर परमात्मा है। और पागल, कहीं ज्ञान के फल खाकर स्वर्ग खोता है। ज्ञान के फल से ही स्वर्ग मिलता है। तुम्हें पता ही नहीं है कुछ। खा लो और परमात्मा जैसे हो जाओ।' ईव ने अदम को समझाया कि 'इस फल को खा ही लेना चाहिये। इसमें जरूर कोई राज है, जरूर कोई रहस्य है और जब परमात्मा ने रोका, तो मतलब गहरा है। और परमात्मा ज्ञान के फल खाने से रोके, तो हमारा दोस्त नहीं दुश्मन है।' ज्ञान का फल! अदम को भी बात जँची, जैसा कि सदा ही स्त्रियों की बातें पुरुषों को जँच जाती हैं।

उसी दिन अदम के बगीचे में ऐसी भूल हुई, ऐसा नहीं, हर बगीचे में और हर घर में बहुत कुशल है।

ईव ने फुसलाया अदम को। अदम ने फल खा लिये, और तत्काल स्वर्ग के दरवाजे के बाहर निकाल दिये गये। परमात्मा ने कहा कि 'अदम तूने फल क्यों खाया?' उसने कहा, 'मैं क्या करूँ; दूसरे ने फुसलाया, ईव ने फुसलाया।' ईव से कहा गया कि 'तूने इसे क्यों फुसलाया'; तो उसने कहा कि 'दूसरे ने मुझे फुसलाया था—साँप ने मुझे फुसलाया।'

ईसाई कहानी कहती है कि दूसरे के मार्ग से पाप आता है। इस कहानी में एक बात और खयाल करने जैसी है और वह यह कि ज्ञान के फल ने अदम को स्वर्ग के बाहर क्यों कर दिया। क्योंकि जैसे ही अदम ने फल खाया और जैसे ही ईव ने फल खाया—उस ट्री ऑफ नॉलेज का, ज्ञान के वृक्ष का—वैसे ही अदम को पता चला कि मैं नंगा हूँ। ईव को पता चला कि मैं नग्न हूँ, उन्होंने जल्दी से पत्ते लेकर अपनी नग्नता ढँक ली। तो परमात्मा ने कहा कि तुमने ज्ञान तो पा लिया, लेकिन सरलता खो दी। और सरलता में ही स्वर्ग है—ज्ञान में नहीं, सरलता में। अब तक तुम बच्चों जैसे सरल थे, नग्न थे, तुम्हें पता न था कि तुम नग्न हो। अब तुम बच्चे जैसे न रहे। अब तुम चालाक हो गये। अब तुम कनिंग हो गये, अब केलकुलेटिंग हो गये, अब तुम हिसाब लगाने लगे कि नग्न हैं; ऐसा है, वैसा है। अब तुम सवाल उठाओगे, अब तुम सवालों में उलझोगे और गिरोगे।

जो ज्ञान सरलता को नष्ट कर दे, वह धोखा है, ज्ञान नहीं। जो ज्ञान सरलता को वापस लौटा दे, वही ज्ञान है। और दूसरे के मार्ग से ज्ञान नहीं आता, अज्ञान आता है। और दूसरे के मार्ग से धर्म नहीं आता, अधर्म आता है। धर्म का मार्ग स्वयं के भीतर है। वह गंगोत्री स्वयं के भीतर है जहाँ से ज्ञान की, धर्म की गंगा जन्मती है और एक दिन सर्व के सागर में लीन हो जाती है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। ३६ ।।

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। ३७ ।।

इस पर अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण, फिर यह पुरुष बलात्कार से लगाये हुये के सदृश्य, न चाहता हुआ भी, किससे प्रेरा हुआ पाप का आचरण करता है ?

श्री कृष्ण भगवान् बोले, 'हे अर्जुन, रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम, क्रोध ही है; यही महाअशन अर्थात् अग्नि के सदृश, भोगों से तृप्त न होनेवाला और बड़ा पापी है। इस विषय में इसको ही तू वैरी जान।

अर्जुन ने एक बहुत ही गहरा सवाल कृष्ण से पूछा। अर्जुन ने कहा कि 'फिर अगर सब कुछ परमात्मा ही कर रहा है, अगर सब कुछ प्रकृति के गुणधर्म से ही हो रहा है, अगर सब कुछ सहज ही प्रवाहित है और अगर व्यक्ति जिम्मेवार नहीं है, तो फिर उसे पाप कर्म न चाहते हुये भी क्यों करना पड़ता है ? आदमी बलात् पाप कर्म क्यों करता है ? कौन करवाता है ? अगर परमात्मा ही चला रहा है सब कुछ और मैं भी नहीं चाहता कि बुरा कर्म करूँ, फिर भी मैं बुरे कर्म में प्रवृत्त हो जाता हूँ, तो बलात् मुझे कौन बुरे कर्म में धक्का दे देता है ?' गहरा सवाल है। कहना चाहिये कि मनुष्य जाति ने जो गहरे से गहरे सवाल उठाये हैं, उनमें से एक है।

सभी धर्मों के सामने—चाहे हिब्रू, चाहे ईसाई, चाहे इस्लाम, चाहे हिन्दू, चाहे जैन—गहरे से गहरा सवाल यही उठा है कि अगर परमात्मा ही चला रहा है और हम भी नहीं चाहते.....और फिर कहा जाता है कि हमारे चाहने से कुछ होता नहीं। हम चाहें तो भी परमात्मा जो चाहे उससे अन्यथा नहीं हो सकता और हम चाहते भी नहीं कि बुरा कर्म करें और परमात्मा तो चाहेगा नहीं कि बुरा कर्म हो, फिर कौन हमें धक्के देता है और बलात् बुरे कर्म करवा लेता है ? 'फ्रॉम व्हेयर इज ईविल—यह बुराई कहाँ से आती है ?' अलग-अलग चिंतकों ने अलग-अलग उत्तर खोजे, जो बहुत गहरे नहीं गये। उन्होंने कहा कि एक शैतान है, जो सब करवा लेता है। उत्तर खोजना जरूरी है, लेकिन यह कोई बहुत गहरा उत्तर नहीं है। वे कहते हैं : एक डेविल है, एक पापात्मा है। वह डेविल (शैतान) सब करवा लेता है। लेकिन उत्तर बहुत गहरा नहीं है, क्योंकि अर्जुन को अगर यह उत्तर दिया जाये, तो अर्जुन कहेगा कि 'क्या वह परमात्मा उस पापात्मा पर कुछ नहीं कर पाता ? यह परमात्मा उस शैतान का कुछ नहीं कर पाता, तो क्या वह शैतान परमात्मा से भी ज्यादा शक्तिशाली है ? और अगर शैतान

परमात्मा से ज्यादा शक्तिशाली है, तो मुझे परमात्मा के चक्कर में क्यों उलझाते हो, मैं शैतान को ही नमस्कार करूँ !'

आदमी से सब बुरे काम शैतान करवाता है, यह उत्तर न तो वैज्ञानिक है, और न बहुत गहरा है। इससे तो केवल वे ही राजी हो सकते हैं, जो किसी भी चीज के लिये राजी हो सकते हैं। इस उत्तर से और कोई राजी नहीं हो सकता। लेकिन कृष्ण ऐसा उत्तर नहीं देते हैं। कृष्ण बहुत वैज्ञानिक उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि 'प्रकृति के तीन गुण हैं : तमस्, रजस्, और सत्त्व, जिनके कारण सब कुछ होता है।' उनका उत्तर बहुत वैज्ञानिक है।

यह तीन गुणों की बात जब कृष्ण ने कही थी, तब वह बड़े वैज्ञानिक आधार रखती थी—लेकिन कृष्ण के बाद पिछले पाँच हजार सालों से जितने लोगों ने कही, उनको इसके विज्ञान का कुछ बोध नहीं था। दोहराते रहे, लेकिन अभी पश्चिम में पिछले बीस साल में विज्ञान ने फिर कहा कि प्रकृति त्रिगुणा है। जिस दिन हम आधुनिक सदी में परमाणु का विश्लेषण कर सके, परमाणु को तोड़ सके, उस दिन हमें पता चला कि परमाणु तीन हिस्सों में टूट जाता है। पदार्थ का जो अंतिम परमाणु है, वह तीन हिस्सों में टूट जाता है : इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन, और प्रोटॉन में टूट जाता है और वैज्ञानिक कहते हैं कि इन तीन के बिना परमाणु नहीं बन सकता। और इन तीन के जो गुण धर्म हैं, वे वही गुण-धर्म हैं, जो सत, रज और तम के हैं। ये तीन जो काम करते हैं, वे वही काम करते हैं, जो हम बहुत पुराने दिनों में सत, रज और तम शब्दों में से हुआ समझते थे।

इसमें तमस् (इनरसिया) जो है, वह अवरोध का तत्त्व है, स्थिरता का तत्त्व है। अगर तमस् न हो तो जगत् में कोई भी चीज स्थिर नहीं रह सकती। आप एक पत्थर उठाकर फेंकते हैं, अगर जगत् में कोई तमस् न हो, कोई ग्रेव्हिटेशन न हो, रोकने वाली कोई अवरोधक ताकत न हो, तो फिर कोई पत्थर कभी भी गिरेगा नहीं। आपने फेंक दिया, फिर वह चलता ही रहेगा, अनंत काल तक। फिर वह गिरेगा कैसे ? (कुछ अवरोध हो, कोई हो जो रोकता हो;) आप भी पृथ्वी पर नहीं हो सकेंगे। बिना पृथ्वी की कशिश के कभी के हम उड़ गये होते। जमीन खींच रही है, तमस् (ग्रेव्हिटेशन) का भार हमें रोके हुये है।

अभी जो अंतरिक्ष यात्री अंतरिक्ष यात्रा पर गये, उनकी बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में एक कठिनाई यह है कि कैसे जमीन के ग्रेव्हिटेशन के बाहर हों। दो सौ मील के पार वैसे ही कशिश समाप्त हो जाती है, तो आदमी गुब्बारे जैसा हो जाता है, जैसे गैस भरा गुब्बारा उड़ने लगता है। अगर बेल्ट न बँधा हो कुर्सी से, तो आप तत्काल यान की कुर्सी से उठकर यान के ऊपरी छत से गुब्बारे की तरह टकराने लगेंगे। फिर नीचे भी उतर नहीं सकते, कोई ताकत काम नहीं करती, नीचे उतरने के लिये। चाँद पर यही

कठिनाई है, क्योंकि तमस् चाँद का कम है—आठ गुना कम है। इसलिये अगर चाँद पर हम एक मकान बनायेंगे तो चोर आठ गुना ऊँची छलाँग लगा सकता है। फुटबाल को वहाँ चोट मारेगा खिलाड़ी, तो यहाँ जमीन से जितनी ऊँची जाती है, उसकी आठ गुनी ऊँची चली जायेगी।

तमस् का अर्थ है इनरशिया, अवरोधक शक्ति। अब बड़े मजे की बात है कि अगर अवरोधक शक्ति न हो तो गति भी असंभव है। गति भी इसीलिये संभव है कि अवरोधक शक्ति का उपयोग कर पाते हैं। आपकी कार में जैसे ब्रेक न हो, फिर गति भी संभव नहीं, आप पक्का समझ लें। फिर कार चलनी भी संभव नहीं है। समझो चल गई, बस, एक ही दफा चल गई। इसे ब्रेक भी चाहिये, जो अवरोधक है। एसीलेरेटर ही काफी नहीं है—अवरोधक भी चाहिये। जीवन एकदम विस्फोट हो जाये, अगर उसकी रोकने वाली ताकत न हो।

इनरशिया, तमस् जो है, वह रोकने वाली ताकत है। रजस् जो है, वह गति की मूव्हमेन्ट की ताकत है। ये उलटे लगते हैं। तमस् रोकता है, रजस् गति देता है। रजस् शक्ति है, एनर्जी है। सत् तीसरा कोण है। जैसे कि हम एक त्रिकोण बनायें, दो कोण नीचे हों और एक कोण ऊपर हो। सत् इन दोनों के ऊपर है, कहें कि इन दोनों का 'बैलेंस' है, संतुलन है। सत् बैलेन्सिग तत्त्व है, वह संतुलन है। जैसे एक कार है। उसमें एसीलेरेटर भी है, और ब्रेक भी है, लेकिन ड्राइवर नहीं है। वह जो ड्राइवर है, वह पूरे वक्त बैलेन्सिग करता है। जरूरत होती है, तो ब्रेक पर पैर ले जाता है, जरूरत होती है तो एसीलेरेटर पर पैर ले जाता है। वह पूरे वक्त बैलेन्स कर रहा है। सत् जो है, वह बैलेन्सिग है।

ये तीन तत्त्व हैं, जिनको भारत ने ऐसे नाम दिये थे। पश्चिम जिनको इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन कहे। कोई और नाम दें, कोई अंतर नहीं पड़ता। एक बात बहुत अनिवार्य रूप से सिद्ध हो गई है कि जीवन का अंतिम विश्लेषण तीन शक्तियों पर टूटता है। इसलिये हमने इन तीन शक्तियों को कई तरह के नाम दिये। जो लोग वैज्ञानिक ढंग से सोचते थे, उन्होंने रजस्, तमस्, सत्त्व ऐसे नाम दिये। जो लोग मेटाफॉरिकल, काव्यात्मक ढंग से सोचते थे, उन्होंने इन्हें कहा : ब्रह्मा, विष्णु, महेश। उनका भी काम वही है। ये तीन नाम भी यही काम करते हैं। उसमें ब्रह्मा सर्जक शक्ति हैं, विष्णु संभालने वाले (सस्टैनर) और शिव विनाश करनेवाले। ये जो इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन हैं, ये भी तीन काम करते हैं। उसमें जो इलेक्ट्रॉन है वह निगेटिव है। वह ठीक शिव जैसा निगेट करता है—तोड़ता है, नष्ट करता है। उसमें जो प्रोटॉन है, वह ब्रह्मा जैसा है, पोजिटिव है, इसलिये प्रोटॉन उसका नाम है। वह विधायक है, वह निर्माण करता है और उसमें जो न्यूट्रॉन है, वह न निगेटिव है, न

पोजिटिव है, वह मध्य में है, बीच में है, बैलेन्सिग है।

कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य के भीतर जो भी घटित होता है, बाहर और भीतर, वह इन तीन शक्तियों का खेल है। इन तीन शक्तियों के अनुसार सब घटित होता है। आदमी घटाया जाता, रोका जाता, जन्माया जाता, मरण को उपलब्ध होता, हँसी को उपलब्ध होता, रोने का उपलब्ध होता—वह सब इन तीन शक्तियों का काम है। ये तीन शक्तियाँ अपना काम करती रहती हैं। ये परमात्मा के तीन रूप जीवन को सृजन देते रहते हैं।

अर्जुन पूछता है, 'नहीं भी हम करना चाहते, फिर कौन करवा लेता है?' आप तो चाहते हैं कि जमीन पर न गिरें, लेकिन जरा पैर फिसला कि गिर जाते हैं। क्या कोई शैतान गिरा देता है? कोई शैतान नहीं गिरा देता; ग्रेव्हिटेशन अपना काम करता है। आप नहीं गिरना चाहते—माना, स्वीकृत। आप नहीं गिरना चाहते, लेकिन आप उलटे-सीधे चलेंगे तो गिरेंगे। आप नहीं गिरना चाहते तो भी गिरेंगे। पैर को पलस्तर लगेंगे। आप डॉक्टर से कहेंगे, 'मैं नहीं गिरना चाहता था और परमात्मा तो टाँग तोड़ता नहीं किसी की, क्यों तोड़ेगा? इतना बुरा तो नहीं हो सकता कि अकारण मुझ भले आदमी को, जो गिरना भी नहीं चाहता, उसकी टाँग तोड़ दे। लेकिन मेरी टाँग क्यों टूट गई?' तो डॉक्टर वही उत्तर देगा, जो कृष्ण ने दिया। डॉक्टर कहेगा कि 'ग्रेव्हिटेशन (गुरुत्वाकर्षण) की वजह से। जमीन में गुरुत्वाकर्षण है—आप कृपा करके सम्हल कर चलें। उलटे-सीधे चलेंगे तो ग्रेव्हिटेशन टाँग तोड़ देगी। क्योंकि प्रत्येक शक्ति अगर हम उसके प्रतिकूल चलें, तो वह नुकसान पहुँचाने वाली हो जाती है। अगर अनुकूल चलें तो नुकसान पहुँचाने वाली नहीं होगी।

प्रत्येक शक्ति का उपयोग अनुकूल और प्रतिकूल हो सकता है। अब मनुष्य के भीतर कौन-सी शक्तियाँ हैं, जो उसे बलात् कुछ करवा डालती हैं? जैसे कि एक आदमी नहीं गिरना चाहता है और गिर जाता है और टाँग टूट जाती है। और एक आदमी क्रोध नहीं करना चाहता और क्रोधी हो जाता है। कौन करा जाता है यह सब?—परमात्मा? परमात्मा को क्या प्रयोजन है! और परमात्मा ऐसा काम करे तो हम परमात्मा उसे कैसे कहेंगे? कोई कहेगा शैतान। कृष्ण कहते हैं, नहीं। कृष्ण कह रहे हैं, सिर्फ जीवन की शक्तियाँ काम कर रही हैं।

मनुष्य के भीतर क्रोध है। वह भी अविनार्य तत्त्व है, कहें कि वह हमारे भीतर निगेटिव फोर्स है; विनाश की शक्ति है, हमारे भीतर। प्रेम हमारे भीतर निर्माण की शक्ति है और विवेक हमारे भीतर 'बैलेंसिंग' तत्त्व है। जो आदमी विवेक को छोड़ सारी शक्ति क्रोध में लगा देगा, वह बलात् नरक की ओर चलने लगेगा; नहीं चाहेगा तो भी जायेगा। जो सारी शक्ति प्रेम की ओर लगा देगा, वह बलात् स्वर्ग की ओर जाने लगेगा—चाहे या न चाहे। उसके जीवन में सुख उतरने लगेगा। और जो आदमी बैलेन्स

कर लेगा और समझ लेगा कि दुःख और सुख दोनों के बीच में वह अलग है, वह आदमी मुक्ति और मोक्ष की दिशा में यात्रा करता है।

हमारे तीन शब्द और समझ लेने जैसे हैं, स्वर्ग, नरक और मोक्ष। स्वर्ग में वह जाता है—जो अपने भीतर की विधायक शक्तियों के अनुकूल चलता है। नरक में वह जाता है—जो अपने भीतर विनाशक शक्तियों के अनूकल चलता है। मोक्ष में वह जाता है—जो दोनों के अनुकूल नहीं चलता है; दोनों को संचालित करके दोनों की ट्रांसेंड (अतिक्रमण) कर जाता है, परे हो जाता है, अतीत हो जाता है।

कृष्ण कह रहे हैं, 'शक्तियाँ हैं और इन तीन शक्तियों के बिना जीवन नहीं हो सकता। इसलिये अर्जुन, कौन तुझे धक्का देता है, ऐसा तू मत पूछ। यह समझ कि धक्का तेरे भीतर से कैसे निर्मित होता है। काम, क्रोध, अहंकार अगर उनके प्रति तू अति से झुक जाता है तो जो तू नहीं चाहता उसे तुझे करना पड़ता है।' हम कहते हैं कि 'काम-वासना मन को पकड़ लेती है', ऐसा कहना ठीक नहीं है। कहना यही ठीक होगा कि जब आप काम-वासना को मन को पकड़ लेने देते हैं....आप जब पकड़ लेने देते हैं....। और ध्यान रहे, काम-वासना बिना आपके पकड़ाये आपको नहीं पकड़ती है। हाँ, एक सीमा होती है हर चीज की, उसके बाद मुश्किल हो जाता है रोकना। जगह-जगह कार की ट्रैफिक पर लिखा हुआ है कि यहाँ पाँच मील रफ्तार। क्यों? क्योंकि वहाँ इतने ज्यादा लोग गुजर रहे हैं कि अगर तीस मील की रफ्तार हो तो समय पर रोकना मुश्किल है। पाँच मील रफ्तार हो तो समय पर रोकना आसान है। जहाँ लोग कम गुजर रहे हैं, वहाँ सत्तर मील भी हो तो कोई हर्ज नहीं। वहाँ समय पर सत्तर मील पर भी रोकना आसान है। हर चीज की एक सीमा है।

सिग्मन्ड फ्रायड एक कहानी कहा करता था। वह कहा करता था कि एक छोटे-से गाँव में एक करीब म्युनिसिपल कमेटी ने गाँव का कचरा ढोने की घोड़ा-गाड़ी के लिये एक घोड़ा खरीदा। लेकिन गरीब थी म्युनिसिपैल्टी और कहते हैं कि गाँव बड़ा बुद्धिमान था। बुद्धिमान था ऐसा कहें या लोगों में ऐसी मजाक प्रचलित थी कि गाँव बड़ा बुद्धिमान है, गाँव को ऐसा खयाल था कि वह बहुत बुद्धिमान है। हालाँकि वह जो करता था, वह बहुत बुद्धिहीनता के काम होते थे। म्युनिसिपैल्टी ने एक घोड़ा खरीदा। लेकिन घोड़ा को घास, दाना, पानी देना इतना महँगा पड़ने लगा कि म्युनिसिपैल्टी के बजट पर भारी हुआ—गरीब, छोटी-सी म्युनिसिपैल्टी थी। कमेटी बुलाई गई। उन्होंने विचार किया कि क्या किया जाय। उन्होंने कहा कि 'आधा राशन करके देखा जाय घोड़े के लिये। अगर आधे में काम चल जाय तो ठीक, नहीं तो थोड़ा बढ़ा देंगे।' आधा राशन किया, लेकिन काम बिलकुल ठीक चल गया। घोड़ा आधे राशन पर भी जिंदा रहा। तब तो उन्होंने कहा कि 'हम पागल हैं, जो इसको इतना दें। और आधा करके देखें।' और

घोड़ा फिर भी जिंदा रहा और फिर भी काम करता रहा! उन्होंने कहा कि 'हम बिलकुल पागल हैं। इसे और आधा करें।' और भी आधा कर दिया। घोड़ा मुश्किल में रहा, लेकिन फिर भी किसी तरह काम करता रहा। म्युनिसिपल कमेटी ने कहा कि 'हम बिलकुल नासमझी कर रहे हैं, अब राशन बिलकुल बंद कर दें।' राशन बिलकुल बंद कर दिया। जो होना था, वही हुआ। घोड़ा मर गया। एक सीमा थी, जहाँ तक कम राशन पर भी घोड़े ने काम किया; फिर एक सीमा आई, जहाँ से काम नहीं कर सका।

हमारी प्रत्येक वृत्ति की सीमाएँ हैं, जहाँ तक हम उन्हें रोक सकते हैं, और जहाँ से फिर हम उन्हें नहीं रोक सकते।

एक विचार मेरे मन में उठा। शब्द बना मेरे भीतर। अभी मैं आपको न कहूँ, तो रोक सकता हूँ। फिर मेरे मुँह से शब्द निकल गया; अब इस शब्द को वापस नहीं ला सकता। एक सीमा थी, एक जगह थी; मेरे भीतर विचार भी था, शब्द भी था। ओठ पर आ गया था, फिर भी मैं रोक सकता था, फिर एक सीमा के बाहर बात हो गई। मैंने आपसे बोल दिया, अब मैं उसको वापस नहीं लौटा सकता। अब कोई उपाय उसे वापस लौटाने का नहीं है। एक जगह थी, जहाँ से वह वापस लौट जाता।

क्रोध—एक जगह है, जहाँ से वापस लौट सकता है। लेकिन जब उस जगह के आगे निकल जाता है, तो उसके बाद वापस नहीं लौटता। काम—एक जगह है, जहाँ से वापस लौट सकता है। जब उसके आगे चला जाता है तो फिर वापस नहीं लौटता। और ध्यान रहे, बड़े मजे की बात यह है कि उस सीमा तक, जहाँ तक काम वापस लौट सकता है, उस समय तक आप उसको सहयोग देते हैं। और जब वह वापस नहीं लौटता तब आप चिल्लाते हैं कि कौन मुझे फँसाये जा रहा है, कौन मुझे बलात् काम करवा रहा है। इसे ठीक से भीतर समझेंगे तो खयाल में आ जायेगा।

एक जगह है, जहाँ तक हर वृत्ति आपके हाथ में होती है। लेकिन जब आप उसे इतना उकसाते हैं कि आप का पूरा शरीर और पूरा यंत्र उसे पकड़ लेता है, फिर आपकी पकड़ के बाहर होता है। फिर आप कहते हैं, नहीं-नहीं। और फिर भी घटना घटती रहती है। फिर आप कहते हैं, 'कौन बलात् करवाये चला जाता है, जबकि हम नहीं करते हैं!' कोई नहीं करवाता, शक्तियाँ करती हैं। लेकिन करवाने का अंतिम निर्णय गहरे में आपका ही कोऑपरेशन है, आपका ही सहयोग है।

कृष्ण इतना ही कहते हैं कि कोई बैठा नहीं है पार, तुम्हें क्रोध में, काम में, युद्ध में, लड़ाई-झगड़े में ले जाने को। प्रकृति के नियम हैं। अगर उन नियमों को तुम समझ लेते हो—समता को, संतुलन को उपलब्ध होते हो; अनासक्ति को, साक्षी भाव को उपलब्ध होते हो; विवेक को, श्रद्धा को उपलब्ध होते हो तो फिर तुम्हें कोई फिक्र करने की जरूरत नहीं है, फिर जो भी होगा परमात्मा से होगा। लेकिन जब तक तुम ऐसी समता

को और अनासक्ति को उपलब्ध नहीं होते, भीतर तुम आसक्ति को पालते चले जाते हो, बारूद में चिनगारी डालते चले जाते हो, और फिर जब आग भड़क कर मकान को पकड़ लेती है, तब तुम कहते हो कि मैं तो चाहता नहीं था कि आग लगे, लेकिन आग लग गई। बारूद का नियम है कि घर में वह आग लगा देगी। तुमने चिनगारी फेंकी, और चिनगारी का धर्म है कि वह आग पकड़ा देगी। और जब बारूद भड़क उठेगी तो तुम छाती पीटोगे और चिल्लाओगे कि यह तो मैं नहीं चाहता था।

दोस्तोवस्की का एक बहुत कीमती उपन्यास है, 'क्राइम एण्ड पनिशमेन्ट।' उसमें रोसकोलनिकोव नाम का एक पात्र है। उसकी मकान की मालकिन सत्तर साल की बूढ़ी औरत है। वह गिरवी रखने का काम करती और लोगों से खींच कर ब्याज चूसती। मरने के करीब है, लेकिन रत्ती भर दया नहीं करती। कोई नहीं है उसका; उसका बहुत धन है। तो रोसकोलनिकोव जो एक विद्यार्थी है, वह देखता रहता, अपनी खिड़की से। गरीब आदमी गिड़गिड़ाते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं, लेकिन कुछ नहीं होता। उनके कपड़े भी उतरवा लिये जाते हैं; कोई दया नहीं, कोई ममता नहीं। कई बार उसके मन में होता है कि इस बुढ़िया को कोई मार क्यों नहीं देता? इसके होने की जरूरत ही क्या है? यह मर भी जाय तो हर्ज ही क्या है? यह मर जाय तो सैकड़ों लोग जो उसके चक्कर में फँसे हैं, मुक्त हो जायँ।

गरीब किसान, गरीब मजदूर, गरीब लोग, विधवा औरतें, बीमार आदमी, वे सब उससे ब्याज पर रुपया ले लेते, फिर वह कभी चुकता नहीं; उनकी चीजें भी चुक जाती हैं और अदालत में मुकदमें भी चलते हैं, सजाएँ भी हो जाती हैं। रोज यही काम। वह कई बार सोचता है, कोई इसकी गरदन क्यों नहीं दबा देता! और बहुत बार उसके हाथ खुद भिच जाते हैं कि गरदन दबा दूं। फिर वह सोचता है कि मुझे क्या मतलब है? मैं क्यों दबाऊँ? उसने मेरा क्या बिगाड़ा है? फिर वह भूल जाता है। ऐसे वर्षों चलता रहा।

फिर एक दिन उसे भी फीस भरनी थी और घर से पैसे नहीं आये। वह अपनी घड़ी रखने उस बुढ़िया के पास गया। साँझ का वक्त था, उसने घड़ी बुढ़िया को दी, बुढ़िया ठीक से देख नहीं सकती थी, सत्तर साल उसकी उम्र है। खिड़की के पास घड़ी को ले जाकर देखती है रोशनी में कि ठीक है या नहीं; कितने पैसे दिये जा सकते हैं। अचानक रोसकोलनिकोव को क्या हुआ कि उसने जाकर उसकी गरदन दबा दी। उसे पता ही नहीं चला कि कब मृत्यु आ गई। गरदन जब दब गई और जब उसके हाथ में उसकी नसें उभर आई, खून उसके मुँह से गिरने लगा, तो वह घबड़ाया कि यह मैंने क्या कर दिया! वह बुढ़िया नीचे गिर पड़ी। तब उसे पता चला कि यह तो मैंने हत्या कर दी। तब वह भागा; वह रात भर अपने बिस्तर में सोचता रहा कि मैंने उसकी हत्या कैसे कर दी—

'परवश' होकर? जैसा कि अर्जुन कह रहा है कि 'जैसे बलात् कोई धक्का दे दे...। वह कहता है, 'कौन मेरे ऊपर सवार हो गया! कोई भूत, कोई प्रेत! क्या हुआ मुझे? मैंने हत्या क्यों कर दी? किसने मुझसे हत्या करवा दी? कौन शैतान मेरे पीछे पड़ा है?'

कोई उसके पीछे नहीं पड़ा है। दो साल तक उसने सोचा—तैयारी की। दो साल तक उसने शक्तियों को रस दिया, दो साल तक हाथ भींचे, दो साल तक मन में क्रोध का जहर फैलाया और फिर तैयार हो गया। बीज बोते वक्त किसको पता चलता है कि वृक्ष निकलेगा? बीज बोते समय किसको पता चलता है कि इतना बड़ा वृक्ष पैदा होगा? फिर बलात् वृक्ष पैदा हो जाता है। और बीज हम ही बोते हैं। बीज छोटा होता है, दिखाई नहीं पड़ता है। मन में क्रोध के बीज बोते हैं, काम के बीज बोते हैं, फिर शक्तियाँ पकड़ लेती हैं। फिर वे तीनों शक्तियाँ अपना काम शुरू कर देती हैं।

आपने बीज बोया, जमीन काम शुरू कर देती है। पानी काम शुरू कर देता है, रोशनी काम शुरू कर देती है। सूरज की किरणें आकार बीज को बड़ा करने लगती हैं। आप हैरान होंगे कि जमीन बहुत कम काम करती है।

अभी एक वैज्ञानिक ने प्रयोग किया; माप-तौल कर प्रयोग किया। एक बट वृक्ष को लगाया एक बड़े गमले में, नाप-तौल कर बिलकुल। इतनी मिट्टी, इतना गमले का वजन, इतने वृक्ष के बीज का वजन—सब नाप तौल कर लगाया। फिर वह वृक्ष बहुत बड़ा हो गया। फिर उसने वृक्ष पूरा का पूरा निकाल लिया और फिर नापा तो जितना दो सौ सेर का गमला उसने रखा था, उसमें केवल चार सेर की कमी रही। और वृक्ष को नापा, तौला तो वह तो कोई २८० सेर निकला वृक्ष। और कुल चार सेर की कमी हुई मिट्टी में। और उस वैज्ञानिक का खयाल है कि वे चार सेर भी वृक्ष ने नहीं लिये। हवा भी आती है, तूफान भी आता है, मिट्टी उड़ भी जाती है; पानी में बह भी जाती है। चार सेर की कमी से इतना बड़ा वृक्ष कहाँ से आ गया? सूरज भी दे रहा है, हवाएँ भी दे रही है, पानी भी दे रहा है, जमीन भी देती है—चारों तरफ पूरा ब्रह्माण्ड (कॉसमॉस) उसको दे रहा है।

एक छोटे से बीज को आपने बो दिया, फिर सारी दुनिया की ताकत उसको जीवन दे रही हैं और वह बड़ा हो रहा है। आपने इधर क्रोध का बीज बोया, सारी दुनिया से क्रोध का साथ देनेवाली ताकतें, तमस् (इनरसिया) की ताकतें आपकी तरफ बहनी शुरू हो जायेंगी। आपने प्रेम बोया तो चारों तरफ से दुनिया की शुभ शक्तियाँ आपकी तरफ बहनी शुरू हो जायेंगी। आपने साक्षी भाव निर्मित किया तो दुनिया की सारी ताकतें आपके लिये बैलेन्स में हो जायेंगी। कोई आपकी तरफ नहीं बहेगा, कोई आपके बाहर नहीं बहेगा; सब चीजें सम हो जायेंगी; ठहर जायेंगी।

तो कृष्ण कहते हैं कि 'न तो कोई शैतान, न कोई परमात्मा; ये तीन शक्तियाँ हैं अर्जुन। और तू जिसका बीज बो देता है अपने भीतर, वही शक्ति सक्रिय होकर काम करने लगती है।'

●प्रश्न : भगवान् श्री, तीन गुणों से चलने वाली सृष्टि ईश्वर ने बनाई। तमस् गुण मनुष्य की प्रकृति में ईश्वर ने दिया, इसके पीछे क्या उद्देश्य है? कृपया इसे समझाएँ।

ईश्वर का कोई उद्देश्य नहीं होता है। उद्देश्य की भाषा सदा मनुष्य की है। उद्देश्य तो उसका होता है, जिसे भविष्य में कुछ पाना हो। जैसे एक कुम्हार एक घड़ा बनाता है। उसका उद्देश्य होता है कि उसे बाजार में बेचना है या उसका उद्देश्य होता है कि घर का पानी भरना है। फिर एक वानगॉग एक चित्र बनाता है। वानगॉग से कोई पूछता है कि 'यह चित्र तुमने किस उद्देश्य से बनाया है?' तो वह कहता है, 'कोई उद्देश्य नहीं है। बनाना ही मेरा आनंद है।' आप कहेंगे, बाजार में बिक सकता है। लेकिन वानगॉग का एक चित्र भी नहीं बिका—एक चित्र जिंदा रहते नहीं बिका। आप कह सकते हैं कि 'कोई प्रतिष्ठा मिलती होगी, कोई सम्मान करता होगा कि बड़े चित्रकार हो।' किसी ने प्रतिष्ठा नहीं की, किसी ने सम्मान नहीं किया। आप कहते होंगे कि 'बड़ा धनवाला आदमी रहा होगा। पैसा पास में रहा होगा, फुर्सत रही होगी तो कुछ न कुछ करता रहा होगा।' नहीं, वानगॉग बहुत गरीब आदमी था और उसका भाई उसे इतने ही पैसे देता था, जिससे सात दिन की सिर्फ रोटी चल जाय—रूखी-सूखी। न रंग के लिये पैसे, न कागज के लिये, न कैनवास के लिये पैसे। तो वह हफ्ते में चार दिन खाना खाता और तीन दिन उपवास करता। और तीन दिन के उपवास से जो पैसे बच जाते, उससे पेन्ट करता। और जब कोई उससे पूछता, किसलिये ऐसा करते हो? तो वह कहता, बस, बना लेने में ही आनन्द है।

परमात्मा उद्देश्य से जगत् को नहीं बना रहा है; बना लेने में ही आनन्द है; बनाना ही आनन्द। आगे पीछे कुछ भी उद्देश्य नहीं—सब परपजलेस (निरुद्देश्य) है। और ध्यान रहे, आनन्द हमेशा ही परपजलेस होता है। एक माँ अपने बेटे को बड़ा करती है, तो पूछिये किसलिये? अगर वह कहे कि बाद में नौकरी करवानी है, तो समझना कि वह माँ नहीं है, कोई फैक्टरी है। अगर माँ है, तो वह कहेगी, 'किसलिये? कैसा गलत सवाल पूछते हो! यह बस, मेरा आनन्द है।'

परमात्मा के लिये सृष्टि आनन्द है, सृष्टि उसका आनन्द-कृत्य है; इसलिये उद्देश्य उसमें कोई नहीं है। हाँ, लेकिन यह सवाल फिर भी संगत है कि वह आदमी में तमस् क्यों रखता है?

असल में हम तमस् शब्द को सदा ही गलत अर्थों में लेते रहे हैं। हम समझते हैं कि तम कोई बुरी चीज है। तमस् बुरी नहीं है, तमस् अपने आप में बुरी चीज नहीं है। हाँ,

तमस् में ही पूरी तरह मर जाना बुरा है। तमस् अपने आप में बुरा नहीं है, जहर भी अपने आप में बुरा नहीं है; और कभी तो बीमारी में दवा का काम करता है।

हम पूछ सकते हैं कि 'जहर क्यों बनाया परमात्मा ने!' एक आदमी जहर खाकर मर जाय; आप कहेंगे कि 'जिम्मेवार परमात्मा है। जहर उसने क्यों बनाया? न बनाता परमात्मा, न यह आदमी खाता।' लेकिन जहर अपने आप में किसी को मारता नहीं। जहर तो जिला भी सकता है। लेकिन इस आदमी ने जहर ही जहर खा लिया, तो मर गया। अमृत भी खा लो ज्यादा मात्रा में, तो मौत घटित हो सकती है। अमृत भी मात्रा में ही खाना—अगर मिल जाय! एक तो मिलता नहीं, क्योंकि डर यही है कि जहर तो बहुत कम लोग खाते हैं—अमृत अगर मिल जाय, बहुत मात्रा में आदमी खा जायेंगे। शायद इसीलिये नहीं मिलता! अगर अमृत मिल जाय तो रोकेंगे कैसे अपने को? अब कहाँ रुकें, तो खाते चले जायेंगे। अमृत से मौत आ जायेगी।

जीवन में नियम है कि कोई नियम बुरा नहीं, कोई नियम भला नहीं। अनिवार्य है तमस् का होना, क्योंकि बिना तमस् के, बिना 'इनरशिया' के जगत् अस्तित्व में नहीं हो सकता। उसके अस्तित्व में होने के लिये कोई अवरोधक शक्ति चाहिये। लेकिन अगर कोई आदमी केवल अवरोधक शक्ति पर ही निर्भर रह जाय तो भी खतरा हो जायेगा। क्योंकि दूसरी दो शक्तियाँ भी चाहिये और श्रेष्ठतम स्वास्थ्य की स्थिति वह है, जहाँ तीनों शक्तियाँ बैलेन्स करती हैं, संतुलित होती हैं। उसी क्षण में आदमी तीनों के बाहर निकल जाता है और परमात्मा को अनुभव कर पाता है।

कभी आपने देखा नट को, जो रस्सी पर चलता है। कभी स्थिर नहीं रहता। आप कहेंगे, 'थिर क्यों नहीं रहता?' थिर रहे तो फौरन गिरे और मर जाय। नट पूरे वक्त बैलेन्स करता रहता है। और जब आपको दिखता है कि बायें झुक रहा है, तो आप गलती में मत पड़ जाना। बायें झुकता ही तब है, जब बायें गिरने का डर पैदा होता है, दायें तब झुकता है, जब बायें गिरने का डर पैदा होता है। वह बैलेन्स कर रहा है पूरे वक्त। जब दायें गिरने का डर पैदा होता है, तो वह वजन को बायें बढ़ाता है, ताकि बैलेन्स हो जाय। जब दायें से बच जाता है और जब बायें गिरने का डर पैदा होता है, तब उलटी तरफ बैलेन्स ले जाता है कि बच जाय। और प्रकृति नीचे काम कर रही है। नट अगर बैलेन्स न करे तो जमीन पर गिरे और हड्डी-पसली टूट जाय। तो प्रकृति से वह यह नहीं कह सकता कि तूने मेरी हड्डी-पसली तोड़ी। प्रकृति भी कहती है कि तुमसे कोई मतलब नहीं; तुम अपनी रस्सी पर बैलेन्स करते रहो, हमें कोई मलतब नहीं।

ये तीन जो गुण हैं, इनमें जो बैलेन्स कर लेता है, वह व्यक्ति धर्म को उपलब्ध हो जाता है। नहीं बैलेन्स कर पाता तो गिरता है, हड्डी-पसली टूटती है। फिर हम कहते हैं कि किसने बलात् गिरा दिया! किसी ने नहीं गिराया, आप बैलेन्स नहीं कर पाये।

कृष्ण का पूरा योग समता का योग है—'द योग ऑफ बैलेन्स।' बस, नट की तरह पूरे वक्त जिंदगी एक बैलेन्स है, एक संतुलन है—सदा, सदा संतुलन है। यह नहीं कि ज्यादा खा लिया तो उपवास करो; ज्यादा उपवास कर लिया तो ग्लूकोस का इंजेक्शन लो! बैलेन्स पूरे वक्त। पूरे समय जिंदगी एक बहुत बारीक संतुलन है—डेलिकेट संतुलन। इसमें जरा इधर-उधर हुये कि आप गये। प्रकृति अपना काम करती रहेगी। वह नीचे खड़ी है। वह कहती है, 'नट, जब तक तुम बैलेन्स करो, रहो ऊपर; जब न कर पाओ, नीचे आ जाओ। हम तैयार हैं।'

अविनार्य तत्त्व हैं तीन, उससे कम नहीं हो सकते। तीन के बिना सृष्टि खो जायेगी, इसलिये वे हैं। लेकिन तमस् से आप गिरें, इसलिये नहीं है वह। आप तमस् के द्वारा रजस् को साधते रहें। जब तमस् बढ़ जाय, तो रजस् की तरफ झुक जायँ। जब रजस् बढ़ जाय, तो तमस् की तरफ झुक जायँ। दोनों को साधते रहें। और जब दोनों बिलकुल सध जायँ तो आपकी ऊर्ध्व (वर्टिकल) यात्रा सत्य की तरफ शुरू होती है। फिर तीनों के बीच समता साधनी पड़ेगी। यह और भी गहरी कीमिया है।

दो के बीच समता साधना बहुत आसान है। दो के बीच साधेंगे, तो सत्त्व में उठ जायेंगे। साधु उसे कहते हैं, जो सत्त्व में पहुँच गया है, जिसने दो को साध लिया। जो तमस् और रजस् के बीच संतुलित हो गया, उसका नाम साधु है। जिसने रजस्, तमस् और सत्त्व के बीच समता साध ली, उसका नाम संत है। वह बहुत अलग बात है। जब तीनों के बीच कोई समता साधता है तो सेन्टर पर पहुँच जाता है, ट्राएँगल का वह सेन्टर ही द्वार है। ट्राएँगल (त्रिकोण) के बीच में, तीन शक्तियों के बीच वह शेष खाली जगह (स्पेस) है, जहाँ से व्यक्ति परमात्मा में, ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है। लेकिन उसकी धीरे-धीरे हम बात करेंगे तो खयाल में आयेगी।

पहले साधु बनें, दो के बीच समता साधें। फिर संत बनें; तीन के बीच साधें। और जिस दिन तीन के बीच साधा, उस दिन गिरना बंद हो जाता है, उसी दिन परमात्मा में प्रवेश हो जाता है; उस दिन प्रकृति के तीनों गुणों के बाहर आदमी हो जाता है। इस लिये प्रकृति है त्रिगुणा और परमात्मा है त्रिगुणातीत—वह तीनों के बाहर है।

ग्यारहवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, दिनांक ६ जनवरी, १९७१

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३८।।
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३९।।

जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढँक जाता है (तथा) जैसे स्निग्ध झिल्ली से गर्भ ढँका हुआ है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह (ज्ञान) ढँका हुआ है।
और हे अर्जुन ! इस अग्नि (सदृश) न पूर्ण होने वाले कामरूप ज्ञानियों के नित्य वैरी से ज्ञान ढँका हुआ है।

वासना की धूल : चेतना का दर्पण

कृष्ण ने कहा है, जैसे धुएँ से अग्नि ढँकी हो, ऐसे ही काम से ज्ञान ढँका है। जैसे बीज अपने खोल से ढँका होता है, ऐसे ही मनुष्य की चेतना उसकी वासना से ढँकी होती है। जैसे गर्भ झिल्ली में बंद और ढँका होता है, ऐसे ही मनुष्य की आत्मा उसकी कामना से ढँकी होती है। इस सूत्र को ठीक से समझ लेना उपयोगी है।

पहले तो यह समझ लेना जरूरी है कि ज्ञान स्वभाव है—मौजूद, अभी और यहीं। ज्ञान कोई उपलब्धि नहीं है, कोई 'एचीवमेन्ट' नहीं है। ज्ञान कोई ऐसी बात नहीं है, जो आज हमारे पास नहीं है और कल हम पा लेंगे। क्योंकि अध्यात्म मानता है कि जो हमारे पास नहीं है, उसे हम कभी नहीं पा सकेंगे; अध्यात्म की समझ है कि जो हमारे पास है, हम केवल उसे ही पा सकते हैं। यह बड़ी उलटी बात मालूम पड़ती है। जो हमारे पास है, उसे ही केवल पा सकते हैं और जो हमारे पास नहीं है, हम उसे कभी भी नहीं पा सकते हैं। इसे ऐसा कहें कि जो हम हैं, अंततः वही हमें मिलता है और जो हम नहीं हैं, हमारे लाख उपाय, दौड़-धूप हमें वहाँ नहीं पहुँचाते और वह नहीं उपलब्ध होता, जो हम नहीं हैं।

बुद्ध को जिस दिन ज्ञान हुआ, लोग उनके पास आये और उन्होंने पूछा कि 'आपको क्या मिला ?' तो बुद्ध ने कहा : 'यह मत पूछो; यह पूछो कि मैंने क्या खोया ?' वे लोग हैरान हुये; उन्होंने कहा : 'इतनी तपश्चर्या, इतनी साधना, इतनी खोज क्या खोने के लिये करते थे, या पाने के लिये ?' बुद्ध ने कहा : कोशिश तो पाने के लिये की थी, लेकिन अब जब पाया, तो कहता हूँ कि सिर्फ खोया; पाया कुछ भी नहीं।' नहीं उनकी समझ में आया होगा। उन्होंने कहा : 'हमें ठीक से समझाएँ !' तो बुद्ध ने कहा : 'वही पाया जो मुझे मिला ही हुआ था और सिर्फ वही खोया, जो मेरे पास था ही नहीं, लेकिन मुझे मालूम पड़ता था कि मेरे पास है। जो नहीं था, उसे खो दिया है और जो था, उसे

पा लिया है।'

जैसे धुएँ में आग ढँकी हो तो आग पानी नहीं होता, केवल धुआँ अलग हो जाय तो आग प्रकट हो जाती है; जैसे सूरज बदलियों से ढँका हो तो सूरज पानी नहीं होता, सिर्फ बदलियाँ हट जायँ तो सूरज प्रगट हो जाता है; जैसे वृक्ष बीज में ढँका है, वृक्ष पाना नहीं है। वृक्ष बीज में है ही—अप्रकट है, छिपा है, कल प्रकट हो जायेगा। ऐसे ही ज्ञान सिर्फ अप्रकट है, कल प्रकट हो जायेगा।

इसके दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ तो यह है कि अज्ञानी भी उतने ही ज्ञान से भरा है, जितना परमज्ञानी। फर्क अज्ञानी और ज्ञानी में अगर हम ठीक से समझें, तो अज्ञानी के पास ज्ञानी से कुछ थोड़ा ज्यादा होता है—धुआँ ज्यादा होता है; आग तो उतनी ही होती है, जितनी ज्ञानी के पास होती है। अज्ञानी के पास कुछ और ज्यादा भी होता है—धुआँ भी होता है। सूरज तो उतना ही होता है अज्ञानी के पास, जितना ज्ञानी के पास होता है; अज्ञानी के पास काली बदलियाँ होती हैं। अगर इस तरह से सोचें तो अज्ञानी के पास ज्ञानी से कुछ ज्यादा होता है। और जिस दिन ज्ञान उपलब्ध होता है, उस दिन यह जो ज्यादा है, यही खोता है, यही आवरण टूटकर गिर जाता है और जो भीतर छिपा है, वह प्रकट हो जाता है।

पहली बात तो यह समझ लेनी जरूरी है कि अज्ञानी से अज्ञानी मनुष्य के भीतर ज्ञान पूरी तरह मौजूद है; अंधेरे से अंधेरे में भी, गहन अंधकार में भी परमात्मा पूरी तरह मौजूद है। कोई कितना ही भटक जाय तो भी ज्ञान से नहीं भटक सकता, वह उसके भीतर मौजूद है। हम कहीं भी चले जायँ और हम कितने भी पापी हो जायँ और कितने भी अज्ञानी और कितना ही अंधेरा और जिन्दगी कितने ही धुएँ में गिर जायँ तो भी हमारे भीतर जो है, वह नहीं खोता है। उसके खोने का कोई उपाय नहीं है।

लोग मेरे पास आते हैं और पूछते हैं कि 'ईश्वर को खोजना है!' तो उनसे मैं पूछता हूँ, 'तुमने खोया कब? इसका मुझे सब हिसाब-किताब दे दो, तो मैं तुम्हारे खोजने का रास्ता भी बता दूँ।' ईश्वर ऐसे तत्त्व का नाम है, जिसे हम खोना भी चाहें तो नहीं खो सकते। खोने का जिसे उपाय ही नहीं है, उसका नाम स्वभाव है, उसका नाम स्वरूप है। आग उत्ताप नहीं खो सकती, वह उसका स्वभाव है। मनुष्य ज्ञान नहीं खो सकता, यह उसका स्वभाव है। लेकिन फिर भी अज्ञान तो है। तो अज्ञान को हम क्या समझें?

अज्ञान के दो मतलब हो सकते हैं। अज्ञान का मतलब हो सकता है: अभाव, 'एब्सेंस ऑफ नोइंग'। कृष्ण का यह मतलब नहीं है। अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है, अज्ञान ज्ञान का ढँका होना है। अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है, अज्ञान सिर्फ ज्ञान का अप्रकट होना है। यह भी बहुत मजे की बात है कि धुआँ वहाँ प्रकट हो सकता है, जहाँ आग हो। धुआँ वहाँ प्रकट नहीं हो सकता, जहाँ आग न हो; अज्ञान भी वहीं

प्रकट हो सकता है, जहाँ ज्ञान हो। अज्ञान भी वहाँ प्रकट नहीं हो सकता, जहाँ ज्ञान न हो। इसलिए तर्कशास्त्री से अगर पूछेंगे नैयायिक से अगर पूछेंगे तो कहेगा, 'जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है। हम धुआँ देखकर ही कह देते हैं कि आग जरूर होगी। दूसरी मजे की बात यह है कि धुआँ तो बिना आग के कभी नहीं होता, लेकिन आग कभी बिना धुएँ के हो सकती है, होती है। असल में धुएँ का संबंध आग से इतना ही है कि आग बिना ईंधन के नहीं होती। और ईंधन अगर गीला है तो धुआँ होता है; ईंधन अगर सूखा हो तो धुआँ नहीं होता। लेकिन धुआँ बिना आग के नहीं हो सकता। ईंधन अगर सूखा हो तो आग बिना धुएँ की हो सकती है, दमकता हुआ अंगारा बिलकुल बिना धुएँ का होता है।

अज्ञान के अस्तित्व के लिए पीछे ज्ञान जरूरी है, इसलिए अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है, 'एबसेन्स' नहीं है, अनुपस्थिति नहीं है। अज्ञान भी बताता है कि भीतर ज्ञान मौजूद है अन्यथा अज्ञान भी संभव नहीं है, अज्ञान भी नहीं हो सकता है। अज्ञान सिर्फ आवरण की खबर देता है, और आवरण सदा उसकी भी खबर लेता है जो भीतर मौजूद है। बीज सिर्फ आवरण की खबर देता है, अंडे की ऊपर की खोल सिर्फ आवरण की खबर देती है। साथ में यह भी खबर देती है कि भीतर वह भी मौजूद है, जो आवरण नहीं है। इसलिए अज्ञानी को हताश होने की कोई भी जरूरत नहीं है। अज्ञानी को निराशा होने की कोई भी जरूरत नहीं है। और ज्ञानी को भी अहंकारी हो जाने की कोई जरूरत नहीं है। अगर हिसाब रखा जाय तो अज्ञानी के पास ज्ञानी से सदा ज्यादा है। ज्ञानी को अहंकारी होने की कोई भी जरूरत नहीं है। अज्ञानी को निराश होने की कोई भी जरूरत नहीं है। जो ज्ञानी में प्रकट हुआ है, वह अज्ञानी में अप्रकट है। जो अप्रकट है, वह प्रकट हो सकता है। वह अप्रकट क्यों है? क्या कारण है? क्या बाधा है? कृष्ण कहते हैं: धुआँ आग को घेरता है, वैसे ही वासना मन को घेरे हुए हैं।

वासना को समझना जरूरी है अन्यथा आत्मा को हम नहीं समझ पायेंगे। वासना को समझना जरूरी है अन्यथा अज्ञान को हम नहीं समझ पायेंगे। वासना को समझना जरूरी है अन्यथा ज्ञान प्रकट होना असंभव है। अब अगर हम ठीक से समझें तो ज्ञान में अज्ञान बाधा नहीं बन रहा है; अगर ठीक से समझें तो ज्ञान में वासना बाधा बन रही है, क्योंकि वासना ही गीला ईंधन है, जिससे कि धुआँ उठता है; वासना-मुक्त आदमी सूखे ईंधन की भाँति है।

मैंने सुना है: फरीद के जीवन में एक छोटा-सा उल्लेख है। एक आदमी आया है और फरीद से पूछने लगा, 'मंसूर के हाथ-पैर काट डाले गये और उसे दुःख नहीं हुआ, यह कैसे हो सकता है? और मैंने सुना है कि जीसस को फाँसी लगायी गयी और

जीसस परमात्मा से कहते रहे : इन सबको माफ कर देना क्योंकि यह सब लोग जानते नहीं हैं कि क्या कर रहे हैं। यह कैसे हो सकता है ? यह असंभव है। सूली लगायी जाय, हाथ-पैर काटे जायँ, खीलें ठोके जायँ, गरदन काटी जाय, तो यह संभव नहीं है। पीड़ा तो होगी ही, दुःख तो होगा ही। मुझे यह सब कहानियाँ मालूम पड़ती हैं !'

फरीद हँसने लगा। उसके पास एक नारियल पड़ा था, कोई भक्त चढ़ा गया था। उसने उसे उठाकर दे दिया और कहा कि 'देखते हो इस नारियल को, इसे ठीक से तोड़ लाओ; खोल अलग कर देना, गिरी अलग कर देना और गिरी को साबित बचा लाना।' उस आदमी ने कहा, 'माफ करना, यह नहीं हो सकेगा। नारियल कच्चा है। गिरी और खोल जुड़े हुए हैं। अभी मैं खोल तोड़ूँगा तो गिरी भी टूट जायेगी।' फरीद ने कहा, 'छोड़ो, दूसरा नारियल ले आओ। यह सूखा नारियल है, इसकी तो गिरी और, खोल अलग कर लाओगे! उस आदमी ने कहा, 'बिलकुल कर लाऊँगा। फरीद ने कहा, 'अब जाने की बिलकुल जरूरत नहीं, नारियल को यहीं रख दो। मैं तुमसे पूछता हूँ कि सूखे नारियल की गिरी और खोल को तुम बचा लाओगे, अलग कर लाओगे; खोल टूट जायेगी, गिरी बच जायेगी। क्यों?' उस आदमी ने कहा, 'यह भी कोई पूछने की बात है ? सूखे नारियल की गिरी और खोल अलग-अलग हो गये। कच्चे नारियल की गिरी और खोल जुड़े हैं।' फरीदा ने कहा' बस, अब जाओ; तुम्हारे सवाल का जवाब मैंने दिया।' जीसस या मंसूर जैसे लोगों का नारियल सूखा नारियल है। शरीर को कोई चोट पहुँचाता है तो शरीर टूटता है; लेकिन आत्मा को चोट नहीं पहुँचती है, आत्मा तक घाव नहीं बनता। हम सब कच्चे नारियल हैं; शरीर पर चोट लगी नहीं और आत्मा तक चोट पहुँच जाती है। जुड़ा है सब। वासना कच्चा ईंधन है।

वासना को देखें। उसके दो-तीन प्रकार हैं। एक तो वासना की मान्यता है कि जो मुझे चाहिए, वह मेरे पास नहीं है। वासना का आधार है कि जो मुझे चाहिए। वह मेरे पास नहीं है—जो भी चाहिए, वह नहीं है। वासना का स्वरूप सदा यही है कि जो भी चाहिए, वह मेरे पास नहीं है। ऐसा नहीं है कि कल वह चीज मिल जायेगी तो वासना भर जायेगी, सिर्फ वासना उस चीज से सरक कर किसी दूसरी चीज पर लग जायेगी। दस हजार रुपये नहीं हैं, तो वासना कहती है कि दस हजार रुपये चाहिए। दस हजार रुपये होते हैं, तो वासना कहती है कि दस लाख चाहिए। दस लाख होते हैं, तो वासना कहती है कि दस करोड़ चाहिए।

एन्ड्रू कार्नेगी अमेरिका का एक अरबपति जब मरा तो दस अरब रुपये छोड़कर मरा। मरने के दो दिन पहले उसकी जीवनी लिखनेवाले एक व्यक्ति ने उससे पूछा कि 'आप तो तृप्त होंगे; आपसे बड़ा अरबपति पृथ्वी पर कोई दूसरा नहीं है; आपने

तो जिंदगी में जो पाना चाहा था, वह पा लिया।' एन्ड्रू कार्नेगी ने गुस्से से कहा, 'चुप रहो। बकवास बंद करो। जो मैंने पाना चाहा था, वह मैंने कहाँ पाया है ? मेरे इरादे तो सौ अरब रुपये छोड़ने के थे।' लेकिन क्या आप सोचते हैं कि सौ अरब रुपये एन्ड्रू कार्नेगी के पास होते तो बात हल हो जाती ! क्योंकि जिसकी दस अरब से हल नहीं हुई, उसकी सौ अरब से भी हल न होती। हाँ, सौ अरब होते तो इरादे और आगे बढ़ जाते—हजार अरब पर हो जाते, लाख अरब पर हो जाते।

वासना—जो नहीं है, उसकी माँग है। इसलिए एक अर्थ में समझें तो वासना सदा ही रिक्त है, सदा खाली है—सदा रिक्त, सदा खाली, सदा एम्प्टी। कभी भरती नहीं। भर नहीं सकती। उसका स्वभाव यही है। वह, जो नहीं है, वासना वहीं लगी रहती है और चूँकि वासना जो नहीं है, वहाँ लगी रहती है, इसलिए आत्मा, जो है, वह हमें प्रकट नहीं हो पाती।

हमारा सारा चित्त उस पर अटका रहता है, जो कि नहीं है। हम उसको कैसे देख पायें—जो है। आत्मा अभी है, यहीं है और वासना कल है, कहीं है। वासना सदा भविष्य में है, आत्मा सदा वर्तमान में है। इसलिए जिस आदमी का मन वासना में भटक रहा है, वह आत्मा तक नहीं पहुँच पाता। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि उसे ज्ञान उपलब्ध नहीं हो पाता। जैसे आप अपने दरवाजे पर खड़े हैं और रास्ते पर चलते लोगों को देख रहे हैं, तो फिर घर के लोगों को न देख पायेंगे ? सच तो यह है कि अगर आप रास्ता चलते लोगों को देखने में बहुत लीन हो गये, तो अपने को भूल ही जायेंगे। असल में दूसरे को देखने में ध्यान दूसरे पर चला जाता है, स्वयं से च्युत हो जाता है।

वासना पर लगा हुआ ध्यान आत्मा से च्युत हो जाता है। आत्मा भीतर खड़ी है, मौजूद है—सदा तैयार कि आओ कभी भी, द्वार खुले हैं; लेकिन वासना की यात्रा पर निकला आदमी जन्मों-जन्मों भटकता है और वहाँ नहीं आता। वह खोजता ही चला जाता है। वह खोजता ही चला जाता है। और जहाँ तक पहुँचता है, वासना आगे के स्वप्न बना लेती है। क्षितिज (होरिजन) की तरह है वासना। दिखाई पड़ता है आकाश, तो लगता है कि थोड़ी ही दूर, दस मील दूर आकाश जमीन को छू रहा है, कहीं भी छूता नहीं। मन कहता है, बस, पास ही है; जरा दौड़ूँ और पहुँच जाऊँ। दौड़ें आप, पहुँच भी जायेंगे दस मील, लेकिन पायेंगे कि आकाश अब भी छूता है, लेकिन अब फिर दस मील आगे छूता है। और दस मील चलें। पहुँच जायेंगे दस मील, फिर भी पायेंगे, आकाश फिर भी छूता है, पर आगे दस मील छूता है। आकाश सदा ही आगे दस मील छूता है। वास्तव में कहीं छूता नहीं; सिर्फ छूता हुआ प्रतीत होता है। दौड़ते रहें, पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा लें, आकाश कहीं छूता

हुआ नहीं मिलेगा, लेकिन सदा मालूम पड़ेगा कि बस, जरा आगे, और छू लेंगे। बस, वह तो छू रहा है! सदा आगे दौड़ता रहेगा, कभी छूता हुआ मिलेगा नहीं।

वासना आकाश छूती हुई क्षितिज की रेखा जैसी है, सदा लगती है, बस, अब पूरी हुई--एक वर्ष और दो वर्ष और दस वर्ष--और यह कारखाना और यह मकान--और यह दुकान--और सब पूरा हुआ जाता है, क्षितिज की रेखा आयी जाती हैं, आकाश छू लेंगे। लेकिन पहुँचकर, पाते हैं कि रिक्त खाली हाथ वैसे ही खड़े हैं, जैसे दस साल पहले थे, पचास साल पहले थे और आकाश अभी भी थोड़ा आगे छू रहा है। वासना अभी भी कह रही है, थोड़ा और चले आओ तो तृप्ति हो जाएगी। इसलिए आदमी बढ़ता चला जाता है, और तब एक चीज से वंचित रह जाता है--जो उसे मिली हुई थी, जो उसके पास ही थी, जो कि परमात्मा की उसे भेंट थी; भेंट (गिफ्ट), जो कि परमात्मा ने उसे दी थी, उस चीज से भर वंचित रह जाता है। और जो वासनाएँ उसे दे नहीं सकतीं--कभी नहीं दे सकतीं, उनकी दौड़ में वह दौड़ता चला जाता है। इस दौड़ के धुएँ में खो जाता है ज्ञान; इस दौड़ में छिप जाता है वह, 'जो है'; इस दौड़ में भूल जाता है वह, जो सदा से साथ है और स्मरण आता है, उसका जो कभी साथ नहीं हो सकता है।

वासना ही अज्ञान है--डिजायरिंग इज इग्नोरेन्स। ठीक से समझें तो अज्ञान कुछ और नहीं है। वासना में दौड़ा हुआ चित्त आत्मा को उपलब्ध नहीं हो पाता है। यह विस्मरण बन जाता है। वासना का स्मरण आत्मा का विस्मरण है। इच्छा के पीछे ध्यान का जाना, स्वयं से ध्यान का चूक जाना है। और ध्यान हमेशा एक आयामी (वन डायमेन्शनल) है। अगर आप इच्छा के पीछे चले गये तो वह पीछे नहीं लौट सकता। कोई उपाय नहीं है। हाँ, इच्छा बिदा हो जाय, धुआँ न हो, तो वह अपने पर लौट आये। इसलिए कृष्ण इस सूत्र में कहते हैं कि ज्ञान कोई खोता नहीं, लेकिन ज्ञान विस्मरण हो जाता है। अज्ञान ज्ञान का खोना नहीं है, सिर्फ विस्मृति है।

मैंने सुना है कि पिछले महायुद्ध में एक आदमी चोट खाकर गिर पड़ा और भूल गया अपना नाम, पिता का नाम, घर का पता। कठिनाई न पड़ती, अगर उसका नम्बर भी रह गया होता, लेकिन युद्ध के मैदान में कहीं उसका नम्बर भी गिर गया और वह बेहोश उठाकर लाया गया। नम्बर होता तो पता चल जाता, नम्बर भी नहीं था। उस आदमी को होश आया तो उसको पता भी नहीं था कि वह कौन है। उसे रिटायर्ड भी कर दिया गया, लेकिन उसे कहाँ पहुँचाया जाय! उसे अपना पता ही नहीं मालूम। किसी मनोवैज्ञानिक ने सुझाव दिया कि उसे इंग्लैंड के गाँव-गाँव में घुमाया जाय, ट्रेन से ले जाया जाय। हो सकता है, किसी स्टेशन को देखकर उसे याद आ जाय कि यह मेरा गाँव है, क्योंकि गाँव खोया तो नहीं है, सिर्फ विस्मरण हो

गया है। गाँव तो अपनी जगह होगा और यह आदमी अपनी जगह है। सब अपनी जगह है, लेकिन बीच की स्मृति का धागा टूट गया है, शायद जुड़ जाय।

उसे गाँव-गाँव ले जाया गया। उसे बड़े-बड़े नगरों में ले जाया गया। लेकिन वह खड़ा हो जाता, उसको कुछ याद नहीं आता। फिर एक जगह जहाँ ट्रेन रुकती नहीं थी, किसी कारण से उस छोटे स्टेशन पर रुकी थी, उस आदमी ने खिड़की से झाँक कर देखा। फिर वह मनोवैज्ञानिक को बताने नहीं रुका, जो उसके साथ था, वह दरवाजा खोलकर भागा। उसने कहा, 'मेरा गाँव...।' मनोवैज्ञानिक (उसके साथी), जो उसको घुमा रहे थे, उसके पीछे भागे। उसको कहा कि 'रुको, भाई!' वह नहीं रुका। वह तो स्टेशन पार कर गया। वह तो अपनी गली में पहुँच गया। वह तो अपने घर के सामने पहुँच गया। उसने कहा, 'वह रहा मेरे पिता का घर। वह रही मेरी तख्ती, जो घर के सामने लगी है।' विस्मरण टूट गया; स्मरण लौट आया।

परमात्मा पुनःस्मरण है, रिमेम्बरिंग है। वह हमारे भीतर बैठा है। हम एक दुर्घटनाग्रस्त स्थिति में हो गये हैं। हमारा एक्सिडेंट, हमारी दुर्घटना यह है कि जो नहीं है, उसने हमें आकर्षित कर लिया है। इसका कारण है कि जो होता है, उसका आकर्षण नहीं होता है; जो नहीं है; उसमें आकर्षण होता है। जो पास है, उसे हम भूल जाते हैं; जो दूर है, उसे हम याद करते हैं। कभी आपने खयाल किया कि मित्र पास हो तो याद नहीं आता, मित्र दूर हो तो उसकी याद आती है। प्रियजन बगल में बैठा हो तो भूल जाते हैं; अखबार पढ़ते रहते हैं। और प्रियजन दूर चला जाय, तो अखबार क्या गीता भी नहीं पढ़ी जाती; बंद करके रख देते हैं; उसकी याद आती है।

दूर है कोई चीज तो याद आती है, नहीं है पास तो याद आती है। बिलकुल पास हो तो याद भूल जाती है। और परमात्मा से ज्यादा पास हमारे कोई भी नहीं है। मुहम्मद ने कहा है कि गले की नस जो कट जाय तो जीवन चला जाय, उससे भी पास है परमात्मा। श्वास जो बंद हो जाय तो प्राण निकल जाय, उससे भी पास है परमात्मा। श्वास से भी जो पास है, उसे अगर हम भूल गये तो कोई आश्चर्य नहीं, स्वाभाविक है।

अज्ञान बिलकुल स्वाभाविक है, लेकिन तोड़ा जा सकता है। स्वाभाविक है, अनिवार्य नहीं। प्राकृतिक है, मंगलदायी नहीं है। भूल गये हैं; यह ठीक है, लेकिन इस भूल से सारा जीवन दुःख, पीड़ा और नरक से भर जाता है। हमारी सारी पीड़ा की बुनियाद में, गहरे में, केंद्र पर एक ही कारण है कि हम उसे भूल गये हैं, जो हमारे भीतर बैठा है। कृष्ण कहते हैं, 'जैसे धुएँ से आग छिपी है, ऐसे ही तुम भी छिपे हो, अपनी ही वासना से।'

कभी आपने खयाल किया कि यह धुआँ बड़ा कीमती शब्द है। कुछ और शब्द

भी प्रयोग किया जा सकता था, लेकिन धुआँ बिलकुल हवाई है, ठोस नहीं है, जरा भी; जरा भी ठोस नहीं है। हाथ हिलायें तो चोट भी नहीं लगती धुएँ को। तलवार चलायें तो धुआँ कट भी नहीं सकता। धक्के देकर हटायें तो आप ही हट जायेंगे, धुआँ वहीं का वहीं रह जायेगा। कितना ना-कुछ (जस्ट लाइक नथिंग) है धुआँ। धुएँ का इसलिए उपयोग किया है कि बिलकुल ना-कुछ है वह, सब्स्टेन्शियल जरा भी नहीं, तत्त्व कुछ भी नहीं है; धुआँ ही धुआँ है। वासना भी ऐसी ही धुआँ ही धुआँ है। तत्त्व कुछ भी नहीं है, सिर्फ धुआँ ही धुआँ है। हाथ से हटायें हटती नहीं, तलवार से काटें तो कटती नहीं; फिर भी है। और उसे छिपाती है, जो बहुत वास्तविक है। अब आग से ज्यादा वास्तविक क्या होगा! आग किसी को भी जला दे और धुएँ को नहीं जला पाती! आग किसी को भी राख कर दे, लेकिन धुएँ को राख नहीं कर पाती। अगर धुआँ होता कुछ, तो आग उसे जला देती। वह ना-कुछ है, इसलिए जला भी नहीं पाती। और धुआँ उसे घेर लेता है। ऐसे ही मनुष्य के भीतर के ज्ञान को उसकी वासना घेर लेती है।

वासना अगर कुछ होती तो ज्ञान काट भी देता उसे, लेकिन वह बिलकुल धुआँ-धुआँ ही है। कभी आपने अगर खयाल किया होगा अपने चित्त का, जब वह वासना से भरता है, तो आपको फौरन पता लगेगा, जैसे धुआँ-धुआँ चारों ओर घिर गया। कभी काम-वासना से जब मन भर जाता है तो ऐसा ही लगता है, जैसे सर्दी की सुबह आप बाहर निकले हों और चारों ओर धुआँ-धुआँ है और कुछ दिखाई नहीं पड़ता —अंधापन घेर लेता है, फिर भी बढ़े जाते हैं। कोई चीज वहाँ नहीं है; बढ़ना नहीं चाहिए, ऐसा भी लगता है, फिर भी बढ़े जाते हैं। कोई भीतर से पुकारता भी है कि अंधेरे में जा रहे हो, गलत में जा रहे हो, फिर भी बढ़े जाते हैं।

कृष्ण ने दूसरा एक प्रतीक लिया है, 'जैसे दर्पण पर धूल जम जाय, दर्पण पर मल जम जाय।' दर्पण पर धूल जम गयी; धूल जमने से दर्पण जरा भी नहीं बिगड़ता और दर्पण इंच भर भी कम दर्पण नहीं होता धूल के जमने से—द मिरर रिमेन्स द मिरर; कोई फर्क नहीं पड़ता। धूल कितनी ही पर्त पर पर्त जम जाय, दर्पण बिलकुल खो जाय तो भी दर्पण नहीं खोता। उसकी मिरर-लाइक क्वालिटी पूरी बनी रहती है। उसमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। धूल के पहाड़ जमा दें दर्पण के ऊपर, छोटे से दर्पण पर एवरेस्ट रख दें धूल का, तो भी दर्पण का जो दर्पणपन है, मिरर-लाइक जो उसका गुण है, वह नहीं खोता। वह अपनी जगह है और जब भी धूल हट जायेगी, दर्पण दर्पण है और जब धूल भी दर्पण पर थी, तब भी दर्पण दर्पण था। कुछ खोया नहीं था।

इसलिए दूसरा प्रतीक भी कृष्ण का बहुत कीमती है। वे कहते हैं, 'जैसे धूल जम जाती है दर्पण पर, ऐसे ही वासना जम जाती है आदमी की चेतना पर।' चेतना को

दर्पण कहना बहुत सार्थक है। चेतना है ही दर्पण। लेकिन हमारी चेतना दर्पण की तरह काम नहीं करती। धूल बहुत है। कुछ नहीं दिखाई पड़ता। अपनी ही शक्ल नहीं दिखाई पड़ती है, अपनी ही चेतना में, तो और क्या दिखाई पड़ेगा? कुछ नहीं दिखाई पड़ता, अंधे की तरह टटोल कर चलना पड़ता है। वह दर्पण जिसमें सत्य दिखाई पड़ सकता है, जिसमें परमात्मा दिखाई पड़ सकता है, जिसमें स्वयं की झलक का प्रतिबिंब बन सकता है—कुछ नहीं दिखाई पड़ता, सिर्फ धूल ही धूल है। और हम उस धूल को बढ़ाये चले जाते हैं। धीरे-धीरे हम बिलकुल अंधे हो जाते हैं। एक आध्यात्मिक अंधापान, एक स्पिरिच्युअल ब्लाइंडनेस आ जाती है।

एक अंधापन तो आँख का है। जरूरी नहीं कि आँख का अंधा आदमी भीतर से अंधा हो। जरूरी नहीं कि आँख का ठीक आदमी भीतर से अंधा न हो। एक और आध्यात्मिक अंधापन भी है, जो भीतर के दर्पण पर धूल के जम जाने से पैदा हो जाता है। हम तो दर्पण की तरह व्यवहार ही नहीं करते। इसका हमें पता ही नहीं चलता कि हमारे भीतर भी कोई दर्पण है, जिसमें सत्य का प्रतिफलन हो सके! दर्पण का पता तब चलता है, जब दर्पण रिफ्लेक्ट (प्रतिफलित) करता है; तभी पता चलता है। अगर आपके पास दर्पण है, उसमें तस्वीर नहीं बनती, प्रतिबिंब नहीं बनता तो उसको कौन दर्पण कहेगा?

आपने कभी खयाल किया कि आपके भीतर सत्य का आज तक कोई प्रतिबिंब नहीं बना! जरूर कहीं न कहीं आपके भीतर दर्पण जैसी चीज खो गयी है। वे जो जानते हैं, वे तो कहते हैं कि 'दिल के आईने में है तस्वीर यार—वह तो यहाँ हृदय के दर्पण में उस प्रेमी की तस्वीर है।' 'जब जरा गरदन झुकाई देख ली।' बाकी हम कितनी ही गरदन झुकायें, कुछ दिखाई नहीं पड़ता। अपनी गरदन भी दिखाई नहीं पड़ती, 'तस्वीरे यार' तो बहुत मुश्किल है। उस प्रेमी की तस्वीर तो दिखाई पड़नी बहुत मुश्किल है। धूल है।

धूल क्यों कहते हैं? धुआँ क्यों कहते हैं? और कृष्ण जैसा आदमी जब एक भी शब्द का प्रयोग करता है तो यों ही नहीं करता। कृष्ण जैसे लोग टेलीग्राफिक होते हैं; एक-एक शब्द बड़ी मुश्किल से उपयोग करते हैं। जैसे टेलीग्राफ ऑफिस आप चले जाते हैं तो एक-एक शब्द को काटते हैं, ताकि कहीं ज्यादा न हो जाय, ज्यादा दाम न लग जाय। पहले दस अक्षर थे, अब आठ से ही काम चलाना पड़ता है; आठ में ही काम हो जाता है, लेकिन कभी आपने खयाल किया कि आठ सौ शब्दों की चिठ्ठी जो काम नहीं करती, वह आठ अक्षर का तार काम कर जाता है। असल में जितने बेकार शब्द अलग हो जाते हैं, उतना ही इन्टैन्स, उतना ही गहरा भाव प्रकट हो जाता है, कृष्ण जैसे लोग टेलीग्राफिक हैं; एक भी शब्द का ऐसे ही उपयोग नहीं कर लेते।

जब वे कहते हैं, 'धूल की भाँति वासना,' तो कुछ बात है। उन्होंने तो ठीक शब्द 'मल' ही प्रयोग किया है। मल धूल से और भी कठिन शब्द है। मल में गंदी धूल का भाव है—सिर्फ धूल का नहीं, गंदगी से भरी हुई धूल का। धूल ही नहीं सिर्फ—गंदगी भी है वासना में।

गंदगी क्या है? दुर्गंध क्या है? बहुत दुर्गंध है। और वह दुर्गंध इस बात से आती है, कि एक तो वासना कभी भी, दूसरे का गुलाम हुए बिना, पूरी नहीं होती और जीवन में सारी दुर्गंध परतंत्रता से आती है। जीवन की सारी दुर्गंध परतंत्रता से आती है, और जिंदगी की सारी सुगंध स्वतंत्रता से आती है। जितना स्वतंत्र मन, उतने ही सुवास से भरा होता है। और जितना परतंत्र मन, उतनी ही दुर्गंध से भर जाता है। और वासना परतंत्र बनाती है।

अगर आप एक स्त्री पर मोहित हैं तो एक गुलामी आ जायेगी। अगर आप एक पुरुष पर मोहित हैं तो एक गुलामी आ जायेगी। अगर आप धन से दीवाने हैं तो धन की गुलामी आ जायेगी। अगर आप पद के दीवाने हैं तो जाकर दिल्ली में देखें! एक दफे दिल्ली में सबको पकड़ लिया जाय और एक पागलखाना बना दिया जाय तो मुल्क बहुत शांति में हो जाय। अलग-अलग पागलखाने खोलने की जरूरत नहीं। पूरी दिल्ली घेर कर पागलखाना बनाई जाय। या पार्लियामेंट को ही पकड़ लिया जाय तो भी काफी है। कुर्सी के कारण आदमी एक गुलाम हो जाता है। ऐसा गिड़गिड़ाता है, ऐसी लार टपकाता है, ऐसे हाथ जोड़ता है, ऐसे पैर पड़ता है और क्या-क्या नहीं करता—सब करने के लिए राजी हो जाता है। यह एक गुलामी है, एक दासता है।

जहाँ भी वासना है, वहाँ गुलामी होगी। जो पैसे का पागल है, उसको देखा है आपने! रुपये को कैसा मोहित, कैसा मंत्र-मुग्ध होकर देखता है! रात को स्वप्न में भी गिनता रहता है। पैसा छिन जाय तो उसके प्राण चले जायँ। उसके प्राण पैसे में होते हैं। पैसे बच जायँ तो उसकी आत्मा बच जाती है। वासना दुर्गंध लाती है, क्योंकि वासना परतंत्रता लाती है, और इसलिए वासना से भरा आदमी कभी सुगंधित नहीं होता; उसके चारों तरफ वह सुगंध नहीं दिखाई पड़ती जो किसी महावीर, किसी बुद्ध, किसी कृष्ण के आस-पास दिखाई पड़ती है।

और बड़े मजे की बात है कि वासना तृप्त न हो, तो चित्त पीड़ित और परेशान होता है और जो चाहा था वह मिल जाय, तो भी चित्त 'फ्रस्ट्रेट' होता है, तो भी पीछे विषाद छूट जाता है। काम-वासना तृप्त न हो तो मन काम-वासना के चित्रों की दुर्गंध से भर जाता है। और काम-वासना के तृप्त होने का मौका आ जाय तो पीछे सिवाय हारे हुए, पराजित व्यक्तित्व के कुछ भी नहीं छूटता। दोनों की ही स्थितियों

में चेतना धूमिल होती है और चेतना पर गंदगी की पर्त जम जाती है। लेकिन गंदगी की पर्त पता नहीं चलती, क्योंकि धीरे-धीरे हम गंदगी के आदी हो जाते हैं। दुर्गंध मालूम नहीं पड़ती! नासापुट राजी हो जाते हैं, कन्डीशनिंग हो जाती है। तो ऐसा भी हो सकता है कि हमें दुर्गंध में सुगंध मालूम पड़ने लगे। ऐसा भी हो जाता है कि जब दुर्गंध के हम आदी हो जाते हैं, कन्डीशन्ड हो जाते हैं, तो हमें लगता है कि बड़ी सुगंध आ रही है। और जिस दिन दुर्गंध सुगंध मालूम होने लगती है, उससे फिर छुटकारा और मुश्किल है।

जिस आदमी को कारागृह निवास मालूम पड़ने लगे, घर मालूम पड़ने लगे, फिर तो उसका छुटकारा बहुत मुश्किल है। जिस आदमी को सूली सिंहासन मालूम पड़ने लगे, आप उसे उतारना भी चाहें सूली से तो वह नाराज होगा कि हम सिंहासन पर बैठे हैं, तुम हमें उतारने की बात कर रहे हो? चाहो तो तुम भी आ जाओ। अगर हम जीसस पर, कृष्ण और क्राइस्ट पर, बुद्ध और मुहम्मद पर नाराज हो जाते हैं, तो नाराज होने का कारण है। हम अपनी दुर्गंध में बड़े मस्त हैं, वे हमें नाहक बेचैन करते हैं, डिस्टर्ब करते हैं। गोबर का कीड़ा है, वह गोबर में ही मजे में है; आप उसे गोबर से हटायें तो वह बड़ी नाराजी से फिर गोबर की तरफ चला जाएगा। उसके लिए वह गोबर नहीं है, उसके लिए वह जीवन है! खयाल शायद हमें न आये कि हम जहाँ जी रहे हैं, वहाँ दुर्गंध है। लेकिन दुर्गंध तो है ही, चाहे हम कितने भी कन्डीशन्ड हो जायँ। फिर हम कैसे पहचानें कि वह दुर्गंध है, हम एक ही बात पहचान सकते हैं: जिससे दुःख मिलता हो, हम उसे पहचान सकते हैं। अगर सुगंध है वासना, तो दुःख नहीं मिलना चाहिए। लेकिन दुःख मिलता है—दुःख ही दुःख मिलता है, फिर भी हम वासना को कहे चले जाते हैं—सुगंध।

दर्पण के साथ एक और बात समझ लेनी जरूरी है। आपने कभी खयाल किया कि दर्पण के सामने आइए तो आपकी तस्वीर बन जाती है, हट जाइए तो तस्वीर मिट जाती है। यह दर्पण की खूबी है, यही उसकी क्वालिटी है, यही उसका गुण है। फोटो कैमरे के भीतर फिल्म पर भी तस्वीर बनती है, लेकिन मिटती नहीं, बन गई तो बन गई। एक्सपोजर हो गया, तो हो गया। एक दफे बनती है, फिर तस्वीर को पकड़ लेती है कैमरे की फिल्म, फिर छोड़ती नहीं। 'दर्पण जैसा' कहने का कारण है। सिर्फ वह व्यक्ति जो धुएँ से और दुर्गंधयुक्त मल से मुक्त होता है और जिसका चित्त शुद्ध दर्पण हो जाता है, उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि उसके सामने जो आता है, उसकी तस्वीर बन जाती है, और वह हट जाता है तो दर्पण कोरा, खाली और मुक्त हो जाता है। मित्र आया तो खुशी और चला गया तो भूल गये। परिवार के लोग रहे तो आनंद, नहीं रहे तो बात समाप्त—दर्पण जैसा। फिर कोई चीज पकड़ती

नहीं, एक्सपोजर होते ही नहीं। चीजें आती हैं, चली जाती हैं, और दर्पण अपनी शुद्धता में रह जाता है।

दर्पण को अशुद्ध नहीं किया जा सकता। फोटो के कैमरे की जो फिल्म है उसको अशुद्ध किया जा सकता है, वह अशुद्ध होने के लिए ही है। वही उसकी खूबी है। वह फौरन तस्वीर को पकड़ लेती है और बेकार हो जाती है। दर्पण बेकार नहीं होता, लेकिन हम जिस तरह जीते हैं, उसमें हमारी हालत दर्पण जैसी कम और फोटो की फिल्म जैसी ज्यादा है। जो भी पकड़ जाता है, वह पकड़ जाता है फिर वह छूटता नहीं। एक्सपोजर हो जाता है? कल किसी ने गाली दी थी, वह अभी तक नहीं छूटी, चौबीस घंटे बीत गये, वह गूँज रही है; वह चल रही है। देनेवाला हो सकता है भूल गया हो, देनेवाला हो सकता है, अब माफी माँग रहा हो मन में। देनेवाला हो सकता है, अब हो ही नहीं इस दुनिया में, लेकिन वह गाली हमारे भीतर गूँजती ही रह सकती है। वह आज गूँजे, कल भी गूँजे, हो सकता है कब्र में आप उसे अपने साथ ले जायँ और वह गूँजती ही रहे। एक्सपोजर हो गया, दर्पण जैसा नहीं रहा आपका चित्त।

एक सुबह बुद्ध के ऊपर एक आदमी थूक गया और दूसरे दिन माफी माँगने आया, तो बुद्ध ने कहा, 'पागल, गंगा का बहुत पानी बह चुका है। कहाँ की बातें कर रहा है? इतिहास को मत उखाड़, गड़े मुरदों को मत उखाड़; बात खत्म हो गई। अब न तो मैं वह हूँ—जिस पर तू थूक गया था, न अब तू वह है—जो थूक गया था। न अब वह आकाश है, न जमीन है; सब बदल चुका। चौबीस घंटे में गंगा का पानी बहुत बह गया। तू किससे माफी माँगता है!' लेकिन वह कहने लगा, 'नहीं, मुझे माफ कर दें।' बुद्ध ने कहा, 'अभी तू थूका ही नहीं। मालूम होता है, तू चौबीस घंटे पहले जो थूक गया था, उसको दोहराता भी रहा है, उसकी जुगाली करता रहा है।' हम सब ऐसे ही जीते हैं।

हम दर्पण जैसे नहीं हैं। दर्पण जैसा व्यक्ति ही अनासक्त हो सकता है, क्योंकि तब चीजें आती हैं और चली जाती हैं। वही कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि 'तू दर्पण जैसे ज्ञान को उपलब्ध हो जा। हटा धुएँ को, जिस धुएँ के कारण तुझे दिखाई नहीं पड़ता कि तेरे भीतर जो ज्योति है ज्ञान की, वह क्या है। अपने दर्पण को उसकी पूरी शुद्धता में, पूरी प्योरिटी में ले आ, ताकि चीजें आयें जायें और तेरे ऊपर कोई प्रभाव न छूट जाय, कोई 'इम्प्रेशन', कोई प्रभाव तेरे ऊपर पकड़ न जाय। तू खाली ही बना रहे।' कबीर ने कहा है, 'ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया, खूब जतन से ओढ़ी कबीरा—बहुत जतन से ओढ़ी चादर और फिर ज्यों की त्यों घर दीन्हीं। जरा भी दाग नहीं लगाया।' दर्पण जैसी हो चादर, तभी हो सकता है यह। अगर चादर दर्पण

जैसी न हो तो दाग लग ही जाएगा।

जिस चादर की बात कबीर कह रहे हैं, वह कृष्ण के दर्पण की ही बात है। अगर चित्त दर्पण जैसा है तो कितना ही ओढ़े कोई, दाग नहीं लगता। दर्पण पर दाग लगता ही नहीं। दर्पण कुछ पकड़ता ही नहीं। चीजें आती हैं और चली जाती हैं और दर्पण अपने खालीपन में, अपनी शून्यता में, अपनी निर्मलता में, अपनी शुद्धता में रह जाता है। लेकिन शुद्धता दर्पण की तब हो, जब उसके ऊपर धूल, अशुद्धि ही न चढ़े। दर्पण शुद्ध तो तब हो, जब मैं स्वयं रहूँ, मेरे ऊपर दूसरे न जम जायँ। दर्पण तो शुद्ध तब हो, जब मैं जो हूँ—वही रहूँ, उसकी आकांक्षा न करूँ—जो मैं नहीं हूँ। दर्पण तो शुद्ध तभी हो सकता है, जब वर्तमान का क्षण पर्याप्त हो और जब भविष्य की कामनाएँ न पकड़ें और अतीत की स्मृतियाँ न पकड़ें, तभी मन का दर्पण शुद्ध हो सकता है। ऐसे शुद्ध दर्पण को कृष्ण कहते हैं ज्ञान—और ऐसा ज्ञान मुक्ति है।

●प्रश्न : आप कहते हैं कि खाद की दुर्गंध ही फूल की सुगंध बनती है और काम-ऊर्जा ही आत्म-ऊर्जा बनती है, लेकिन यहाँ काम को ज्ञानियों का नित्य बैरी कहकर उसके प्रति निंदा-भाव क्यों व्यक्त किया गया है?

नहीं, निंदा भाव नहीं है। बैरी कहकर सिर्फ एक तथ्य की सूचना दी गई है। और जब मैं कहता हूँ कि खाद की दुर्गंध ही फूल की सुगंध बनती है, तब मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि खाद में दुर्गंध नहीं होती। खाद में दुर्गंध तो होती ही है। और आप घर में खाद ही रख लें लाकर तो फूलों की सुगंध पैदा नहीं हो जाती, सिर्फ दुर्गंध ही बढ़ेगी; खाद सड़ेगी और दुर्गंध बढ़ेगी। जो आदमी खाद को घर में रख कर बैठ जाता है, उसके लिए खाद बैरी है; लेकिन जो आदमी खाद को बगीचे में डाल कर, मिट्टी में मिलाकर, बीजों के साथ बिछा लेता है, उसके लिए खाद मित्र हो जाती है। और ध्यान रहे, 'बैरी' कोई नियति नहीं है, वह मित्र भी हो सकता है। जो बैरी हो सकता है, वह मित्र भी हो सकता है; जो मित्र हो सकता है, वह बैरी भी हो सकता है।

यहाँ कृष्ण सिर्फ इतना ही कह रहे हैं कि जिसकी वासना धुआँ बनकर उसके चित्त को घेर लेती है, उसकी वासना उसकी ही दुश्मन हो जाती है; लेकिन जो इस धुएँ में अपनी अग्नि को पहचानता है कि अग्नि भी भीतर होनी चाहिए, वह धुएँ से मुक्त हो सकता है। धुएँ बाहर है—और जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है। बिना अग्नि के धुआँ नहीं हो सकता। जो इस वासना के धुएँ को देखकर भीतर की अग्नि के स्मरण से भर जाता और धुएँ को हटाकर अग्नि को उपलब्ध होता है, उसके लिए वासना शत्रु नहीं मित्र हो जाती है। लेकिन कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि 'वासना बैरी है।' बैरी का मतलब केवल इतना ही है कि अभी तू जिस स्थिति में खड़ा है, वहाँ तूने अपनी वासना को बैरी की स्थिति में बाँध रखा है। वह तेरी मित्र

नहीं बन पाएगी।

इस जगत् में जो भी चीज हानि पहुँचा सकती है, वह लाभ भी पहुँचा सकती है। रास्ते पर पड़ा हुआ पत्थर रुकावट भी बनता है—समझदारों के लिए सीढ़ी भी बन जाता है। उसी के ऊपर चढ़कर वे और ऊपर उठ जाते हैं। जिंदगी में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका शुभ उपयोग न हो सके और जिंदगी में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका दुरुपयोग, अशुभ उपयोग न हो सके। उपयोग सदा हम पर निर्भर है। हम वासना का शत्रु की तरह व्यवहार कर सकते हैं।

हम वासना से करते क्या है? हम वासना के सिर्फ अपने को थकाते हैं। हम वासना से सिर्फ अपने को गँवाते हैं। हम वासना से सिर्फ अपने को चुकाते हैं। छेद-छेद से जैसे पानी झरता चला जाये किसी घड़े से, ऐसे हम अपने जीवन को वासनाओं में बिताते हैं। और वासना से करते क्या है? वासना हमारे लिए शक्ति का, ऊर्जा का, परमात्मा की उपलब्धि का द्वार नहीं बनती। वासना हमारे लिए ऊर्जा को, शक्ति को, प्रभु को, आत्मा को खोने का मार्ग बनती है। लेकिन वासना का रूपांतरण हो सकता है।

इसलिए कृष्ण जब बैरी कह रहे हैं, तो उनका प्रयोजन निन्दा का नहीं है। और जब मैं मित्र कहता हूँ, तो मेरा प्रयोजन भी प्रशंसा का नहीं है। फिर से दोहराऊँ: जब कृष्ण कहते हैं, वासना शत्रु है, तो उनका प्रयोजन निन्दा का नहीं है। और जब मैं कहता हूँ, वासना मित्र है, तो मेरा प्रयोजन प्रशंसा का नहीं है। कृष्ण आधी बात कह रहे हैं कि शत्रु है और सूचना दे रहे हैं कि उसे शत्रु ही मत बनाये रखना। मैं भी आधी बात कह रहा हूँ, कि मित्र है। और सूचना दे रहा हूँ, कि उसे मित्र बना लेना है। शत्रु मित्र बनाये जा सकते हैं; दुर्गंध सुगंधें बनायी जा सकती हैं; धुआँ आग की तरफ ले जानेवाला बन सकता है और धुआँ आग से दूर ले जानेवाला भी बन सकता है।

यह हम पर निर्भर करता है कि हम वासना का क्या उपयोग करते हैं। वासना विनाशक हो सकती है और वासना सृजनात्मक भी हो सकती है। वासना मनुष्य को वहाँ पहुँचा सकती है, जहाँ परमात्मा का मंदिर है। और वासना ही वहाँ भी पहुँचा सकती है, जहाँ परमात्मा की तरफ पीठ हो जाती है। दोनों ही हो सकता है।

हमने तुलसीदास की कहानी पढ़ी है; सभी को पता है कि उनके लिए वासना शत्रु थी, कृष्ण के अर्थों में बैरी थी। पत्नी गयी है मायके, तो वे रुक नहीं सकते। पागल की तरह, विक्षिप्त की तरह, अंधे की तरह पत्नी के लिए भागे। आँख देखती नहीं, कान सुनते नहीं, हाथ छूते नहीं! वर्षा है, नदी में बाढ़ है। कूद पड़ते हैं। लगता है कि कोई लकड़ी बह रही है, उसका सहारा ले लेते हैं। लकड़ी नहीं है वहाँ

सिर्फ एक मुरदा बह रहा है! उसी का सहारा लेकर नदी पार कर जाते हैं। मुरदा नहीं दिखाई पड़ता, दिखाई पड़ती है लकड़ी। वासना अंधी है। आधी रात, पहुँच गये हैं घर पर। द्वार खुलवाने की हिम्मत नहीं पड़ती। वासना सदा कमजोर है, वासना सदा भयभीत है। जहाँ भय है, वहाँ वासना है। जहाँ वासना है, वहाँ भय है। अभय सिर्फ वही होता है, जो वासना में नहीं है।

तुलसीदास चोरी से घर के पीछे से चढ़ते हैं। लगता है रस्सी लटकी है, लेकिन साँप लटकता है वर्षा का। दिखाई नहीं पड़ता, हिप्नोटाइज्ड हैं, सम्मोहित हैं। जो देखना चाहते हैं, वही दिखाई पड़ता है वासना में; वह नहीं दिखाई पड़ता है—जो है। अभी रस्सी चाहिए चढ़ने के लिए, इसलिए साँप रस्सी दिखाई पड़ता है। अभी पार होने के लिए लकड़ी चाहिए, तो मुरदा लकड़ी दिखाई पड़ता है।

वासना में वही दिखाई पड़ता है, जो आप देखना चाहते हैं; वह नहीं दिखाई पड़ता—जो है। आत्मा में वही दिखाई पड़ता है—जो है; वह नहीं दिखाई पड़ता है—जो आप देखना चाहते हैं। इसलिए आत्मा तो सत्य को देखती है, वासना अपने खुद के झूठ सत्य निर्मित करती है, प्रोजेक्ट करती है। अब यह साँप नहीं दिखाई पड़ा, रस्सी दिखाई पड़ी। कल्पना का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) हुआ। रस्सी चाहिए थी, चढ़ गये। पत्नी ने एक बात कही कि 'जितना मेरे लिए दौड़ते हैं, काश, इतना राम के लिए दौड़ें!' बस, वासना मित्र हो गई! उसी दिन से मित्र हो गई—उसी घड़ी, उसी क्षण। इस क्षण के पहले तक शत्रु थी। यात्रा बदल गई, रुख बदल गया, मुँह फिर गया। कल तक जहाँ पीठ थी, उस तरफ आँखें हो गई और कल तक जहाँ आँखें थीं, वहाँ पीठ हो गई। रास्ता वही है, लेकिन यात्रा बदल गई।

आप यहाँ तक आये हैं। जिस रास्ते से आये हैं, उसी रास्ते से वापस लौटेंगे। रास्ता वही है, लेकिन अभी मेरी तरफ आते थे तो आँखें मेरी तरफ थीं, अब घर की तरफ जाएँगे तो घर की तरफ आँखें होंगी। अभी आये थे, तो घर की तरफ थी। वासना ही रास्ता है: परमात्मा से दूर जाने का भी और परमात्मा के पास आने का भी। वासना में ज्यादा जाइए तो दूर चले जाएँगे, वासना में कम से कम जाइए—लौटते आइए, लौटते आइए—तो परमात्मा में आ जाएँगे। जिस दिन वासना पूर्ण होगी, उस दिन परमात्मा से डिस्टेन्स एब्सोल्यूट होगा। जिस दिन वासना शून्य होगी, उस दिन परमात्मा से 'नो डिस्टेन्स' पूर्ण होगा; उस दिन निकटता पूरी हो जाएगी; उस दिन वासना नहीं होगी। जिस दिन वासना ही वासना होगी, उस दिन दूरी पूर्ण हो जाएगी। रास्ता वही होता है। सीढ़ी वही होती है—जो ऊपर ले जाती है मकान के। सीढ़ी वही होती है—जो नीचे लाती है मकान के। आप भी वही होते हैं, सीढ़ी भी वही होती है, सिर्फ रुख बदल जाता है। चढ़ते वक्त ऊपर की तरफ नजर होती है,

उतरते वक्त नीचे की तरफ नजर होती है।

कृष्ण जब बैरी कह रहे हैं वासना को, तो निंदा नहीं कर रहे हैं, सिर्फ सूचना दे रहे हैं अर्जुन को कि वासना बैरी बन सकती है, बन जाती है। सौ में निन्यानबे मौकों पर बैरी ही होती है। और जब मैं कहता हूँ, वासना मित्र है, तो मैं कह रहा हूँ कि सौ में निन्यानबे मौकों पर वासना बैरी होती है। लेकिन सौ में निन्यानबे मौके पर भी वासना मित्र बन सकती है। मैं संभावना की बात कह रहा है, कृष्ण वास्तविकता की बात कह रहे हैं। कृष्ण कह रहे हैं—जो है; मैं वह कह रहा हूँ—जो हो सकता है। और जो है—वह इसलिए कह रहे हैं, ताकि वह हो सके—जो होना चाहिए अन्यथा जो है—उसके कहने का कोई भी प्रयोजन नहीं।

●प्रश्न : अभी आपने कहा कि अधिक वासना का अर्थ है, परमात्मा से अधिक दूरी और दूसरी जगह आप कहते हैं कि वासना की चरम ऊँचाइयों पर ही रूपांतरण होता है। कृपया इसे स्पष्ट करें।

निश्चय ही जितने गहरे होते हैं हम वासना में, उतने ही दूर होते हैं परमात्मा से। लेकिन गहराइयों का भी अंत है। और जब कोई व्यक्ति वासना की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तो उससे आगे वासना नहीं होती। जिस दिन कोई वासना के आखिरी छोर को छू लेता है, उस दिन वह ऐसा आदमी है, जो पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा आया और भलीभाँति जानता है कि क्षितिज आकाश को कहीं भी नहीं छूता। उस दिन रूपांतरण, उस दिन परमात्मा की तरफ लौटना शुरू होता है। इसलिए जब मैं कहता हूँ, 'वासना पूरी है, तो परमात्मा से पूरी दूरी है', तब मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि लौटना असंभव है। सच तो यह है कि पूरी दूरी से ही लौटना आसान होता है, बीच से लौटना आसान नहीं होता। इसलिए हम अकसर देखते हैं कि पापी शीघ्रता से संतत्त्व को उपलब्ध हो जाते हैं। 'मीडियाकर', मध्यवर्गीय चित्त के लोग शीघ्रता से संतत्व को उपलब्ध नहीं होते। कोई वाल्मीकि शीघ्रता से पाप की आखिरी गहराई छू लेता है।

जब कृष्ण जैसे आदमी कहेंगे कि काम बैरी है, तो वाल्मीकि जितना ठीक से समझ सकता है, उतना अर्जुन नहीं समझ सकता। क्योंकि अर्जुन ने वासना को उस गहराई तक छुआ भी नहीं, जहाँ उसका बैरीपन पूरा प्रकट हो जाए। वाल्मीकि जानता है अनुभव से, अपनी पीड़ा से कि कृष्ण जो कहते हैं, वह ठीक है। वाल्मीकि के पूरे प्राण से निकलेगा, 'हाँ, यही है सच; वासना दुःख और पीड़ा और नरक है।' और उसके नरक को वह जानता है, उसका लौटना शीघ्रता से होता है। तो अब दूरी पूर्ण है परमात्मा से, तभी छलाँग का क्षण भी है।

कोई आदमी इतनी वासना में नहीं हो सकता कि वहाँ से लौट न सके, क्योंकि कोई

आदमी किसी रास्ते पर इतना आगे नहीं जा सकता कि उसी रास्ते से वापस न आ सके। हाँ, रास्ते का अंत आ जाय, वहाँ से रास्ता ही खत्म हो जाय, आगे खड्ड हो अनंत और कोई रास्ता न हो, तो लौटना ज्यादा तीव्रता से होता है—कि व्यर्थ हो गया यह रास्ता। लेकिन बीच में जो लोग होते हैं, उन्हें आगे रास्ता दिखाई देता है। उन्हें लगता है, अभी तो रास्ता शेष है। 'आप कहते हैं नरक है, लेकिन हम आखीर तक जाकर तो देख लें, क्योंकि अब तक तो मन ने कहा कि स्वर्ग आगे है। आप कहते हैं, पीछे है!' वासना तो कहती है, और थोड़ा और थोड़ा, बस, एक मील का पत्थर और पूरा करो। और वासना कभी भी पूरी बात नहीं कहती, हमेशा इन्स्टालमेंट (किश्त) में कहती है कि इतना तो और कर लो, बस, इतने में तो देर नहीं, थोड़ी-सी तो बात रह गयी है। दस-पाँच कदम और—और मंजिल आ गयी। अब यहाँ से लौट रहे हो! पागल हो! कहते होंगे कृष्ण; पता नहीं—यह आदमी झूठ कह रहा हो; पता नहीं—यह आदमी धोखा देता हो; पता नहीं; इस आदमी की बात कहाँ तक सच है!

अर्जुन को दिक्कत होती है समझने में, वाल्मीकि को दिक्कत नहीं होती। वाल्मीकि कहेगा, 'ठीक कहते हो! आगे रास्ता कहाँ है! मील के पत्थर खत्म हो गए।' तो वाल्मीकि जैसा आदमी क्षण में आत्म-क्रांति से गुजर जाता है। अनेक लोग मुझसे पूछते हैं कि 'वाल्मीकि जैसा पापी, इतना बड़ा संत कैसे हो सकता है!' तो मैं उनसे कहता हूँ, 'जो आदमी इतना पापी होने की हिम्मत कर सकता है, वह आदमी उतनी ही मात्रा में संत होने की हिम्मत कर सकता है।' हममें तो पापी होने का भी साहस नहीं होता, पुण्यात्मा होने का साहस तो जरा दूर की बात है।

अगर हम पापी नहीं होते, तो उसका कारण यह नहीं होता कि हम पुण्यात्मा हैं; उसका कुल कारण होता है कि हममें पापी होने का भी साहस नहीं है। अगर आदमी चोरी नहीं करता, तो उसकी वजह यह नहीं है कि वह अचोर है, सौ में निन्यानबे मौकों पर वजह इतनी ही होती है कि चोरी के लिये जितनी हिम्मत चाहिये, उतनी भी उसमें नहीं होती। चोर तो वह है ही, सिर्फ हिम्मत नहीं है, इसलिये ऐक्ट नहीं कर पाता; विचार ही करता रहता है। सोचता ही रहता है, कर नहीं पाता।

वाल्मीकि जैसे लोग हिम्मतवर हैं और जब ऐसे लोग पाप में छलाँग लगा सकते हैं, बेशर्त, तो किसी दिन उनको पता चल जाये कि पाप का रास्ता समाप्त हुआ, तब इतनी ही बेशर्त छलाँग परमात्मा में भी लगा सकेंगे। छलाँग की हिम्मत जिसको पाप में है, उसको परमात्मा में भी हो सकेगी। जो नरक में कूद सकता है, उसके सामने स्वर्ग आ जाये तो क्या नहीं कूद सकेगा। लेकिन हम हिम्मत नहीं जुटा पाते।

इसलिये बीच के आदमियों की कठिनाई है; वे दोनों बातें मानते रहते हैं। इधर रोज

गीता भी पढ़ लेते हैं और कहते हैं : वासना बैरी है, और दिन-रात वासना को सोचते भी हैं। कहते तो हैं कृष्ण, पर चित्त तो यही कहता है कि वासना ही मित्र है। इसलिये फिर सुबह गीता पढ़ लेते हैं, फिर चौबीस घंटे वासना में जीते हैं। फिर सुबह गीता पढ़ लेते हैं। फिर यह उनकी नियमित आदत हो जाती है। वासना में भी जीते हैं। वासना के खिलाफ पढ़कर अपने मन को हलका भी कर लेते हैं।

यह तरकीब बड़ी चालाक है, कनिंग है ! इस भाँति वे दोहरा काम करते हैं; इस भाँति से वासना में भी जीते रहते हैं और अपने मन को भी समझाते रहते हैं कि मैं कोई बुरा आदमी नहीं हूँ, रोज गीता पढ़ता हूँ कि वासना बैरी है। आदमी तो अच्छा हूँ, जरा समय नहीं आया। अभी प्रभु की कृपा नहीं है; अभी पिछले जन्मों के कर्म बाधा डाल रहे हैं; अभी स्थिति नहीं बनी—गीता तो रोज पढ़ता ही हूँ। इस तरह अपने अहंकार को भी भीतर बचाये रखते हैं कि मैं जानता हूँ : वासना बैरी है और अपने चित्त को भी चलाये रखते हैं वासना में। ऐसे वे दो नावों पर सवार होते हैं। कहीं नहीं पहुँचते। न पाप के अंत पर पहुँचते, न पुण्य के अंत पर पहुँचते। सदा ही उनकी दो नावें बीच में ही भटकती रहती हैं। अनन्त जन्म ऐसे बीत सकते हैं।

अगर कोई आदमी साहस से वासना में ही चला जाय तो आज नहीं कल वासना के बाहर आना पड़ेगा। सिर्फ परमात्मा के बाहर आने का उपाय नहीं है, बाकी तो कहीं से भी बाहर आना पड़ेगा। क्योंकि जिस दिन पता चलेगा कि सब व्यर्थ है, उसी दिन लौटना शुरू हो जाएगा। उस दिन फिर कृष्ण की बात उधार नहीं मालूम पड़ेगी—प्रामाणिक (ऑथेंटिक)—अपने ही प्राणों से आयी हुई मालूम पड़ेगी। उस दिन गवाही दे सकेगा वाल्मीकि जैसा आदमी कि 'ठीक कहते हो तुम, मैं भी दस्तखत करता हूँ, मैं भी गवाह हूँ, विटनेस हूँ कि यही बात है।'

इसलिये जब मैं कहता हूँ कि वासना की पूर्णता पर ही वासना का रूपांतरण होता है, तो मेरी दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। वासना की पूर्णता पर आप परमात्मा से सर्वाधिक दूर होते हैं, लेकिन वासना की पूर्णता पर चरम स्थिति में रूपांतरण की संभावना भी सर्वाधिक होती है। असल में जो परमात्मा से सर्वाधिक दूर है, वही शायद परमात्मा की सर्वाधिक कमी भी अनुभव कर पाता है, और जो परमात्मा से सर्वाधिक दूर है, वही शायद दौड़कर परमात्मा की गोद में भी गिर पाता है। जिनको लगता है : हम तो पास ही हैं मंदिर के, पड़ोस में ही हैं, वे सोचते हैं : कभी भी चले जायेंगे। ऐसा कोई जल्दी भी क्या है ? पड़ोस में ही है मंदिर, कभी भी मंदिर में चले जायेंगे। आदमी हम भले हैं ऐसे, परमात्मा की तरफ दौड़ने की जरूरत भी क्या है ?

एक अंग्रेज लेखक ने एक छोटी-सी किताब लिखी है। उस किताब में उसने लिखा है कि लंदन में दूसरे यात्री आते हैं सारी दुनिया से, तो लंदन का टावर देख लेते हैं, पर लंदन

में ऐसे लाखों लोग हैं, जिन्होंने लंदन का टावर नहीं देखा है। नहीं देखा इसलिये क्योंकि वे सोचते हैं कि 'देख लेंगे कभी। रोज उसी के पास से दफ्तर के लिये जाते हैं; देख लेंगे कभी भी !' इतने पास है, ऐसा अहसास जो है। पैकिंग से आदमी आता है— देख लेता है। टोकियो से आदमी आता है—देख लेता है। बम्बई से आदमी आता है—देख लेता है। लंदन का निवासी टावर के सामने ही रहता है—इतने पास कि पत्थर फेंके तो टावर तक पहुँच जाय, लेकिन वह नहीं पहुँचता। वह सोचता है, देख लेंगे कभी भी।

वैटिकन के पोप से एक दफा एक अमेरिकन यात्री कुछ मित्रों को साथ लेकर मिलने आया। वैटिकन के पोप ने पूछा कि 'फ्रांस में कितने दिन रुकने का इरादा है ?' एक अमेरिकन ने कहा, 'छः महीने।' वैटिकन के पोप ने कहा, 'तुम थोड़ा बहुत फ्रांस जरूर देख लोगे।' दूसरे से पूछा कि 'तुम कितने दिन रुकोगे ?' उसने कहा, मैं तो सिर्फ तीन सप्ताह रुकूँगा।' वैटिकन के पोप ने कहा, 'तुम काफी फ्रांस देख लोगे।' तीसरे से पूछा, 'तुम कितने दिन रुकोगे ?' उसने कहा, 'मैं तो सिर्फ एक सप्ताह के लिये आया हूँ।' वैटिकन के पोप ने कहा, 'तुम पूरा फ्रांस देख लोगे।' तीनों चकित हुए; उन्होंने कहा कि 'क्या कहते हैं ! मैं छः महीना रुकूँगा, तो मुझसे कहते हैं कि थोड़ा बहुत देख लोगे। तीन सप्ताहवाले को कहते हैं, काफी देख लोगे। एक सप्ताहवाले को कहते हैं, पूरा देख लोगे !' वैटिकन के पोप ने कहा, 'जिंदगी का मेरा अनुभव यही है कि जिसको लगता है कि बहुत समय है, वह उतना आराम कर लेता है। जिसको लगता है कि समय कम है, वह शीघ्रता से दौड़-धूप कर लेता है।' जो चीज लगती है कि कभी भी मिल जायेगी, उसे हम कभी नहीं पाते। और जो चीज लगती है : अब आखिरी घड़ी आ गयी, जहाँ से वह छूटी, तो सदा के लिये छूट जायेगी, तो हम दौड़ पड़ते हैं।

इसलिये अगर कभी पापी अपने पाप की चरम सीमा से परमात्मा की गोद में सीधा पहुँच जाता है तो बहुत चकित होने की जरूरत नहीं है। वह दौड़ पड़ता है। उसे लगता है कि आ गयी आखिरी जगह, यहाँ से एक कदम और—कि मैं सदा के लिये खो जाऊँगा; फिर लौटने की कोई जगह नहीं रह जायेगी। तो लौट पड़ता है। आपको ऐसा नहीं लगता है। आपको लगता है : रास्ता साफ सुथरा है; बिलकुल मैटल रोड है; तो मजे से चले जा रहे हैं। गति अच्छी है और फिर भगवान् पास हैं। हम भले आदमी हैं, दान भी देते हैं, गीता भी पढ़ते हैं, मसजिद भी जाते हैं, मंदिर भी जाते हैं, साधु-संत को नमस्कार भी करते हैं—और क्या चाहिये ! कभी भी चले जाएँगे।

पाप की पीड़ा मनुष्य को परमात्मा के पास पहुँचा देती है और पुण्य का अहंकार मनुष्य को परमात्मा से दूर कर देता है।

बारहवाँ समापन प्रवचन

क्रॉस मैदान, बम्बई, रात्रि, ६ जनवरी, १९७१

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।४०।।
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१।।

इन्द्रियाँ, मन (और) बुद्धि इसके वासस्थान कहे जाते हैं (और) यह (काम) इनके द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके (इस) जीवात्मा को मोहित करता है।
इसलिये, न अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नाश करनेवाले इस (काम) पापी को निश्चयपूर्वक मार।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि के पार

कृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन! इन्द्रियाँ और मन––यही काम के, वासना के मूल स्रोत हैं। इन्हीं के द्वारा वासना का सम्मोहन उठता है और जीवात्मा को घेर लेता है। यही है वह स्रोत जहाँ से विषाक्त झरने फैलते हैं और जीवन को भटका जाते हैं। पहले इन पर वश को उपलब्ध हो, इन्हें मार डाल।' कृष्ण सख्त से सख्त शब्द का उपयोग करते हैं। वे कहते हैं, 'तू इन्हें मार डाल, इन्हें समाप्त कर दे।' इस शब्द के कारण बड़ी भ्रांति पैदा हुई है।

'इन्द्रियों को, मन को मार डाल'––इससे अनेक लोगों को ऐसा लगा कि इन्द्रियाँ काट डालो, आँखें फोड़ डालो, टाँगें तोड़ दो। जब पैर ही न रहेंगे तो भागोगे कैसे––वासना के लिये। लेकिन उन्हें पता नहीं कि वासना बिना पैर के भागती है, वासना के लिये पैरों की कोई जरूरत नहीं। लँगड़े भी वासना में उतनी ही तेजी से भागते हैं, जितनी तेजी से तेज से तेज दौड़नेवाले भाग सकते हैं। फोड़ दो आँखों को, लेकिन अंधे भी वासना में उसी तरह देखते हैं, जैसे आँख वाले देखते हैं। बल्कि सच तो यह है, आँख बंद करके वासना जितनी सुंदर होकर दिखाई देती है, उतनी सुंदर खुली आँख से कभी दिखाई नहीं पड़ती। इसलिये जो बहुत खुली आँख से देखता है, वह तो कभी वासना से ऊब भी जाता है। लेकिन जो आँख बंद करके देखता है, वह तो कभी नहीं ऊबता है।

'इन्द्रियों को मार डाल अर्जुन' इस वचन से बहुत ही गलत अर्थ लिये गये हैं। क्योंकि मारने की बात नहीं समझी जा सकी। हम तो मारने से एक ही मतलब समझते हैं कि किसी चीज को तोड़ डालो। जैसे कि बीज है, बीज को मारना दो तरह से हो सकता है। एक, जैसा हम समझते हैं––बीज को मार डालो। तो हम कहेंगे दो पत्थरों के बीच में उसे दबा कर तोड़ दो, मर जायेगा। लेकिन यह बीज का मारना बहुत कुशलतापूर्ण नहीं हुआ। क्योंकि उसमें तो वह भी मर गया जो वृक्ष हो सकता था। बीज को मारने की

कुशलता तो तब है, जब बीज मरे और वृक्ष हो जाये, नहीं तो बीज को मारने से क्या फायदा होगा ? निश्चित ही जब वृक्ष पैदा होता है तो बीज मरता है। बीज न मरे तो वृक्ष पैदा नहीं होता। बीज को मरना पड़ता है, मिट जाना पड़ता है। राख-धूल हो जाता है बीज, मिट्टी में मिलकर खो जाता है, तब अंकुर पैदा होता है और वृक्ष बनता है।

इन्द्रियों को मारना, दो पत्थरों के बीच में बीज को दबाकर मार डालने जैसी बात समझी है कुछ लोगों ने और उसके कारण एक बहुत ही 'न्यूरोटिक एसेटिसिज्म,' एक बहुत विक्षिप्त, पागल त्यागवाद पैदा हुआ, जो कहता है : तोड़ दो, मिटा दो ! लेकिन जिसे तुम मिटा रहे हो, उसमें कुछ छिपा है—उसे तुम मुक्त कर लो। अगर वह मुक्त न हुआ तो तुम भी मिट जाओगे उसमें। तुम भी मिटोगे, क्योंकि इन्द्रियों में कुछ छिपा है जो हमारा है। मन में कुछ छिपा है जो हमारा है। मन को तोड़ना है, लेकिन मन में जो ऊर्जा है, उसे आत्मा तक पहुँचा देनी है। इन्द्रियों को तोड़ना है, लेकिन इन्द्रियों में जो छिपा है रस, वह आत्मा तक वापस लौटा देना है। इसलिये मारने का मतलब 'ट्रांसफॉर्मेशन' है, मारने का मतलब रूपांतरण है। असल में रूपांतरण ही ठीक अर्थ में मृत्यु है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि अगर आप बीज को पत्थर से भी कुचल डालें, तब भी बीज होता है, कुचला हुआ होता है। लेकिन जब एक बीज टूटकर वृक्ष होता है तो कहीं भी नहीं होता—कुचला हुआ भी नहीं होता। खयाल किया आपने कि जब एक बीज वृक्ष बनता है तो फिर खोजने जाइये कि बीज कहाँ है, फिर वह कहीं नहीं मिलेगा। लेकिन दो पत्थरों के बीच में कुचल कर दबा दिया तो कुचला हुआ मिलेगा। और कुचली हुई इन्द्रियाँ और भी कुरूप जीवन को पैदा कर देती हैं। बहुत 'परव्हर्टेड' हो जाती हैं।

तीन शब्द आपसे कहना चाहूँगा। एक शब्द है प्रकृति। अगर प्रकृति को कुचला तो जो पैदा हुआ, उसका नाम है विकृति। और अगर प्रकृति को रूपांतरित किया तो जो पैदा हुआ, उसका नाम है संस्कृति। प्रकृति अगर कुरूप हो जाय, कुचल दी जाय तो विकृत हो जाती है, परव्हर्टेड हो जाती है और प्रकृति अगर रूपांतरित हो जाय, ट्रांसफार्म हो जाय, सब्लिमेट हो जाय तो संस्कृति पैदा होती है। तो जब कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इन्द्रियों को और मन को मार डाल, तो कृष्ण के मुँह में ये शब्द वह अर्थ नहीं रखते, जो अर्थ त्यागवादियों के मुँह में हो जाता है। क्योंकि कृष्ण इन्द्रियों के कहीं भी विरोधी नहीं हैं। इन्द्रियों का, कृष्ण से कम विरोधी आदमी खोजना मुश्किल है। कृष्ण रोते हुये, उदास, मुरदा आदमी नहीं हैं।

कृष्ण से ज्यादा नाचता हुआ, कृष्ण से ज्यादा हँसता हुआ व्यक्तित्व पृथ्वी पर खोजना मुश्किल है। इसलिये कृष्ण कहीं इन्द्रियों को कुचलने के लिये कह रहे हैं, यह तो असंभव है; यह 'इंट्रेन्जिकली' असंभव है। यह कृष्ण के व्यक्तित्व में बात आती नहीं; जो आदमी

बाँसुरी बजा रहा है, जो आदमी रात में चाँद-तारों के नीचे नाच रहा है, इस आदमी के मुँह से इन्द्रियों को कुचलने की बात समझ में नहीं आती। यह मोर-मुकुट लगाकर खड़ा हुआ आदमी, यह प्रेम से भरपूर व्यक्तित्व, यह जीवन को उसकी सर्वांगता में स्वीकार करने वाला चित्त, इसके इन्द्रियों को मारने की बात में मतलब कुछ और है।

लेकिन निरंतर गलत अर्थ लिया गया है। और अर्थ हम वही ले लेते हैं, जो हम लेना चाहते हैं। इन्द्रियाँ दुःख में ले जाती हैं, यह सच है, इसलिये जो दुःख में ले जाता है उसको हम मार डालें। यह हमारा मन है, जो दुःख में ले जाता है, इसलिये इसे काट डालो। आँखें रूप पर मोहित करती हैं, इन्हें फोड़ दो। काम संगीत में डाँवाडोल होते हैं, इन्हें फोड़ दो। लग सकता है यह तर्कयुक्त। ठीक है, जो दुःख में ले जाता है उसे मिटा दो, लेकिन हमें पता नहीं कि जो दुःख में ले जाता है, उसमें भी हमारी ऊर्जा छिपी है; जो दुःख में ले जाता है, उसमें भी हम छिपे हैं। उस छिपे हुये को अगर हमने कुचल दिया तो हम ही कुचल जायेंगे।

इसलिये तथाकथित त्यागी, तपस्वी—जिसको कुछ पता नहीं है, वह आमतौर से खुद के साथ हिंसा करता रहता है। कहीं कोई रूपांतरण नहीं होता है, सिर्फ हिंसा होती है। और अगर हम दूसरे के साथ हिंसा करें तो हम अदालत में पहुँचा दिये जाते हैं और अपने साथ करें....तो अभी तक दुनिया में इतना न्याय नहीं है कि हम उस आदमी को अदालत में पहुँचायें, जो अपने साथ हिंसा करता है।

यह बड़े मजे की बात है कि आपकी छाती पर छुरा रख दूँ, तो अदालत और अपनी छाती पर छुरा रख लूँ, तो सम्मान है ! यह पागलपन है। छुरा दोनों हालत में छाती पर रखा जाता है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि किसकी छाती है। आँखें आपकी फोड़ दूँ, तो मुझे सम्मान मिलना चाहिये, क्योंकि मैंने आपकी इन्द्रियाँ मारने में सहायता दी ! इस पर कोई राजी न होगा। लेकिन अपनी आँख फोड़ लूँ, तो आप ही मेरे पैर छूने आयेंगे कि आप परम तपस्वी हैं, आँखें फोड़ लीं ! लेकिन आपकी आँखें फोड़ना अपराध है, तो मेरी आँखें फोड़ना कैसे पुण्य हो जायेगा ?

इन्द्रियों के विरोध में यह वक्तव्य नहीं है, इन्द्रियों के रूपांतरण के लिये यह वक्तव्य है। और मजा यह है कि रूपान्तरण से ही इन्द्रियाँ मरती हैं, मारने से कोई इन्द्रिय कभी नहीं मरती। इसलिये मैं कहता हूँ, रूपांतरण के लिये यह वक्तव्य है।

मारकर देखें किसी इन्द्रिय को और जिस इन्द्रिय को मारेंगे, वही इन्द्रिय सबसे ज्यादा सशक्त हो जायेगी। सच तो यह है कि जो इन्द्रिय मारी जाती है, उस इन्द्रिय पर सारी इन्द्रियों की शक्ति दौड़कर लग जाती है। नियम है हमारे शरीर का कि जो शरीर का हिस्सा हम कमजोर कर लेते हैं, पूरा शरीर उसे सहारा देने लगता है; देना चाहिये। कमजोर को सहारा—मिलना ही चाहिये।

शरीर की जिस इन्द्रिय से आप लड़ेंगे, उसे कमजोर करेंगे तो पूरा शरीर उस इन्द्रिय को सहायता देगा और वही इन्द्रिय आपके भीतर सब कुछ हो जायेगी। यानी ऐसा हो जायेगा कि अगर आप काम-वासना से लड़ें तो आपके भीतर काम-वासना की इन्द्रिय ही आपका व्यक्तित्व हो जायेगी, सब कुछ वही हो जायेगी। अगर आप लोभ से लड़ें, क्रोध से लड़ें, ईर्ष्या से लड़ें——जिससे भी आप लड़ें तो उसका जो केंद्र आपके भीतर है, वही सबसे ज्यादा संवेदनशील (सेंसिटिव) हो जायेगा और आप उसी में घिरे हुये जियेंगे।

मैंने अभी एक पुस्तक पढ़ी है; एक बहुत बड़े वैज्ञानिक थियोडर रैक की। अपने संस्मरण में उसने एक बहुत अद्भुत बात लिखी है। उसने लिखा है कि योरोप में एक ऐसा छोटा द्वीप है, जिस पर अब तक किसी स्त्री ने पैर नहीं रखा, क्योंकि वह कैथोलिक मोनेस्ट्री है; सिर्फ कैथोलिक ईसाइयों के साधु उस द्वीप पर रहते हैं। छोटा-सा दस-बारह मील के घेरे का द्वीप है। पिछले पाँच सौ वर्षों में एक भी स्त्री उसके ऊपर पैर नहीं रख सकी है, क्योंकि स्त्री को उस द्वीप पर जाने की मना ही है। और उस द्वीप पर जो पुरुष एक दफा उतर जाता है साधना के लिये, वह जिंदा हालत में वापस नहीं लौट सकता। पाँच सौ वर्षों से वहाँ शुद्ध पुरुषों का समाज है। लेकिन थिओडोर रैक ने लिखा है कि बड़ी अजीब बात दिखाई पड़ती है और वह यह कि उस द्वीप के जो भी निवासी हैं, जो भी साधु वहाँ तपश्चर्या कर रहे हैं, उनके स्वप्न जितने स्त्रियों से भरे हुये हैं, उतने पृथ्वी के किसी कोने में किसी के स्वप्न स्त्रियों से भरे नहीं हैं। और इससे भी बड़े मजे की बात यह लिखी है कि उन पुरुषों में से कुछ पुरुष स्त्रियों जैसे चलते हैं और स्त्रियों जैसे बोलते हैं। उसमें उसने कारण खोजा है कि जिंदगी पोलर (ध्रुवीय) है। अगर स्त्रियाँ बिलकुल न होंगी तो कुछ पुरुष स्त्रियों का एक्ट करने लगेंगे और कुछ पुरुष उन स्त्री रूपी पुरुषों के साथ प्रेम के एक्ट करने लगेंगे। होमो सेक्सुअल सोसाइटि वहाँ पैदा हो जायेगी। वहाँ पुरुष पुरुष के साथ ही स्त्री-पुरुष जैसा व्यवहार करने लगेंगे।

अब हम समझ सकते हैं कि उस द्वीप की तकलीफ क्या है। उन्होंने एक इन्द्रिय को मार डालने की कोशिश की; परिणाम जो होना था, वही हुआ : इन्द्रिय नहीं मरा, सिर्फ विषाक्त हो गई, विकृत हो गई, कुरूप हो गई। उसने उपद्रव के और दूसरे रास्ते खोज लिये।

मनुष्य जाति की अधिकतम विकृति और 'परव्हर्शन' इन्द्रियों को काट डालने के खयाल से पैदा हुआ। लेकिन कृष्ण का वह मतलब नहीं है। कृष्ण का मतलब है——रूपांतरण; और रूपांतरण ही वस्तुतः इन्द्रियों की मृत्यु है; यह रूपांतरण ही इन्द्रियों को वश में करना है।

इन्द्रियों को मार डालें तो फिर उन्हें वश में करने की कोई जरूरत नहीं है। अगर बाप अपने बेटे को मार डाले और फिर कहे कि बेटा मेरे वश में है, ओबिडिएँन्ट (आज्ञाकारी) है, तो बेकार की बात कर रहा है। मरा हुआ बेटा तो ओबिडिएँन्ट होता ही है। और अकसर ऐसा होता है कि ओबिडिएँन्ट बेटे मरे हुये बेटे होते हैं। क्योंकि उनको ओबिडिएँन्ट बनाने में करीब-करीब मार डाला जाता है। लेकिन मरे हुये बेटे के आज्ञाकारी होने का क्या अर्थ? बेटा होना चाहिये जिंदा——जिंदा से जिंदा—और फिर आज्ञाकारी, तब पिता का कुछ अर्थ है अन्यथा कोई अर्थ नहीं। मरे-मराये विद्यार्थी को बिठा कर गुरु अगर अकड़ता रहे और मरे हुये विद्यार्थी घिराव न करें, तो ठीक है। विद्यार्थी जिन्दा होने चाहिये——पूरे जिंदा, पूरे जीवंत और फिर वे गुरु के चरणों पर सिर रख देते हों, तो कुछ अर्थ है।

इन्द्रियाँ मार डाली जायँ, काट डाली जायँ और आपके वश में हो जायँ, तो होती नहीं हैं, सिर्फ भ्रम पैदा होता है। मरी हुई इन्द्रियों को क्या वश में करना! नहीं, इन्द्रियाँ वश में हों, स्वस्थ हों, जीवंत हों, लेकिन मालिक न हों, आपको न चलाती हों, आप उन्हें चलाते हों, वे आपको आज्ञा न देती हों, आपकी आज्ञा उन तक जाती हो; वे आपकी छाया की तरह चलती हों। साक्षी व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपने आप छाया की भाँति उसके पीछे चलने लगती हैं।

जो अपने को कर्ता समझता है, वही इन्द्रियों के वश में होता है। जो अपने को मात्र साक्षी समझता है, वह इन्द्रियों के वश से बाहर हो जाता है। जो इन्द्रियों के वश में होता है, उसके वश में इन्द्रियाँ कभी नहीं होतीं और जो इन्द्रियों के वश से बाहर हो जाता है, सारी इन्द्रियाँ समर्पण कर देती हैं उसके चरणों में और उसके वश में हो जाती हैं। इन्द्रियों के समर्पण का सूत्र है——साक्षित्व। भीतर हम दो तरह के भाव रख सकते हैं : या भोक्ता का——कर्ता का, या साक्षी का। मैं एक छोटी सी कहानी आप से कहूँ : फिर दूसरा श्लोक——दूसरा सूत्र हम लेंगे।

मैंने सुना है : कृष्ण के गाँव के बाहर एक तपस्वी का आगमन हुआ। कृष्ण के परिवार की महिलाओं ने कहा कि 'हम जायँ और तपस्वी को भोजन पहुँचा दें।' लेकिन भारी वर्षा हुई थी और नदी तीव्र पूर पर थी और तपस्वी उस पार था। उन स्त्रियों ने कहा, 'हम जायँ तो जरूर, लेकिन नाव लगती नहीं, नदी कैसे पार करेंगे? खतरनाक है पूर, और तपस्वी है भूखा। और उस पार वृक्ष के नीचे बैठा है। भोजन पहुँचाना जरूरी है। क्या कोई सूत्र, कोई तरकीब है?' कृष्ण ने कहा, 'नदी से कहना कि अगर तपस्वी जीवन भर का उपवासा हो, तो नदी राह दे दे।' भरोसा तो न हुआ, पर कृष्ण कहते थे, तो उन्होंने कहा कि एक कोशिश कर लेनी चाहिये। जाकर नदी से कहा कि 'नदी, राह दे दे, अगर उस पार का तपस्वी जीवन भर का उपवासा हो।' भरोसा तो न हुआ, लेकिन जब नदी ने राह दे दी, तो कोई उपाय न रहा! स्त्रियाँ पार हुईं। बहुत भोजन बनाकर ले गयी थीं। सोचती थीं कि एक व्यक्ति के लिये इतने भोजन की जरूरत भी

नहीं, लेकिन फिर भी कृष्ण के घर से भोजन आता हो तो थोड़ा ले जाना अशोभन था, बहुत ले गयी थीं, पाँच पचीस लोग भोजन कर सकें––इतना। लेकिन चकित हुई, भरोसा तो न आया। वह एक तपस्वी ही पूरा भोजन कर गया।

वे फिर लौटीं। नदी ने तो रास्ता बंद कर दिया था, नदी तो फिर बही चली जाती थी। तब तो वे बहुत घबड़ायीं, क्योंकि अब वह सूत्र तो काम करेगा नहीं कि 'तपस्वी जीवन भर का उपवासा हो तो...।' लौट कर तपस्वी के पास आयीं और कहा कि 'अब आप ही कुछ बतायें। हम तो बहुत मुश्किल में पड़ गयीं। हम तो नदी को यही कहकर आयी थीं कि––तपस्वी जीवन भर का उपवासा हो तो मार्ग दे दे––और नदी ने मार्ग दे दिया था।' तपस्वी ने कहा, 'वही सूत्र फिर कह देना।' उन्होंने कहा, 'भरोसा पहले भी नहीं आया था, अब कैसे आयेगा ?' तपस्वी ने कहा, 'जाओ नदी से कहना कि तपस्वी जीवन भर का उपवासा हो तो राह दे दे।'

अब तो भरोसा करना एकदम मुश्किल था। लेकिन कोई रास्ता नहीं था, नदी के पार जाना था। जाकर नदी से कहा, 'नदी राह दे दे, अगर तपस्वी जीवन भर का उपवासा हो।' और नदी ने राह दे दी ! भरोसा तो न आया। नदी पार की और कृष्ण से जाकर कहा, 'बहुत मुश्किल है ! पहले तो हम तुमसे ही आकर पूछने वाली थीं कि अद्‌भुत मंत्र दिया ! काम कैसे किया ? लेकिन छोड़ो उस बात को। लौटने में बहुत बड़ा चमत्कार हुआ। पूरा भोजन कर गया तुम्हारा तपस्वी और नदी ने फिर भी राह दे दी है और हमने यही कहा कि––उपवासा हो जीवन भर का...।' कृष्ण ने कहा, 'तपस्वी जीवन भर का उपवासा ही है, तुम्हारे भोजन करने से कोई बहुत बड़ा फर्क नहीं पड़ता।' पर वे सब पूछने लगीं, 'राज क्या है ? अब हमें नदी में उतनी उत्सुकता नहीं है। अब हमारी उत्सुकता तपस्वी में है। राज क्या है ? आप क्या कहते हैं ?' तो कृष्ण ने कहा, 'जब वह भोजन कर रहा था, तब भी वह जानता था कि मैं भोजन नहीं कर रहा हूँ; वह साक्षी ही था। भोजन डाला जा रहा था; वह पीछे खड़ा देख रहा था। जब वह भूखा था, तब भी साक्षी था; भोजन लिया गया, तब भी वह साक्षी था। उसका साक्षी होने का स्वर जीवन भर से सधा है। उसको अब तक डगमगाया नहीं जा सका। उसने आज तक कुछ भी नहीं किया है; उसने आज तक कुछ भी नहीं भोगा है; जो भी हुआ है वह देखता रहा है। वह द्रष्टा ही है। और जो व्यक्ति साक्षी के भाव को उपलब्ध हो जाता है, इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं।'

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

(इस शरीर से तो) इन्द्रियों को परे (श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म) कहते हैं (और) इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से (भी) अत्यन्त परे है, वह आत्मा है।

कृष्ण कहते हैं अर्जुन से कि 'यदि तू ऐसा सोचता है कि तेरी शक्ति के बाहर है इन्द्रियों को वश में करना तो तू गलत सोचता है, तू भूल भरी बात सोचता है। इसे थोड़ा समझ लें। हम सब भी ऐसा ही सोचते हैं कि इन्द्रियों को वश में करना कठिन है। लेकिन यह ऐसी ही नासमझी की बात है कि कोई कहे कि अपने हाथ को वश में करना कठिन है। हाथ मेरा है, मैं हाथ से बड़ा हूँ। हाथ अंग है, मैं अंगी हूँ। हाथ अंश है, मैं अंशी हूँ। हाथ एक 'पार्ट' है, मैं 'होल' हूँ। कोई भी हिस्सा अपने पूरे से बड़ा नहीं होता, कोई 'पार्ट' 'होल' से बड़ा नहीं होता। मेरी आँख मेरे वश में न हो, लेकिन मैं आँख से ज्यादा हूँ। आँख मेरे बिना नहीं हो सकती, लेकिन मैं आँख के बिना हो सकता हूँ। इस हाथ को काट दें तो हाथ मेरे बिना नहीं हो सकता––मर जायेगा, लेकिन मैं हाथ के बिना हो सकता हूँ। मैं हाथ से ज्यादा हूँ। मैं सारी इन्द्रियों से ज्यादा हूँ। मैं सारी इन्द्रियों के जोड़ से ज्यादा हूँ।

कृष्ण कहते हैं कि यह तेरी भूल है, अगर तू सोचता है, कि कमजोर हूँ और इन्द्रियों पर वश नहीं पा सकूँगा––तो तू गलत सोचता है। इन्द्रियों पर तेरा वश है ही, लेकिन तूने कभी घोषणा नहीं की, तूने कभी स्मरण नहीं किया, तूने कभी समझा नहीं है। मालिक तू है ही, लेकिन तुझे पता नहीं है। तू मालिक है और अपने हाथ से तू नौकर बना हुआ है। दूसरी बात वे यह कहते हैं कि इन्द्रियों के पार मन है, मन के पार बुद्धि है और बुद्धि के पार वह है, जिसे हम परमात्मा कहें। और ध्यान रहे, जो जितना पार होता है, वह पहले से ज्यादा शक्तिशाली हो जाता है। एक उदाहरण से समझें :

एक वृक्ष है : उसके पत्ते हमें दिखाई पड़ रहे हैं। पत्तों के पार शाखाएँ हैं। शाखाएँ पत्तों से ज्यादा शक्तिशाली हैं। आप पत्तों को काट दें, नये पत्ते शाखाओं में तत्काल आ जायेंगे। आप शाखा को काटें तो नयी शाखा को आने में बहुत मुश्किल हो जायेगी। शाखा पत्तों से ज्यादा शक्तिशाली; वह पत्तों के पार है, पत्तों के पूर्व है, पत्तों से पहले है। पत्तों के प्राण शाखा में हैं, शाखा के प्राण पत्तों में नहीं हैं। शाखा को काटते ही पत्ते सब मर जायेंगे; पत्तों को काटने से शाखा नहीं मरती। पत्ते शाखा के बिना नहीं हो सकते हैं, शाखा पत्तों के बिना हो सकती है। फिर शाखा के और नीचे चलें तो पींड है वृक्ष की। पींड शाखाओं के पार है, पींड शाखाओं के बिना हो सकती है, लेकिन शाखाएँ बिना पींड के नहीं हो सकतीं। जड़ें पींड के भी पार हैं। पींड को भी काट दें तो नये अंकुर आ जायेंगे, लेकिन जड़ों के काट दें तो फिर नये अंकुर नहीं आयेंगे। पींड के बिना जड़ें हो सकती हैं, जड़ों के बिना पींड नहीं हो सकता। जो जितना पार है, वह उतना शक्तिशाली है। जो जितना आगे है, वह उतना कमजोर है। जो जितना पीछे है, वह उतना शक्तिशाली है। असल में शक्तिशाली को पीछे रखना पड़ता है, क्योंकि वह सम्हालता है।

इसलिये कृष्ण कहते हैं, 'इन्द्रियों के पीछे है मन। मन शक्तिशाली है, अर्जुन, इन्द्रियों से बहुत ज्यादा।' इसलिये अगर मन चाहे तो किसी भी इन्द्रिय को तत्काल रोक देता है और जब मन सक्रिय होता है तो तत्काल सब इन्द्रियाँ रुक जाती हैं। आपके घर में आग लगी है, आप रास्ते से भागे चले जा रहे हैं। रास्ते पर कोई मिलता है; कहता है, 'नमस्कार!' आपको दिखाई नहीं पड़ता है। आँखें पूरी ठीक हैं। वह नमस्कार करता है—कान दुरुस्त हैं—लेकिन सुनाई नहीं पड़ता है। आप भागे जा रहे हैं—मन कहीं और है, मन कहीं और अटका है। मकान में आग लगी है। अब यह वक्त नमस्कार करने का नहीं है और न लोगों को रास्ते पर देखने का है। कल वह आदमी मिलता है कहता है, 'रास्ते पर मिले थे आप। बड़े पागल जैसे मालूम पड़ते थे। देखा, फिर भी आपने देखा नहीं; सुना, फिर भी आपने जवाब नहीं दिया! बात क्या है? नमस्कार किया, आप कुछ बोले नहीं!' आप कहते हैं, 'न मैंने सुना, न मैंने देखा।' मकान में आग लगी थी, मन वहाँ था। अगर मन हट जाय तो इन्द्रियाँ तत्काल बेकार हो जाती हैं। मन शक्तिशाली है। जहाँ मन है, इन्द्रियाँ वहीं चली जाती हैं। जहाँ इन्द्रियाँ हैं, वहाँ मन का जाना जरूरी नहीं है। आप ले जाते हैं, इसलिये जाता है। अगर आपका मन कहीं ले जाय तो इन्द्रियों को वहाँ जाना ही पड़ेगा; वे कमजोर हैं, उनकी शक्ति मन से आती है; मन की शक्ति इन्द्रियों से नहीं आती।

फिर कृष्ण कहते हैं, 'मन के पार बुद्धि है।' इसलिये बुद्धि जहाँ हो, मन को वहाँ जाना पड़ता है। बुद्धि जहाँ न हो, वहाँ मन को जाने की कोई जरूरत नहीं रहती। लेकिन हमारी हालत उलटी है। मन जहाँ जाता है, वहीं हम बुद्धि को ले जाते हैं। मन कहता है, 'यह करो', तो हम बुद्धि से कहते हैं कि अब इसके लिये दलील दो कि क्यों और कैसे करें। मन बताता है करने के लिये और बुद्धि सिर्फ जस्टिफिकेशन खोजती है। बुद्धि से हम पूछते हैं: चोरी करना है, तुम बताओ तर्क क्या है? तो बुद्धि कहती है कि सब धन चोरी का है; जिनके पास है, उन्होंने चोरी की है। तुम भी चोरी करो, हर्ज क्या है? हम बुद्धि से मन का समर्थन खोजते हैं।

कृष्ण कहते हैं, 'बुद्धि मन के पार है ही, क्योंकि जहाँ मन भी नहीं रह जाता, वहाँ भी बुद्धि रहती है।' रात आप जब गहरी प्रगाढ़ निद्रा में खो जाते हैं, तब स्वप्न नहीं रह जाता, विचार नहीं रह जाता, मन नहीं रह जाता। मन तो विचारों का जोड़ है। लेकिन सुबह उठकर आप कहते हैं कि 'रात बड़ा आनन्द रहा, रात बड़ी गहरी नींद आई। न स्वप्न आये, न विचार उठे।' किसको पता चला? किसने जाना कि आनन्द था? वह बुद्धि ने जाना।

बुद्धि मन के भी पार है। जो समर्थ हैं, वे बुद्धि से मन को चलाते हैं, मन से इन्द्रियों को चलाते हैं। जो अपने सामर्थ्य को नहीं पहचानते, जो अपने हाथ से असमर्थ बने हैं।

उनकी इन्द्रियाँ उनके मन को चलाती हैं, उनका मन उनकी बुद्धि को चलाता है। वे शीर्षासन में जीते हैं; उलटे खड़े रहते हैं। फिर उनको अगर सारी दुनिया उलटी दिखाई पड़ती है, तो उसमें किसी का कोई कसूर नहीं।

मैंने सुना है...पता नहीं कहाँ तक सच बात है, लेकिन सब सच हो सकता है...मैंने सुना है कि पंडित नेहरू एक दिन शीर्षासन कर रहे थे अपने बगीचे में और एक गधा उनके बँगले में घुस गया। एक तो राजनीतिज्ञों के बँगलों के आस-पास गधों के अतिरिक्त और कोई जाता नहीं; अगर आदमी जाता तो संतरी रोक लेता, गधे को क्या रोकना! लेकिन वह साधारण गधा नहीं था; वह बोलने वाला गधा था! कई गधे बोलते हैं और इसमें कोई कठिनाई भी नहीं है। वह गधा आकर पंडितजी के पास खड़ा हो गया। वे कर रहे थे शीर्षासन। उनको गधा उलटा दिखाई पड़ा। वे बड़े हैरान हुये। उन्होंने कहा, 'गधा, तू उलटा क्यों है?' उस गधे ने कहा, 'पंडितजी! मैं उलटा नहीं हूँ। आप शीर्षासन कर रहे हैं।' तब तो वे घबड़ा गये। उन्होंने कहा, 'तू बोलता भी है!' उस गधे ने कहा, 'मैं यही डर रहा था कि कहीं बोलने की वजह से आप मुझे मिलने से इनकार न कर दें।' नेहरूजी ने कहा, 'बेफिक्र रहो। मेरे पास इतने गधे आते हैं बोलते हुये कि मैं सुनते-सुनते आदी हो गया हूँ। तू बेफिक्री से बोल।' पर नेहरू को दिखाई पड़ा कि गधा उलटा है!

हम सबको भी जगत् उलटा दिखाई पड़ता है। हम एक बहुत गहरे शीर्षासन में हैं। वह गहरा शीर्षासन शरीर के शीर्षासन से भी गहरा है, क्योंकि उसने सब उलटा कर दिया है। इन्द्रियों की मानकर मन चल रहा है, मन की मान कर बुद्धि चल रही है और बुद्धि कोशिश करती है कि परमात्मा भी हमारी मान कर चले। पत्तों की मान कर शाखाएँ चल रही हैं, शाखाओं की मानकर पींड चल रहा है। पींड कोशिश कर रहा है कि जड़ें भी हमारी मान कर चलें। और अगर जड़ें नहीं मानतीं तो हम कहते हैं, होंगी ही नहीं। अगर परमात्मा हमारी नहीं मानता तो हम कहते हैं: वह है ही नहीं।

एक आदमी मेरे पास आया; उसने कहा, 'मैं तो परमात्मा को मानने लगा।' 'क्या हुआ', मैंने पूछा। उसने कहा कि 'मेरे लड़के की नौकरी नहीं लगती थी, मैंने परमात्मा को सात दिन का अल्टिमेटम दिया। सात दिन में नौकरी लग जाय तो ठीक अन्यथा तू नहीं है। और नौकरी लग गयी! और अब मैं परमात्मा को मानने लगा।' मैंने कहा 'तू परमात्मा को मानने लगा या कि परमात्मा तेरे को मानने लगा' (उसको भी मनाने की कोशिश चल रही है।) मैंने कहा कि 'कल अगर लड़के की नौकरी छूट जाय तो?' उसने कहा, 'फिर मुझे भरोसा नहीं रहेगा।' हम उलटे चल रहे हैं जीवन में।

कृष्ण कहते हैं, 'इन्द्रियाँ मानें मन की, मन माने बुद्धि की। बुद्धि परमात्मा के लिये समर्पित हो—बुद्धि माने परमात्मा की।' तब व्यक्तित्व सीधा, सरल, ऋजु—और तब

व्यक्तित्व धार्मिक और आध्यात्मिक हो पाता है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जाहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। ४३ ।।

इस प्रकार बुद्धि से परे अपने आत्मा को जानकर (और) बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो, (अपनी शक्ति को समझकर इस) दुर्जय कामरूप शत्रु को मार।

अंतिम श्लोक है। कृष्ण कहते हैं, 'अपनी शक्ति को पहचानकर और अपनी शक्ति परमात्मा की ही शक्ति है—और अपनी ऊर्जा परमात्मा की ही ऊर्जा है, ऐसा समझकर इन्द्रियों को वश में कर मन से, मन को वश में ला बुद्धि से और बुद्धि की बागडोर दे दे परमात्मा के हाथ में ; और फिर इस दुर्जय काम के तू बाहर हो जायेगा, इस दुर्जय वासना के तू बाहर हो जायेगा।'

इसमें दो तीन बातें कीमत की है। एक तो यह कि क्रमशः जो जितना गहरा है, उतना ही सत्यतर है और जो जितना गहरा है, उतना ही शक्तिवान है और जो जितना गहरा है, उतना ही भरोसे योग्य है—ट्रस्टवर्दी है। जो जितना ऊपर है, उतना भरोसे योग्य है। लहरें भरोसे योग्य नहीं हैं, सागर की गहराई में भरोसा है। ऊपर जो है, वह सिर्फ आवरण है; गहरे में जो है, वह आत्मा है। इसलिए तू ऊपर को गहरे पर मत आरोपित कर, गहरे को ही ऊपर को संचालित करने दे। और एक-एक कदम वे पीछे हटने की बात करते हैं। कैसे ? पहले इन्द्रियों को मन से संचालित करें।

साधारणतः इन्द्रियाँ आदत के अनुसार चलती हैं, मन के अनुसार नहीं, क्योंकि मन के अनुसार हमने उन्हें कभी चलाया नहीं है। इन्द्रियाँ आदत के अनुसार चलती हैं। आपका समय हुआ, हाथ खीसे में जायेगा, सिगरेट का पैकेट निकाल लेगा, सिगरेट निकाल लेगा। अभी आपको कुछ पता नहीं कि क्या हो रहा है। हाथ सब कर रहा है। सब कुछ स्वचालित (ऑटोमैटिक) हो सकता है; आपको बिलकुल खयाल ही न हो। आप अपनी धुन में लगे हों। मन कुछ और कर रहा है, मन कुछ और सोच रहा है। हाथ सिगरेट निकाल लेगा, मुँह में दबा, माचिस जला देगा, आग लगा देगा। धुआँ बाहर निकलने लगेगा और मन अपना काम जारी रखेगा। मन को इसका पता ही नहीं है। हाँ, मन को तो पता तब चले, जब खीसे में हाथ डालें और पैकेट न हो। तब मन को पता चलेः क्या बात है, पैकेट कहाँ है ? अन्यथा मन की कोई जरूरत ही नहीं पड़ती। इन्द्रियों के हम इतने वशीभूत होकर जीते हैं कि इन्द्रियाँ जब अड़चन में होती हैं, तभी मन की जरूरत होती है अन्यथा इन्द्रियाँ मन को कहती हैं कि तुम आराम करो, तुमसे कोई लेना-देना नहीं है, हम अपना काम कर लेते हैं। हमें पता ही नहीं चलता कि इन्द्रियों ने सारा काम अपने हाथ में ले लिया है। ले

लिया है कहना ठीक नहीं, हमने दे दिया है।

हमने धीरे-धीरे उन्हें ऑटोनॉमस सत्ता (स्वचालित प्रणाली) दे दी है; कह दिया है कि तुम सम्हालो यह काम। वह सम्हाल लेती है। इस स्थिति में मन को बीच में लाना पड़ेगा। कभी आता है मन बीच में, लेकिन तब आता है, जब इन्द्रियाँ अड़चन में होती हैं। अर्थात् इन्द्रियों को जब सेवा की जरूरत होती है, तब मन बीच में आता है। मालकियत के लिए हम कभी मन को बीच में नहीं बुलाते। जब सेवा की जरूरत होती है—पैकेट नहीं है सिगरेट का—तो इन्द्रियाँ कहती हैं : जाओ बाजार से खरीद के लाओ। इन्द्रियाँ कहती हैं तो वह बाजार जाता है, वह सिगरेट का पैकेट खरीद कर लाता है। सिगरेट है तो इन्द्रियाँ मन से कहती हैं कि तुम अपना काम करो, क्यों बीच में दखलबाजी करते हो, हम अपना काम कर रही हैं।

हमने सब अपनी इन्द्रियों को सौंप दिया है, वे हमें चलाती रहती हैं। मन को बीच में तब लाया जायेगा, जब हम मन को सिर्फ सेवा के लिए न लाते हों, मालकियत के लिए भी लाते हों। अगली बार जब खीसे में हाथ जाय तो मन को बीच में लायें; हाथ से मत निकालें सिगरेट, मन से निकालें। मनःपूर्वक निकालें। मनःपूर्वक सिगरेट निकालने का मतलब है, जानते हुए निकालें कि अब मैं सिगरेट पीने जा रहा हूँ, सिगरेट निकाल रहा हूँ। जानते हुए मुँह में लगाएँ कि अब मैं मुँह में सिगरेट लगा रहा हूँ। जानते हुए आग जलाएँ और जानते हुए कि अब मैं धुआँ भीतर ले जाता और बाहर निकालता हूँ और मैं बड़ा बुद्धिमान आदमी हूँ ! परमात्मा है या नहीं, इसका विचार करता। गीता का क्या अर्थ है, इसका हिसाब लगाता। और अब मैं धुआँ बाहर और भीतर करने का काम कर रहा हूँ। यह 'ईडियॉटिक, स्टुपिड' काम है कि एक आदमी धुआँ बाहर-भीतर करे। इससे 'स्टुपिड' और कोई काम हो सकता है ! अब मैं यह कर रहा हूँ, मैं 'स्टुपिड' आदमी हूँ, ऐसा समझकर करें। बुद्धिमान मत समझें अपने को। हालाँकि हालत उलटी है। सिगरेट पीने वाले जब सिगरेट नहीं पीते तो उतने अकड़े हुए नहीं मालूम पड़ते, जब पीते हैं तब वे ज्यादा अकड़ जाते हैं। लगता है कि बहुत बुद्धिमानी का काम करता हूँ। कोई ऐसा काम कर रहा हूँ प्रतिभा का, जिसका हिसाब लगाना मुश्किल है।

जरूर कहीं भूल हो रही है। थोड़ा एनालाइज करें, विश्लेषण करें कि क्या कर रहे हैं ? धुआँ बाहर-भीतर कर रहे हैं ! यह मशीन भी कर सकती है। इसमें बुद्धिमानी की कहाँ जरूरत है ? और जानते हुए कर रहे हैं कि यह धुआँ क्या करता है ! भलीभाँति जानते हुए कर रहे हैं कि यह क्या कर रहे हैं ? अगर एक आदमी अपने कमरे की कुर्सी इधर से उठाकर उधर रखे, उधर से उठाकर इधर रखे तो आप कहेंगे पागल है।—क्यों ? धुआँ इधर से उधर करना पागलपन नहीं है क्या ? कुर्सी इधर से

उधर करना पागलपन है; तो धुएँ ने ऐसा कौन-सा पुण्य कर्म किया है और कुर्सी का ऐसा क्या पाप है ! नहीं, इसे मनःपूर्वक करें, और करना मुश्किल हो जायेगा ।

जो भी इन्द्रियाँ करवाती हों, उसे पूरे मनःपूर्वक--विथ फुल अवेअरनेस--पूरे होशपूर्वक करें कि यह मैं कर रहा हूँ, और जानते हुए करें कि मैं क्या कर रहा हूँ, और आप पायेंगे कि इन्द्रियों की शक्ति मन से कम होती चली जायेगी और मन की शक्ति इन्द्रियों पर बढ़ती चली जायेगी। फिर ऐसा ही मन के साथ बुद्धि के द्वारा करें। मन कुछ भी करता रहा है। आप करने देते हैं। कभी बुद्धि को बीच में नहीं लाते, जब तक कि मन उलझ न जाय। आप करते रहते हैं मन से सब कुछ।

एक आदमी बैठा हुआ है कुर्सी पर। न मालूम क्या-क्या सोच रहा है कि इस बार अब मध्यावधि चुनाव में खड़े हो गये हैं, इलेक्शन जीत ही गये। अभी मध्यावधि हुआ नहीं, लेकिन वह जीत गया। अब वह देख रहा है कि उसका जुलूस निकल रहा है, उसका प्रोसेशन निकल रहा है। अब यह सब मन कर रहा है और बुद्धि कहीं नहीं आयेगी इसके बीच में; बुद्धि को कोई मतलब ही नहीं है; मन को करने देते हैं आप।

बुद्धि को हम तभी बीच में लाते हैं। जब मन उलझ जाता है। उलझ जाता है का मतलब--आप जब कोई ऐसी चीज पाते हैं जो मन हल नहीं कर पाता, कोई समस्या, 'प्राब्लम' खड़ी हो जाती हो, जो मन के बाहर हो : जैसे गाड़ी चलाये जा रहे हैं, अपनी स्टीअरिंग हाथ में लिये हैं, सिगरेट मुँह में दबी है; चले जा रहे हैं कार चलाते हुए और मन इलेक्शन जीत रहा है। यह सब चल रहा है। फिर एकदम 'एक्सिडेंट' होने की हालत आ जाती है, तो मन बंद हो जाता है और बुद्धि आती है। कभी आपने खयाल किया कि एकदम से जब ब्रेक लगता है, तो मन एकदम झटके से बंद हो जाता है। साँस भी ठहर जाती है, विचार भी ठहर जाता है। तत्काल बुद्धि आ जाती है। उसकी जरूरत पड़ी; अब यह मन के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता। खतरनाक मामला है, तो बुद्धि बीच में आ जाती है। तत्काल बुद्धि कुछ करती है।

बुद्धि को आप तभी बुलाते हैं, जब उसकी सेवा की जरूरत होती है। अन्यथा मन अपनी करता रहता है। नहीं, बुद्धि को बीच में लायें--जब मन चुनाव जीतने लगे, जब प्रोसेशन निकलने लगे, जरा बुद्धि को कहें : 'आओ, जरा देखो कि यह मन क्या कर रहा है ! यह क्या मैं कर रहा हूँ !' तो आप के कितने सपने न बिखर जायँ और आपकी मन की कितनी कामनाएँ न बिखर जायँ, और मन के कितने व्यर्थ के जाल न टूट जायँ।

पर बुद्धि बीच में आये तो मन एकदम डर जाता है। बुद्धि बीच में आये तो मन की हालत वैसी हो जाती है, जैसा कि शिक्षक कमरे में आता है तो बच्चों की हो जाती है। वे जल्दी ही अपनी जगह ठीक-ठाक बैठ जाते हैं। सब काम ठीक हो गया, कोई

दूसरे की जगह पर नहीं है। लेकिन बुद्धि को हम बीच में आने नहीं देते। हमारे मन की हालत उलटी हो गयी है। पुराने जमाने में तो ऐसा होता था कि शिक्षक अकसर उपद्रवी लड़कों को क्लास के बाहर कर देता था। अब आगे तो ऐसा होगा कि लड़के अकसर उपद्रवी शिक्षकों को क्लास के बाहर कर देंगे--कि आप बहार रहिये, हम अपने भीतर शांति से हैं। तो मन जो है वह शिक्षक को, बुद्धि को बाहर किये हुए जीता है, और मन अपनी करता रहता है। वह जो नासमझियाँ कर सकता है, करता है; क्योंकि, मन के पास कोई विवेक नहीं है। मन 'ड्रीमिंग फैकल्टी' है, मन स्वप्नवान है। मन सिर्फ सपने देख सकता, कल्पना कर सकता और स्मृतियाँ कर सकता है। मन सोच नहीं सकता। मन के पास विचार की शक्ति नहीं है। विचार की शक्ति बुद्धि के पास है।

बुद्धि को बीच में लायें और मन के कामों के लिए बुद्धि से कहें कि जागरूक होकर मन को काम करने दे। मन जो भी करे, बुद्धि को सदा खड़ा रखें और कहें कि 'देख, मन क्या कर रहा है।' और तब मन उसी तरह दीन हो जाता है, जैसे इन्द्रियाँ मन के आने से दीन हो जाती हैं। बुद्धि के आने से मन दीन हो जाता है।

और यह जो बुद्धि है, इसको भी सब कुछ मत सौंप दें, क्योंकि यह भी परम नहीं है, परम तो इसके पार है--जहाँ से यह बुद्धि भी आती है। तो यह भी हो सकता है, एक आदमी बुद्धि से मन को वश में कर ले, मन से इन्द्रियों को वश कर लें। लेकिन मन बुद्धि के वश में हो जाय, तो बुद्धि अहंकार से भर जायेगी; बुद्धि इगोइस्ट हो जायेगी। बुद्धि बहुत इगोइस्टिक है, बुद्धि बहुत अहंकारपूर्ण है। वह कहेगी, 'मैं सब जानती हूँ, सब मुझे पता है। मैंने मन को जीता, इन्द्रियों को जीता, अब मैं बिलकुल ही अपना सम्राट हो गयी हूँ।' तो यहाँ भी अटकाव हो जायेगा। बुद्धि सोच सकती है, विचार सकती है। लेकिन, जीवन का सत्य अगम है, बुद्धि की पकड़ के बाहर है। बुद्धि कितना ही सोचे, सोच-सोच कर कितना ही पाये, फिर भी जीवन एक रहस्य है, एक मिस्ट्री है और उसके द्वार बुद्धि से नहीं खुलते।

हाँ, बुद्धि भी जब उलझती है, तब परमात्मा को याद करती है। लेकिन जब तक सुलझी रहती है, तब तक कभी याद नहीं करती। धंधा बिलकुल ठीक चल रहा है, दुकान ठीक चल रही है, पैसा ठीक आ रहा है, लाभ ठीक हो रहा है, गणित ठीक हल हो रहा है, विज्ञान की खोज ठीक चल रही है, तो परमात्मा की कोई याद नहीं आती। आपने खयाल किया कि जब दुःख में पड़ती है बुद्धि, तब परमात्मा की याद आती है। जब बुद्धि उलझती है, जब लगता है कि अपने से अब क्या होगा। पत्नी मर रही है और डॉक्टर कहते हैं कि 'बस, आगे हम कुछ नहीं कर सकते हैं। जो हम कर सकते हैं, वह हम कर चुके। जो हम कर सकते हैं, वह हम कर रहे हैं। लेकिन, अब हमारे हाथ में

कुछ भी नहीं है', तब एकदम हाथ जुड़ जाते हैं कि हे भगवान् ! तू कहाँ है ? लेकिन अभी तक कहाँ था भगवान् ? यह डॉक्टर की बुद्धि थक गयी, अपनी बुद्धि थक आयी; अब भगवान् की याद आती है !

नहीं, इतने से नहीं चलेगा। जब बुद्धि हारती है, तब समर्पण का कोई मजा नहीं। हारे हुए समर्पण का कोई अर्थ है ? जब बुद्धि जीतती है और जब सब चरणों पर लोटता है और जब लगता है। सब सफल हो रहा है, सब ठीक हो रहा है, बिलकुल सब सही है, तब जो आदमी परमात्मा को स्मरण करता है, उसकी बुद्धि परमात्मा के लिए समर्पित होकर परमात्मा के वश में हो जाती है।

'इन्द्रियों को दे मन के हाथ में, मन को दे बुद्धि के हाथ में, बुद्धि को दे दे परम सत्ता के हाथ में।' और कृष्ण कहते हैं, 'हे कौन्तेय, हे अर्जुन, ऐसा जो अपने को संयमित कर लेता है, वह व्यक्ति दुर्जय कामना के पार हो जाता है अर्थात् वह आत्मा को उपलब्ध हो जाता है।'

मेरी बातों को इतनी शांति और प्रेम से सुना, इससे बहुत अनुगृहीत हूँ और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूँ, मेरे प्रणाम स्वीकार करें।
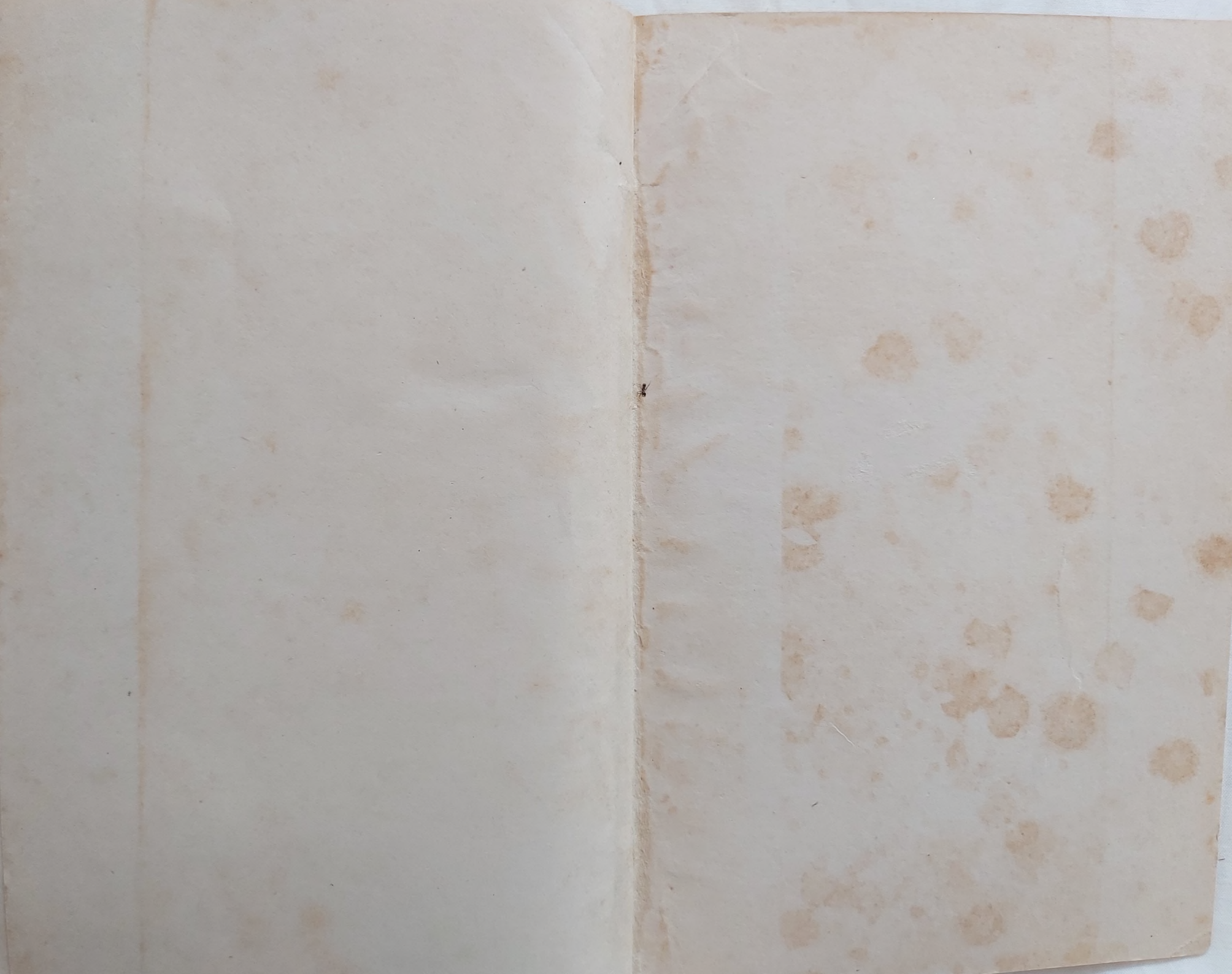
11.30. A M Dave's Oceanic
On Monday the